

॥ ३ अहंम् ॥

कलिकालसर्वेषां श्री हेमचन्द्राचार्य विनाशिता

स्वोपज्ञ वृत्ति सहिता

(हिन्दी अनुवाद—युक्ताच)

४



५

—: अनुवादक :—

पं. शोभाचन्द्र भारित 'न्यायालीला' ल्यापर

₹ 25 P 0 0

शूल्य प्रत्येक रुपये सिर्फ

₹ 25 P 0 0

₹ 25 P 0 0

प्रकाशकीय



प्रस्तुत पुस्तक जैन जगत् के प्रकाशक विद्वान् आचार्य श्री हेमचन्द्र की महामूर्त्य कृति है, अकृत्या असीव संक्षिप्त होने पर भी प्रकृत्या महतो महीयान् को उकिस को अरितार्थ करने वाली है। मिस्सन्डेह कुशल आचार्य ने अपनी कुशलताकी पराकाण्ठा प्रस्तुत कर दी है। प्रमाण-शास्त्र का यह अंड पन्थ माना जाता है, इसी लिये पाठ्यडौं परीक्षा बोर्ड की उच्चतम परीक्षा में यह निर्धारित है।

परीक्षाबोर्ड के संचालकों ने पाठ्यग्रन्थों के प्रकाशन की अवध्या बहुत यहाँ प्रारंभ कर दी थी, इससे प्रारंभिक ४ परीक्षाओंके परीक्षायियों के लिये पर्याप्त सुविधा प्राप्त हो गई। किन्तु बोर्ड की उच्च परीक्षाओं के लिये लिखारित ग्रन्थों का प्रकाशन बहुव्ययसाध्य होनेसे निजी प्रकाशन न हो सकने के कारण उन ग्रन्थों की बुलंभता से प्रोट परीक्षायियों बहुत ही कठिनाई का अनुभव कर रहे थे।

बोर्ड के सदृपदेष्टा महाराज श्री १००८ बालबहुवारी पंडितरत्न पूज्य श्री आनन्द-अधिकी महाराज सा. का चातुमास सन् १९६१ में आइकी जिला अहमदनगर में मृत्या था। उस चातुमासमें स्थानीय सेठजी दानवीर श्री केशरचन्दजी कचरबाजारी बोरा ने संघसेवा कार्य अन्तःकरण से लाभ किया था। दर्शनायियों की अच्छी उपस्थिति होती थी, सभी के स्वागत का सम्पूर्ण प्रबन्ध सेठजीने उदात्त भावनासे किया था।

इस चातुमास में कोई विशिष्ट कार्य होना चाहिये, ऐसा उत्साह कुछ विद्यारसिक महान्-आचार्यों के अन्तःकरण में प्रस्तुरित हुआ, पूज्य महाराज श्री के समक्ष यह शुभ भावना अवक्तु की गई, तब महाराज श्री ने पाठ्यडौं बोर्ड के प्रोट परीक्षायियों की कठिनाई को दूर करने की ओर इन ज्ञान प्रेमियों का ध्यान अकृष्ट किया। फलस्वरूप बोर्डसालकों से परामर्श करके 'उच्च परीक्षा पाठ्यपुस्तक प्रकाशन विभाग' इस नामसे बोर्ड के अन्दर एक महस्त्वपूर्ण उपयोगी विभाग नियत किया गया। इस विभाग के कुछ ही दिनों में दाताओं की उदासता से अच्छा सहयोग मिला और यहाँ प्रकाशन का निष्पत्र किया गया।

उपल विभाग की तरफ से सर्वप्रथम महामहोपाध्याय श्री यशोदिलयजी अ० की जैन लर्ण-भाषा (हिन्दी अनुवाद सहित) का प्रकाशन किया गया। यह अनुवाद कुमसिङ्ग विद्वान् अ०

शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने तैयार किया था और पं० इन्द्रचन्द्रजी शास्त्री बेहली ने परिशिष्ट रूप में कठिन स्थलों पर टिप्पण लिख कर उसे और सखलता प्रदान कर दी थी । उस प्रकाशन से छात्रों की अच्छी सुविधा देख कर पं० भारिल्लजी से ही प्रमाणमीमांसा के हिन्दी अनुवाद के लिये आग्रह किया गया । पंडितजीने कुछ ही दिनों में इस अनुवाद को भी तैयार कर दिया । जब छात्रों को यह मालूम हुआ कि प्रमाणमीमांसा हिन्दी-अनुवाद के साथ पाठ्डी से प्रकाशित हो रही है, तब लगभग ५० प्रतियों के लिए आईर पुस्तक पूर्ण होने से बहुत पहले ही प्रकाशन विभाग को प्राप्त हो गये । इस लिये हमारा जत्साह और बढ़ गया । अब तीसरे प्रकाशन के लिये पुस्तक का खयत शोध ही कर के हम धर्मासंबंध उसे भी अद्यतन प्रकाशित करने का प्रयास करेंगे । प्रकाशनविभाग इन कठिनतम् प्रन्थों के अध्ययन में सुविधा के लिये शास्त्री और आचार्य परीक्षा के पाठ्य प्रन्थों का सहायक ग्रन्थ दो जिल्दों में प्रकाशित करने का विचार कर रहा है ।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में जिन दाताओं का आर्थिक सहयोग उपयुक्त हुआ है, उनकी शुभ नामांकिति इस प्रकार है—

६२१) श्री केशरचन्द्रजी कचरदासजी बोरा	आश्वी
५०१) „ चन्द्रभट्टजी रूपचन्द्रजी डाकलिया	श्रीरामपुर
५०२) „ तिलोकचन्द्रजी खूपचन्द्रजी गुन्देचा	चाँदा
५०३) „ केशरचन्द्रजी गुलाबचन्द्रजी मुणोत	नेवासा
५००) „ कचरदासजी भोहनलालजी लोडा	अहमदनगर
५०५) „ चागचन्द्रजी शोभाचन्द्रजी दूधड	अमलनेंद्र
५०६) „ रूपचन्द्रजी माणकचन्द्रजी नाहर	राजनगर्जि
५००) „ भेरुलालजी दीपचन्द्रजी गांधी	लोनावला
३५२) „ फकीरचन्द्रजी बालारामजी गृगलिया	चिंचोडी-शिराल
२५१) „ कचरदासजी हिमलभलजी भलगढ	अहमदनगर
२०१) „ कुंदनभलजी लुकड़ की सुपुत्री सायरबाई	बेगलीर
२०६) „ कल्याणजी भाई कपूरचन्द्रजी शाह	बंडौर
२०१) „ सकल जैन थी संघ	आश्वी
१५१) „ असराज कालाभाई लाठिया	मूर्तजापुर
१२१) „ नेमीचन्द्रजी झज्जहरलालजी लोडा	सिंधुली
१५१) „ छोटमलजी नेमीचन्द्रजी	लोहसर-खांडमांव
१५१) „ इचरजबाई शुंबरलालजी गुगले	अन्धेरी

प्रस्तुत प्रकाशन पर पं. दलसुख मरलचण्डियाजी ने प्रास्ताविक लिखने की कृपा की एतदर्थ वे शतकः धन्यवाद के पात्र हैं, जिन दाताओं के आर्थिक सहयोग से यह पुस्तक प्रकाशित की गई है उनका हृदय से आभार मानते हैं ।

प्रास्ताविक

— — — — —

जैन दार्शनिक प्रन्थों का निर्माण तत्त्वार्थसूत्र से प्रारंभ होता है। तत्त्वार्थसूत्र की रचना में आगमिक परंपरा को व्यवस्थित करने का सर्वप्रथम प्रयत्न हुआ। जल्दीजा यह हुआ कि उसमें आगमगत सभी विषयों का संक्षेप में निरूपण हुआ। तत्त्वार्थसूत्र की कई टोकाएँ हुईं और उसके बाद कई जैनदर्शन के नवे ग्रन्थ भी बने किन्तु समय के अनुसार निरूपण के विषयों में परिवर्तन होता रहा। तत्त्वार्थसूत्र में निरूपित कई विषयों को छोड़ दिया गया और कई आवृद्धक नई चर्चाओं का प्रबोध भी हुआ।

प्रमाणपरा के निरूपण इन्हीं टोकाल दें जैनतात्त्वार्थ प्रमाणप्रबोध निरूपण से लिया। यह परिवर्तन खास कर बोद्धों के प्रमाणसमुक्तव्य जैसे वाचों के कारण हुआ। यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्रगत कई विषयों को छोड़ दिया गया और प्रमाण के विषयरूप में प्रमेय की चर्चा होने लगी, और वह भी तत्त्वार्थ की तरह प्रमेयों की गत्ता करके नहीं, किन्तु प्रमेय के स्वरूप की ही चर्चा पर्याप्त समझी गयी। इसी परंपरा में न्यायवाचतार, न्यायविनिश्चय, परीक्षामूल्य प्रमाणनयतत्त्वालोक आदि ग्रन्थ बने। प्रमाणमीमांसा भी इसी परंपरा की एक कड़ी है। आगे चलकर न्यायवीपिका, जैनतकन्भाषा जैसे ग्रन्थ बने।

भृत्यकाल में विस्तृत ग्रन्थरचना की प्रवृत्ति बढ़ी है। यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्र की इलोकवासिक जैसी विस्तृत टीका बनी, प्रमाणनयतत्त्वालोक का स्थानादरत्नाकर जैसी सुविस्तृत और परीक्षामूल्य की प्रमेयकमलमार्त्तद जैसी अति विस्तृत टोकाएँ बनीं, जल्दीजा यह हुआ कि प्रवेशार्थी के लिए कठिनाई उपस्थित हुई। इसी कठिनाई को दूर करने की दृष्टि से न्यायवाचतार्थातिकवृत्ति, रत्नाकरवाचतारिका जैसे ग्रन्थ बनने शुरू हुए। इसी दृष्टि से आखार्य हेमचन्द्र में प्रमाणमीमांसा की रचना की। मूल सूत्रों को स्वोपनवृत्ति से अलंकृत करके इसका निर्माण हुआ है। दुर्भाग्य से इसके पार्थों अध्याय मिलते नहीं, प्रारंभ के देह अध्याय जितना ही अंश मिलता है। किन्तु जितना अंश मिलता है वह भी जैन दर्शन श्री प्रमाणमीमांसा को संक्षेप में जानने का अच्छा साधन है इस में संदेह नहीं।

प्रमाणमीमांसा कई युनिवर्सिटियों में और जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड में पाठ्यप्रस्त्र रूप से स्वीकृत है, यही प्रमाण है कि वह जैन वर्णन के लिए एक अच्छी पाठ्यपुस्तक है। उसके कई संस्करण भी हुए हैं। पू. पं. लुखलालजी ने उसके अपने संपादन में तुलनात्मक टिप्पणी

(२)

लिखे और विस्तृत प्रस्तावना भी लिखी, किन्तु वह अन्य अब उपलब्ध नहीं होता । टिप्पणी का अधेजी होकर वे पृथक् पुस्तकरूप में उपलब्ध हैं ।

अब धू. पं. शोभाचंद्रजी परिलक्ष्मारा प्रमाणभीमासा हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित हो रही है, यह आनन्द का विषय है । इसके पढ़ने वालों के लिए प्रमाणभीमासा ग्रन्थ सुगम हो जायगा इसमें सदैह नहीं है । पंडितजी की हिन्दी सरस तो है ही, साथ सुबोध भी है और आचार्य हेमचन्द्र की प्रसन्न यंभीर भाषा के अनुलेप भी है । पंडितजी ने यह अनुवाद करके जिज्ञासुओं का मार्ग सरल किया है, अतएव वे सबके धन्यवाद के पात्र हैं ।

हम अवशा करते हैं कि पंडितजी आगे भी कठिन वार्षिक ग्रन्थ के सुगम अनुवाद हमें देते रहेंगे और जिज्ञासुओं का दर्जन में प्रवेश सुलम बना देये ।

अहमदाबाद

१५-६-७०

दलसुख मत्लबणिया

कलिकालसर्वज्ञ—श्रीहेमचन्द्राचार्यविरचिता

(स्वोपज्ञवृत्तिसहिता)

॥ प्र मा ण मी मां सा ॥

• • → ← •

अनन्तदर्शनज्ञानवीर्यनिन्दमयात्मने ।

नमोऽहंते कृपालक्ष्मभर्तीर्थाय तामिने ॥१॥

बोधिवीजमुपस्कर्तुं तत्त्वाभ्यासेन धीमताम् ।

जैनसिद्धान्तसूत्राणां स्वेषां वृत्तिविधीयते ॥२॥

१ ननु यदि भवदीयानीमानि जैनसिद्धान्तसूत्राणि, तहि भवतः पूर्वं कानि किमीयानि वा तान्यासन्निति ? अत्यल्पमिदमन्वयुद्धकथाः । पाणिनि-पिगल-कणादाऽक्षपादादिभ्योऽपि पूर्वं कानि किमीयानि वा व्याकरणादिसूत्राणीत्येदपि पर्यन्तुयुद्धक्ष्व !

(हिन्दी अनुवाद)

अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य, और अनन्त आनन्दमय स्वरूपवाले, जगत् के जीवों पर कृपा करके धर्मतीर्थ की रचना करनेवाले और प्राणीमात्र के लिए सम्मार्त के उपदेशक अहंस्त भगवान् को नमस्कार हो ॥ १ ॥

तस्य (वस्तु के व्याख्यात स्वरूप) के अभ्यास द्वारा बुद्धिमानों के बोधबीजसम्यक्त्व का उपस्कार करने के उद्देश्य से स्वरचित् जैनसिद्धान्तसूत्रों की अर्थात् जैनदर्शनसम्मत तस्य का प्रतिपादन करनेवाले सूत्रों की टोका कर निर्माण किया जाता है ॥ २ ॥

१—शंका—जिन सूत्रों को वृत्ति-टीका-का आप निर्माण कर रहे हैं, वे सूत्र यदि आपके हैं तो आपसे पूर्व कीन से सूत्र थे ? और वे किनके थे ?

समाधान—आपने अत्यन्त अल्प-संकीर्ण शंका उपस्थित की है । आपको यह भी तो पूछना चाहिए था कि पाणिनि से पहले व्याकरण के सूत्र, पिगल से पहले पिगलशास्त्र के सूत्र, कणाद से पहले वैशेषिकदर्शन के सूत्र कीन से थे ? और वे किनके थे ?

अनादय एवंता विद्याः संक्षेपविस्तरविधक्षया नवनवीभवन्ति तत्त्वत्कर्तृकाश्चोच्यन्ते । किं नाश्रीष्टीः 'न कदाचिदनीहृशो जगत्' इति ? यदि वा प्रेक्षस्व वाचकमुख्यविरचितानि सकलशास्त्रचूडामणिभूतानि तत्त्वार्थसूत्राणीति ।

२ यद्येवम्-अकलङ्का-धर्मकीर्त्यादिवत् प्रकरणमेव किं नारभ्यते, किमनया सूत्र-कारत्वाहीपुरुषिक्या ? मैथं वोचः, भिन्नरुचिहृष्टं जनः, ततो नास्य स्वेच्छाप्रतिबन्धे लौकिकं राजकीयं वा शासनमस्तीति यत्किञ्चिददेतत् ।

३ तत्र वर्णसमूहात्मकः पदः, पदसमूहात्मकः सूत्रः, सूत्रसमूहात्मकः प्रकरणः, प्रकरणसमूहात्मकः आह्लिकः, आह्लिकसमूहात्मकः पञ्चभिरध्यायः शास्त्रमेतदरच्यदाचार्यः । तस्य च प्रेक्षाश्वत्प्रवृत्यंगमभिधेयमभिधातुमिदमादिसूत्रम्-

वास्तव में ये सब विद्याएँ अनादिकालीन हैं । किन्तु कोई उनका संक्षेप विस्तार से ग्रहिता करता है । इस संक्षेप-विस्तार के कारण वे तदीन-नवीन रूप धारण करती रहती हैं । जो उनका संक्षेप अथवा विस्तार से निरूपण करता है, वही उनका 'कर्ता' कहलाने लगता है । क्या आपने यह नहीं सुना कि 'जगत् कभी ऐसा नहीं था', यह बात नहीं है । अर्थात् जगत् तो अपने मूल रूप में सदैव बैसा का बैसा ही रहता है । फिर भी यदि आपको देखना है कि मुझसे पूर्व जैव सिद्धान्त के सूत्र कौन-से थे, तो वाचकमुख्य उभास्त्रातिद्वारा रचित 'तत्त्वार्थसूत्र देख लीजिए । वे सूत्र समस्त शास्त्रों में चूडामणि के समान उत्तम हैं ।

२—शंका—यदि आपसे पहले वाचक उभास्त्रातिद्वारा रचित तत्त्वार्थसूत्र विद्यमान है, तो आप 'सूत्रकार' बनने का गौरव क्यों प्राप्त करना चाहते हैं ? अकलंक और धर्मकीर्ति आदि की भाँति प्रकरण-धन्य की ही रचना क्यों नहीं करते ?

समाधान—ऐसा मत कहिए । जन-जन को रुचि में भिन्नता होती है, अतएव उसको स्वेच्छा को रोकने के लिए न तो कोई लौकिक प्रतिबन्ध है, न राजकीय शासन है, अर्थात् विभिन्न धन्यकार विदा किसी वकालट के अपनौ-अपनी इच्छा के अनुसार सूत्र वृत्ति वा प्रकरणादि धन्योंकी रचना करते हैं । अतएव आपको कठन में कुछ सार नहीं है ।

३—वर्णों का समूह पद कहलाता है, पदों का समूह सूत्र, सूत्रों का समूह प्रकरण (विभाग विशेष), प्रकरणों का समूह आह्लिक और आह्लिकों का समूह अध्याय कहलाता है । आचार्य ने पांच अध्यायों में इस शास्त्र की रचना की है ।

बुद्धिमान् पुरुष किसी भी धन्य के पठन-पाठन में तब ही प्रदृढ़ होते हैं, जब उसके अधिधेय-विषय को ज्ञानकारी प्राप्त कर लें । अतएव प्रथम सूत्र में प्रस्तुत धन्य में प्रेक्षाकारिक पुरुषों की प्रवृत्ति का अंग—प्रतिपादा विषय बतलाया जाता है ।

अथ प्रमाणमीमांसा ॥ १ ॥

४ अथ-इत्यस्य अधिकारार्थत्वाच्छासत्रेणाद्विक्रियमाणस्य प्रस्तुयमानस्य प्रमाण-स्याभिधानात् सकलशास्त्रतात्पर्यव्याख्यानेन प्रेक्षावन्तो बोधिताः प्रवृत्तिताहच भवति । आनन्दतयार्थो वा अथ-शब्दः, शब्द-काव्य-छन्दोनुशासने भ्योऽनन्तरं प्रमाणं मीमांस्यत इत्यर्थः । अनेन शब्दानुशासनादिभिरस्यैककर्तृकल्पमाह । अधिकारार्थस्य च अथ शब्द-स्यान्यार्थनीयमानकुसुमदामजलकुम्भादेवर्द्धनमिव अवर्णं मंगलायापि कल्पत इति । मंगले च सति परिपन्थविधातात् अक्षेषण शास्त्रसिद्धिः, आयुष्मच्छ्रेत्कृता च भवति । पर-मेघिनभस्कारादिकं तु मङ्गलं कृतमपि न निवेशितं लाघवार्थिना सूत्रकारेणेति ।

५ प्रकर्षेण संज्ञयादिव्यवच्छेदेन मीयते परिच्छिद्यते वस्तुतस्य येन तत् प्रमाणं प्रमाणां साधकतमम्, तस्य मीमांसा—उद्देशादिरूपेण पर्यालोचनम् । श्यो हि शास्त्रस्य प्रवृत्तिः—उद्देशो लक्षणं परीक्षा च ।

अब प्रमाण की मीमांसा की जाती है ॥ १ ॥

४—सूत्र में प्रयुक्त 'अथ' शब्द अधिकार अर्थ का वाचक है । इस शास्त्र में प्रमाण का अधिकार है । प्रमाण की मीमांसा यहाँ प्रस्तुत है । यहाँ 'प्रमाण' शब्द के प्रयोग से सम्पूर्ण शास्त्र के तात्पर्य (प्रयोजन) का व्याख्यान हो जाता है । इससे बुद्धिमानों को उसका बोध हो जाता है और वे उसमें प्रवृत्ति करने लगते हैं ।

अथवा 'अथ' शब्द यहाँ आनन्दतय अर्थ का वाचक है । इसका तात्पर्य यह निकलता है कि शब्दानुशासन, काव्यानुशासन तथा छन्दोनुशासन के अनन्तर अब प्रमाण की मीमांसा की जाती है । इस कथन से यह भी सूचित हो गया कि शब्दानुशासन आदि के कर्ता—आचार्य हेमचन्द्र ही प्रस्तुत प्रन्थ के भी कर्ता हैं ।

अधिकारार्थक 'अथ' शब्द का अवण, दूसरे के निमित्त ले जाए जाने पुण्यदाम और सञ्चल घट आदि को देखने के समान मांगलिक माना जाता है ।

'मंगल'की विद्यमानता में प्रतिबन्धक विधनों का विधात हो जाता है और उससे अदिलमद शास्त्र की सिद्धि हो जाती है । उस शास्त्र के श्रेताओं को चिरकालीन आयुष्य की प्राप्ति होती है ।

सूत्रकार ने परमेष्ठी-नमस्कारस्वर मंगल क्यों नहीं किया ? इसका उत्तर यह है कि किया तो है किन्तु उसे शब्दबद्ध नहीं किया है, क्यों कि वे प्रन्थ को संक्षिप्त ही रखना चाहते हैं ।

५—'प्रमाण' शब्द 'प्र' उपसर्ग और 'माण' धातु से बना है । यहाँ 'प्र' उपसर्ग का अर्थ है—प्रकर्ष और प्रकर्ष का तात्पर्य है—संज्ञय, विषय और अनध्यवसाय का अवाद । अभिप्राय यह निकला कि जिसके द्वारा संज्ञयादि का व्यवहार करके वस्तुतस्य जाना जाए वह 'प्रमाण' है । प्रमाण प्रमिति अर्थात् जप्ति में साधकतम—करण होता है ।

उद्देश आदि के द्वारा किसी वस्तु का विचार करना 'मीमांसा' है । शास्त्र की प्रवृत्ति तीन तरह की होती है—(१) उद्देश (२) लक्षण (३) परीक्षा ।

तथा नामधेयमात्रकीर्तनमुद्देशः, यथा इदमेव सूत्रम् । उद्दिष्टस्यासाधारणधर्मवचनं लक्षणम् । तद् द्वेधा, सामान्यलक्षणं विशेषलक्षणं च । सामान्यलक्षणमनन्तरमेव सूत्रम् । विशेषलक्षणम् “विशदः प्रत्यक्षम्” [१-२-१३] इति । विभागस्तु विशेषलक्षणस्येवा—इमभिति न पृथगुच्यते । लक्षितस्य ‘इदमित्यं भवति नेत्यम्’ इति न्यायतः परीक्षणं परीक्षा, यथा तृतीयं सूत्रम् ।

६ पूजितविचारवचनश्च मीमांसाशब्दः । तेऽन ग्रन्थमात्रस्येव विचारोऽत्राधि-कृतः, किन्तु तदेकदेशभूतानां दुर्निराकरणद्वारेण परिशोधितमागर्णां नयानाममयि “प्रमाणनयैरधिगमः” [तत्त्वा० १-६] इति हि वाचकमुख्यः, सकलपुरुषार्थेषु मूद्धाभिषिक्तस्य सोषायस्य सप्रतिपक्षस्य भोक्तस्य च । एवं हि पूजितो विचारो भवति ।

किसी वस्तु के सिर्फ नाम का उल्लेख करना उद्देश है, जैसे प्रकृत सूत्र-‘अथ प्रमाण-मीमांसा’ । यहाँ प्रमाण के नाममात्र का ही उल्लेख है ।

जिसका उद्देश किया गया है, अर्थात् जिसके नाम का उल्लेखमात्र किया गया है, उसके असाधारण धर्म का—ऐसे विशिष्ट धर्म का कि जो उसके अतिरिक्त अन्यत्र न भिलसके कायन करना लक्षण कहलाता है ।

लक्षण दो प्रकार के हैं—सामान्य लक्षण और विशेष लक्षण । सामान्य लक्षण का उदाहरण अगला—दूसरा सूत्र है, जिसमें सामान्य रूप से प्रमाण का स्वरूप बतलाया है । विशेष का उदाहरण—‘विशदः प्रत्यक्षम्’ अर्थात् ‘विशदं ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है । ‘प्रत्यक्ष’ विशेष प्रमाण है । और उसका इस सूत्र में लक्षण बतलाया गया है ।

विभाग अर्थात् भेद, विशेष लक्षण का ही अंग है । विशेष लक्षणों से ही भेद का पता चल जाता है । अतएव उसे अलग नहीं कहा है ।

लक्षण का कायन करने के पश्चात् उस वर्तु का युवितपूर्वक परीक्षण किया जाता है । ‘यह ऐसा है अथवा नहीं है’ ऐसा विचार करना परीक्षा है । इस ग्रंथ का तीसरा सूत्र परीक्षा का उदाहरण है ।

‘मीमांसा का अर्थ है पूजित (प्रशस्त), विचार और पूजित वचन । मीमांसा शब्द का प्रयोग करके यह सूचित किया गया है कि इस ग्रन्थ में केवल प्रमाण का ही विचार प्रस्तुत नहीं है, किन्तु प्रमाण के एक अंशभूत तथा दुर्निय का निराकरण करके प्रमाण के मार्ग का परिशोधन करनेवाले नयों का भी विचार किया जाएगा । वाचक उमास्वाति ने कहा है—‘प्रमाणनयैरधि-गमः’ अर्थात् प्रमाणों और नयों से ही तत्त्वों का सम्यज्ञान होता है ।

प्रमाण एवं नय के अतिरिक्त यहाँ सब पुरुषार्थों वें शेष मोक्ष का भी विचार किया जाएगा, मोक्ष के उपायों का अर्थात् संबंध एवं निर्भरत तत्त्व का तथा उनके विरोधी—आत्मवत्तथा ब्रह्म आदि का भी विचार किया जाएगा । इन सब का विचार करना ही पूजित विचार है ।

प्रमाणमात्रविचारस्तु प्रतिपक्षनिराकरणपर्यवसायी वाक्कलहमात्रं स्थात् । तद्विवक्षायौ तु "अथ प्रमाणपरीक्षा" [प्रमाणपरीक्षा पृष्ठ १] इत्येव कियेत । तत् स्थितमेतत्-प्रमाणपरि-शोधितप्रमेयमार्ग सोयायं सप्रतिपक्षं मोक्षं विवक्षितुं भीमांसायहृणमकायचायेणेति ॥ १ ।

७ तत्र प्रमाणसामान्यलक्षणमाह-

सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम् ॥ २ ॥

८ 'प्रमाणम्' इति लक्ष्यनिर्देशः, शेषं लक्षणम्, प्रसिद्धानुवादेन ह्यप्रसिद्धस्य विधानं लक्षणार्थः । यत्तदविवादेन प्रमाणभिति धर्मिप्रसिद्धं तस्य सम्यगर्थनिर्णयात्मकत्वं धर्मो विधीयते । अत्र प्रमाणत्वादिति हेतुः, त च धर्मिणो हेतुत्वमनुपपन्नम्; अवति हि विशेषे धर्मिभिणि तत्सामान्यं हेतुः, यथा अयं धूमः साग्रिनः, धूमत्वात् पूर्वोपलब्धधूमवत् । न च हृष्टान्तमन्तरेण न गमकत्वम्; अन्तर्बर्धाप्त्येव साध्यसिद्धेः, 'सात्मकं जीवस्तुरीरम्, प्राणादिमर्त्वात्' इत्यादिवदिति दर्शयिष्यते ।

सिर्फ़ प्रमाण का विचार करना प्रतिपक्ष का निराकरण करने में ही पर्यवसित होता है और वह एक प्रकार से वाक्कलह मात्र हो है । यदि सिर्फ़ प्रमाण का ही निरूपण करना अभीष्ट होता तो सूत्र की रचना यों की होती—'अथ प्रमाण परीक्षा ।' अतएव यह निहित है कि प्रमाण और नय के द्वारा जिसका मार्ग-अनेकान्तर्यस्वरूप-परिशोधित किया गया है ऐसे मोक्ष का भी उसके उपायों और विरोधी तत्त्वों के साथ कथन करने के अभिप्राय से ही 'भीमांसा' शब्द का प्रयोग किया है ॥ २ ॥

प्रमाणसामान्य का स्वरूप

—अर्थ—पदार्थ का सम्यक् निवेद्य प्रमाण कहलाता है ॥ २ ॥

८—सूत्र में 'प्रमाण' पद लक्ष्य है और 'सम्यगर्थनिर्णयः' यह प्रमाण का लक्षण है । प्रसिद्ध इस्तु का अनुवाद करके अप्रसिद्ध का विधान करना लक्षण का प्रतिपादन करना कहलाता है । यहाँ सामान्यरूप में 'प्रमाण' सभी को प्रसिद्ध है । अर्थात् प्रमाण का लक्षण कोई कुछ भी माने तथापि प्रमाण-सामान्य तो प्रत्येक वादी की मान्य ही है । (अतएव इस सूत्र में 'प्रमाण' शब्द का उल्लेख 'प्रसिद्ध का अनुवाद है') उसमें सम्यगर्थनिर्णयकर्त्वं धर्म का-जो प्रतिवादो को प्रसिद्ध नहीं है-विधान किया गया है । यहाँ हेतु 'प्रमाणत्वं' है । अतएव अनुमान का रूप इस प्रकार होगा—प्रमाण सम्यगर्थनिर्णयात्मक है, क्योंकि वह प्रमाण है ।

कहा जा सकता है कि प्रकृत अनुमान में पक्ष को ही हेतु बनाया गया है, सो उचित नहीं है । किन्तु इसमें कोई अनीचित्य नहीं समझना चाहिए । बास्तव में यहाँ प्रमाणविशेष पक्ष है और प्रमाणसामान्य हेतु है, जैसे यह धूम अग्निसहित है, क्योंकि धूम है, जैसे पूर्वोपलब्ध धूम । जिस प्रकार यहाँ विशिष्ट (विवादप्रस्त) धूम पक्ष है और सामान्य धूम हेतु है, उसी प्रकार प्रकृत अनुमान में भी समझ लेना चाहिए ।

हास्यात् के बिना हेतु गमक नहीं हो सकता, ऐसी बात भी नहीं है । अन्तर्बर्धाप्ति से ही साध्य को सिद्धि हो जाती है । 'जीता हुआ गारीर आत्मवान् है क्योंकि वह प्राणादि से युक्त है' इस

९ तत्र निर्णयः संशयाऽनध्यवसायाविकल्पकत्वरहितं जानम् । ततो निर्णयदेव-
ताजानरूपस्येन्द्रियसंक्षिकाद्विः, जानरूपस्यापि संशयादेः प्रमाणत्वनिषेधः ।

१० अर्थसेऽर्थते च अर्थो हेयोपादेयोपेक्षणीयलक्षणः, हेयस्य हातुम्, उपादेय-
स्योपादातुम्, उपेक्षणीयस्योपेक्षितुमस्यभान्तवात् । न चानुपादेयत्वामुपेक्षणीयोऽहेय
एषान्तर्भवति; अहेयत्वादुपादेय एवान्तर्भावप्रसवते । उपेक्षणीय एव च मूर्हाभिषि-
क्तोऽर्थः, योगिभिस्तस्येवार्यमाणत्वात् । असमदादीजानपि हेयोपादेयाभ्यां भूयासेवोपेक्ष-
णीयोऽर्थः; तस्यायमुपेक्षितुं क्षमः । अर्थस्य निर्णय इति कर्मणि वाच्छान्त्रियम् व्या-
प्यत्वादर्थस्य । अर्थप्रहृण च स्वनिर्णयत्यवच्छेदार्थं तस्य सलोऽप्यलक्षणस्वाविति वक्ष्यामः ।

अनुमान में कोई उबाहरण न होने से बहुव्याप्ति-उदाहरण नहीं है, फिर भी हेतु अन्तर्भावित
के सामर्थ्य से गमक है, इसी प्रकार 'प्रमाणत्व' हेतु भी गमक है । इस पर आगे विचार करेंगे ।

९-संशय, अनध्यवसाय और निविकल्पकत्वः से रहित जान निर्णय (निष्ठायामक ज्ञान)
कहलाता है । अतएव प्रमाण के लक्षण में स्वीकृत 'निर्णय' शब्द से अनानुरूप इन्द्रियसंकर्ष^१
की तथा अनिवित जानरूप संशय आदि की प्रमाणता का निषेध किया गया है ।

१०—प्रयोजन की लिङ्गि के लिए जिसकी चाह की जाती है, वह 'अर्थ' कहलाता है ।

अर्थ तीन प्रकार का है—(१) हेय-स्याग्ने योग्य (२) उपादेय-प्रहृण करने योग्य और
(३) उपेक्षणीय-उपेक्षा करने योग्य । हेय पदार्थ को स्याग्ने को, उपादेय को प्रहृण करने की
और उपेक्षणीय पर उपेक्षा करने की इच्छा की जाती है ।

किसी-किसी का कहना है कि उपेक्षणीय पदार्थ उपादेय न होने के कारण हेय के ही अन्तर्भूत है, किन्तु यह कथन युक्त नहीं । वह हेय भी न होने से उपादेय के अन्तर्भूत वयों न जाना जाय? अनुसुतः न हेय और न उपादेय होने के कारण उपेक्षणीय पदार्थ मिल ही है । उपेक्षणीय पदार्थ ही प्रमुख है, यदोंकि योगी जब उसको ही अभ्यर्थना-चाह करते हैं । हमारे लिये भी हेय और
उपादेय पदार्थ लो कम हैं, मगर उपेक्षणीय पदार्थ ही अधिक है । अतएव उपेक्षणीय पदार्थ की
उपेक्षा करना उचित नहीं है अर्थात् उसे हेय की कोटि में सम्मिलित नहीं करना चाहिये ।

हेय, उपादेय और उपेक्षणीय अर्थ का निर्णय 'अर्थनिर्णय' कहलाता है । यहाँ 'कर्म' में वर्णी
दिव्यवित का प्रयोग किया गया है, यदोंकि अर्थ का व्याप्ति कम है । सूत्र में 'अर्थ' शब्द का प्रहृण
स्वनिर्णय का निराकरण करने के लिए है । यद्यपि प्रमाण स्वनिर्णयक होता है, तथापि वह
प्रमाण का लक्षण नहीं है, इसे आगे कहेंगे ।

१— जान, जाति आदि की कल्पना से रहित मत्तामात्र का ज्ञान निविकल्पक कहलाता है ।

२— इन्द्रिय और चाहय विषय का सम्बन्ध ।

११ सम्यग्-इत्यविषयीतार्थमध्ययं समञ्चतेवा रूपम् । तच्च निर्णयस्य विशेष-
णम् तस्यैव सम्यवत्काऽसम्यवत्वयोगेन विशेषद्वयुचितत्वात् ; अर्थस्तु स्वतो न सम्यग्
माप्यसम्यगिति सम्भवव्यभिचारयोरभावात् विशेषणीयः । तेन सम्यग् योऽर्थनिर्णय
इति विशेषणाद्विषयवित्तिरातः । ततोऽतिव्याप्त्यव्याप्त्यसम्भवदोषविकल्पित्वं प्रमाण-
सामान्यलक्षणम् ॥२॥

१२ तनु अर्थनिर्णयवत् स्वनिर्णयोऽपि दृढ़ेः प्रमाणलक्षणत्वेनोक्तः—“प्रमाणं स्वप-
राभासि” (ग्राहाव० १) इति, “स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्” (तत्वार्दशोक्त्रा०
१. १०. ३३) इति च । न चासावसन्, ‘घटमहं जानामि’ इत्यादौ कर्तुकर्मवत् अप्तेष्य-
सभासमानत्वात् । न च अप्रत्यक्षोपलम्भस्यार्थद्विष्टः प्रसिद्धं चति । न च ज्ञानान्तरात्
तदुपलम्भसम्भवनम्, तस्याप्यनुपलब्धस्य प्रस्तुतोपलम्भप्रत्यक्षीकाराभावात् ।

‘सम्यक्’ यह एक अव्यय है । जिसका अर्थ है—सही अवांत विपरीत नहीं । अवयवा ‘सम्यक्’
उपसर्गपूर्वक ‘अं व्’ धातु से सम्यक् शब्द बनता है । ‘सम्यक्’ एव निर्णय का विशेषण है, क्योंकि
निर्णय ही सम्यक् अवयवा असम्यक् हो सकता है । पदार्थं स्वयं न सम्यक् होता है न असम्यक्,
अतएव उसमें (अर्थ में) सम्यक् विशेषण लगाने का कोई औचित्य नहीं है । जहाँ संभव या
व्यभिचार हो वहीं विशेषण लगाना सार्थक होता है । अतएव पदार्थ के सम्यक् निर्णय को प्रमाण
कहते हैं, ऐसा अर्थ समझना चाहिए । इस विशेषण से विषयव्यवसाय की प्रमाणता का निषेध
किया गया है । तात्पर्य यह है कि ‘निर्णय’ पद से संशय, अव्यवसाय और निविकल्प ज्ञान की
प्रमाणता का निषेध किया गया है, मगर विषयव्यवसाय की प्रमाणता का निषेध उससे नहीं होता,
क्योंकि विषयव्यवसाय निर्णयकृत होता है । अतएव उसका निषेध करने के लिए ‘सम्यक्’ विशेषण
का प्रयोग किया गया है । विषयव्यवसाय में भी निर्णय तो होता है परन्तु वह सम्यक् नहीं होता ।

इस प्रकार प्रमाण का लक्षण (अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असम्भव दोष से रहित है) ॥२॥

१३—जांका—प्रचीन आचार्योंने अर्थनिर्णय के समान स्वनिर्णय को भी प्रमाण का
लक्षण कहा है । जेवे—‘प्रमाणं स्वपराभासि’ अर्थात् स्व और पर को ज्ञानने वाला (ज्ञान) ही
प्रमाण होता है । तथा ‘स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्’ । अर्थात् जो ज्ञान अपने स्वरूप का
और पदार्थ का यथार्थ रूप से निश्चय करता है, वह प्रमाण कहलाता है । यह कथन असत् भी
नहीं है । ‘मैं छठ को जानता हूँ’ इस प्रकार की प्रतीति में ‘मैं’ इस कर्त्ता और ‘छठ को’ इस
कर्त्ता का जैसे बोध होता है, उसी प्रकार ‘जानता हूँ’ इस जप्तिक्षिया का अर्थात् ज्ञान का भी
ज्ञान होता है । इसके अतिरिक्त जिसको ज्ञान का ज्ञान नहीं होता, उसे उस ज्ञान के द्वारा पदार्थ
का भी ज्ञान नहीं हो सकता । कवाचित् कहा जाय कि दूसरे ज्ञान से प्रथम ज्ञान ज्ञाना ज्ञाना है
और प्रथम ज्ञान से पदार्थ ज्ञान लिया जाता है, तो यह ठीक नहीं । दूसरा ज्ञान भी यदि अज्ञान
होगा तो वह प्रथम ज्ञान को नहीं ज्ञान सकेगा ।

१ लक्षण और उससे बाहर-अलक्षण में भी लक्षण का रहना । २ अधूरे लक्षण में लक्षण का रहना ।

३ लक्षण के एक प्रेत में भी लक्षण का न पाया जाना ।

उपलम्भान्तरसम्भावने चानवस्था । अर्थोपलम्भात् तस्योपलम्भे अन्योन्याश्रयदोषः । एसेन 'अर्थस्य सम्भवो नोपपद्येत न चेत् ज्ञानं स्यात्'इत्यर्थादित्यापि तदुपलम्भः प्रत्यक्षतः, तस्या अपि ज्ञापकत्वेनाज्ञाताया ज्ञापकत्वायोगात् । अर्थापिस्यन्तरात् तज्ज्ञाने अनवस्थेतरेतराश्रयदोषापस्तेस्तदवस्थः परिभ्रवः । तस्मादथौन्मुखतयेव स्वोन्मुखतयापि ज्ञानस्य प्रतिभासात् स्वनिर्णयात्मकत्वमप्यस्ति । ननु अनुभूतेरनुभाव्यत्वे घटादिवदननुभूतित्वप्रसंगः, मैव दोषः; ज्ञातुः ज्ञातृत्वेनेव अनुभूतेरनुभूतित्वेनेवानुभवात् । न चानुभूतेरनुभाव्यत्वं दोषः; अर्थापेक्षयानुभूतित्वात् स्वापेक्षयाऽनुभाव्यत्वात्, स्वपितृपुत्रापेक्षयकस्य पुत्रत्वपितृत्वबन्तु विशेषाभावात् । न च स्वात्मनि क्रियाविरोधः, अनुमदसिद्धेऽर्थे

दूसरे ज्ञान को ज्ञानने के लिए यदि तो सरे ज्ञान को आवश्यकता मानी जाय तो ऐसा मानने से अनवस्था दोष हो जायगा । यदि प्रथम ज्ञान (अर्थ का ज्ञान) दूसरे (ज्ञान के ज्ञान)को और दूसरा प्रथम को ज्ञान लेता है, ऐसी कल्पना की जाय तो अन्योन्याश्रय दोष अता है । अर्थात् स्वर्य अज्ञात होने के कारण प्रथम ज्ञान दूसरे ज्ञान को नहीं ज्ञान सकता, इसी प्रकार दूसरा ज्ञान प्रथम ज्ञान को नहीं ज्ञान सकता । दोनों ही जब अज्ञात हैं और आपस में ही एक दूसरे को ज्ञान सकते हैं तो पहले किसे ज्ञानेगा ?

"यदि ज्ञान न होता तो 'पदार्थ है' ऐसा व्यवहार न होता, परन्तु 'पदार्थ है' ऐसा व्यवहार हो रहा है, अतएव मुझे ज्ञान हुआ है", इस प्रकार की अर्थापत्ति से ज्ञान का ज्ञान है; यह विचार भी योग्य नहीं है । अर्थापत्ति भी ज्ञापक है, अतएव जब तक वह स्वर्य अज्ञात है तब तक ज्ञापक नहीं हो सकती । दूसरी अर्थापत्ति से पहली अर्थापत्ति का ज्ञान मानने पर पूर्ववत् अनवस्था और द्वितीयताश्रय दोषों की प्राप्ति होती है ।

इस प्रकार ज्ञान जैसे अर्थ की ओर उन्मुख होकर अर्थ को ज्ञानता है, उसी प्रकार स्व (ज्ञान) को ओर उन्मुख होकर स्व को भी ज्ञानता है । अतएव वह अर्थनिर्णायिक की तरह स्वनिर्णायिक भी है ।

ज्ञान यदि अपने को ज्ञानता है तो ज्ञेय हो जायगा और ज्ञेय होने के कारण घट आदि के समान ज्ञान नहीं रहेगा । यह कहना युक्तिसंगत नहीं । ज्ञाता (अहंकर्ता) का जब ज्ञान होता है, तो वह भी ज्ञेय होता है । परन्तु ज्ञाता के रूप में ही वह ज्ञेय होता है, अतएव ज्ञेय होने पर भी उसके ज्ञातृत्व में कोई क्षति नहीं होती । इसी प्रकार ज्ञान जब अपने आपको ज्ञानता है तो वह अपना ज्ञेय बन जाता है, किन्तु ज्ञान रूप में ही वह ज्ञेय होता है, अतएव उसके ज्ञानत्व में कोई क्षति नहीं होती । ज्ञान ज्ञेय हो जाय, यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि वह अर्थ की अपेक्षा ज्ञान है और अपनी अपेक्षा से ज्ञेय होता है । एक ही पुरुष अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र और पुत्र की अपेक्षा से विला होता है-उसके पिता और पुत्र होने में कोई विरोध नहीं है, इसी प्रकार ज्ञान पदार्थ की अपेक्षा से ज्ञान और अपनी अपेक्षा से ज्ञेय होता है, इसमें भी कोई विरोध नहीं है ।

जैसे तलवार अपने-आपको नहीं काढ सकती, उसी प्रकार ज्ञान अपने को नहीं ज्ञान सकता, क्योंकि अपने-आपमें क्रिया का विरोध है ऐसा कहना उचित नहीं है । जो बात अनुभव से सिद्ध है,

विरोधासिद्धे । अनुमानात्मक स्वसंबेदनसिद्धिः, तथा हि—जानं प्रकाशमानमेवार्थं प्रकाशयति, प्रकाशकत्वात्, प्रदीपवत् । संबेदनस्य प्रकाशयत्वात् प्रकाशकत्वमसिद्धमिति चेत्, न; अजाननिरासादिष्टारेव प्रकाशकत्वीपरसे: एव ये ग्रन्थादिभिर्यैचान्तिकता, तेषां भावेन्द्रियरूपाणामेव प्रकाशकत्वात् । भावेन्द्रियरूपां च स्वसंबेदनरूपत्वेति न व्यभिचारः । तथा संवित् स्वप्रकाशा, अर्थप्रतीतित्वात्, यः स्वप्रकाशो न भवति नासावर्थप्रतीतिः यथा घटः । तथा-यत् जानं तत् आत्मबोधं प्रत्यनपेक्षितपरब्यापारम्, यथा गोचरान्तरग्राहिजानात् प्रागभाविगोचरान्तरग्राहिजानप्रबन्धस्यान्त्यजानम्, जानं च विवादाद्यासितं रूपादिजानमिति ।

उसमें विरोध नहीं हो सकता । अनुमान प्रमाण से भी ज्ञान का स्वसंबेदन सिद्ध होता है । यथा—
(१) ज्ञान स्वयं प्रकाशमान होता हुआ ही पदार्थ को प्रकाशित करता है, क्योंकि वह प्रकाशक है जो-जो प्रकाशक होते हैं वे स्वयं प्रकाशमान होते हुए ही पदार्थ को प्रकाशित करते हैं, जैसे दीपक । ज्ञान स्वसंबेदनशील होने से प्रकाश्य है—उसे प्रकाशक मानना असिद्ध है, ऐसी अवशंका नहीं करती चाहिए, अतान्त-संशय आदि का निवारण करने के कारण वह प्रकाशक है ।

कहा जा सकता है कि नेत्र स्वयं प्रकाशमान न होने पर भी पर-प्रकाशक होते हैं, अतएव आपका प्रकाशकत्व हेतु अनेकान्तिक है, किन्तु यह सत्य नहीं है, बास्तव में भावेन्द्रियां ही प्रकाशक होती हैं और वे स्वयंप्रकाशमान भी होती हैं ।

(२) ज्ञान स्वप्रकाशक है, क्योंकि अर्थ का प्रकाशक है । जो स्व-प्रकाशक नहीं होता, वह अर्थ-प्रकाशक भी नहीं होता, जैसे घट ।

(३) ज्ञान अपने-आपको जानने में किसी दूसरे ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि जो ज्ञान होते हैं वे अपने जानने में दूसरे ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखते हैं, जैसे विषयान्तर को ग्रहण करने वाले ज्ञान से पहले होने वाला विषयान्तरग्राही ज्ञान-प्रवाहका अन्तिम ज्ञान । रूपादि का ज्ञान भी ज्ञान है, अतएव उसे जानने के लिए भी दूसरे ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती ।

तात्पर्य यह है कि किसी व्यवित को अभी घटका ज्ञान हो रहा है—घटज्ञान का प्रवाह चल रहा है । उपर्योग बदला और पट बाला ज्ञान होने लगा । यहाँ विचारणीय यह है कि अब तक घटज्ञान का प्रवाह चल रहा था तब तक तो यह कहा जा सकता था कि उत्तर-उत्तर का घटज्ञान पूर्व-पूर्व के घटज्ञान को जानता है, किन्तु इसी प्रवाह के अन्तिमक्षणवर्ती घटज्ञान को कौन जानेगा? स्मरण रखना चाहिए कि उसको पटज्ञान उत्पन्न हुआ है और पटज्ञान अपने पूर्ववर्ती घटज्ञान को नहीं ज्ञान सकता— वह तो पट को ही जानेगा । ऐसी हितति में भावना ही बड़ेगर कि वह घटज्ञान अपने को आप ही जानता है, तो जैसे घटज्ञान के प्रवाह का अन्तिम ज्ञान अपने को स्वयं जानता है, उसी प्रकार पूर्ववर्ती घटज्ञान भी अपने को स्वयं ही जानते हैं ।

संवित् स्वप्रकाशे स्वावान्तरजातीयं नापेक्षते, वस्तुत्वात्, घटबत् संवित् परप्रकाश्या वस्तुत्वात् घटबदिति चेत्, न; अस्याप्रयोजकत्वात्, न खलु घटस्य वस्तुत्वात् परप्रकाश्यता, अपि तु बुद्धिव्यतिरिक्तत्वात् । तस्मात् स्वनिर्णयो प्रमाणलक्षणमस्त्व-त्याशाङ्काह—

स्वनिर्णयः स्वप्यलक्षणम्, अप्रमाणेऽपि भावात् ॥३॥

१३—सञ्चयि—इति परीक्षमनुमोदते । अथमर्थः—न हि 'अस्ति' इत्येवं सर्वं लक्षणत्वेन बाच्यं किन्तु यो धर्मो विषक्षाद्व्यावर्तते । स्वनिर्णयस्तु अप्रमाणेऽपि संशयादौ वर्तते; नहि काचित् ज्ञानमात्रा सास्ति या न स्वसंविदिता नाम । ततो न स्वनिर्णयो लक्षणमुच्चतोऽस्माभिः, बृहुस्तु परीक्षार्थमुपक्षिप्त इत्यदीयः ॥३॥

१४—ननु च परिच्छिन्नमर्थं परिच्छुद्धता प्रमाणं पिट्ठं पिट्ठं रथात् ।

(४) ज्ञान अपने प्रकाश में अपने अवान्तरजातीय-लज्जातोष ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि वह वस्तु है, जो जो वस्तु है वह वह अपने प्रकाश में अपने अवान्तर जातीय की अपेक्षा नहीं रखती, जैसे घट । अर्थात् जैसे घट को ज्ञानने के लिए दूसरे घट की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञान को ज्ञानने के लिए दूसरे ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती ।

कदाचित् कोई कहे कि ज्ञान वस्तु होने के कारण घट की तरह पर-प्रकाश्य है, तो वह ठीक नहीं । घट वस्तु होने के कारण पर-प्रकाश्य नहीं है, किन्तु बुद्धिभिन्न-अज्ञानरूप होने से परप्रकाश्य है ।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि ज्ञान अर्थ के समान स्व का भी निर्णय करता है । अतः स्वनिर्णय को भी प्रमाण का लक्षण कहना चाहिए । इस शंका का समाधान करने के लिए आवश्यक कहते हैं—

स्वनिर्णय इत्यादि । ज्ञान स्व का निश्चायक है, फिर भी वह प्रमाण का लक्षण नहीं है, क्योंकि स्वनिर्णय अप्रमाण में भी पाया जाता है ॥३॥

१३—ज्ञान स्व का निश्चायिक है ऐसा कह कर प्राचीन आचार्यों के उक्त कथन का अनु-स्मोदन किया गया है ।

अस्तिग्राय यह है—किसी वस्तुमें जो जो धर्म है उन सबको लक्षण रूपसे नहीं कहा जाता । लक्षण तो वही धर्म हो सकता है, जो उसे विषक्ष भारति, अलक्ष्य से विज्ञ करता हो—जो धर्म असाधारण हो । कोई भी ज्ञान ऐसा नहीं है जो स्वसंवेदी न हो, अर्थात् प्रमाणभूत ज्ञान भी स्वसंवेदी होता है और अप्रमाणभूत ज्ञान भी स्वसंवेदी होता है । इस कारण हमने स्वसंवेदन को प्रमाण का लक्षण नहीं कहा । बृहु आचार्यों ने परीक्षा के लिए उसे प्रमाण के लक्षण में सम्मिलित किया है ॥३॥

१४—शंका—ज्ञाने हुए पदार्थ को ज्ञाननेवाला ज्ञान पिट्ठपेषण ही करता है ।

तथा च गृहीतयाहिणां धारावाहिज्ञानानामपि प्रामाण्यप्रसंगः । ततोऽपूर्वार्थनिर्णय इत्यस्तु लक्षणम् ,यथाह—“स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्” [वरीक्षा नू० १.१.] इति, “तत्रापूर्वार्थविज्ञानम्” इति च । तथाह—

ग्रहीण्यप्राणप्राहिण इव गृहीतग्राहिणोऽपि नाप्रामाण्यम् ॥ ४ ॥

१५—अयमर्थः—द्रव्यापेक्षया वा गृहीतयाहित्वं विप्रतिविधयेत्, पर्यायपेक्षया वा ? तत्र पर्यायपेक्षया धारावाहिज्ञानानामपि गृहीतयाहित्वं न सम्भवति, क्षणिकत्वात् पर्याणाम्; तत्कथं तस्मिवृत्यर्थं विशेषणमृपादीयेत् ? अथ द्रव्यापेक्षया ; तदप्ययुक्तम् ; द्रव्यस्य नित्यत्वादेकस्येन गृहीतग्रहीण्यमा गावस्थयोर्न भेदः । ततश्च कं विशेषमाश्रित्य उसे प्रमाण मानते पर गृहीतयाही धारावाहिक ज्ञान भी प्रमाण हो जाएँगे । अतएव ‘अर्थ-निर्णय’ के स्थानपर ‘अपूर्वं अर्थनिर्णय’ को प्रमाण कहना चाहिए, अर्थात् जो ज्ञान पहले नहीं जाने हुए पदार्थ का निश्चय करता है, वही प्रमाण है, ऐसा कहना चाहिए । कहा भी है—‘स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञ नं प्रमाणम्’ अर्थात् जो ज्ञान अपना और अपूर्वं अर्थ का निर्णय करता है, वही प्रमाण है । तथा ‘तत्रापूर्वार्थविज्ञानम्’ इत्यादि । यहाँ भी अपूर्वार्थग्राही ज्ञान को ही प्रमाण कहा है । इस शंका का समाधान किया जाता है—

ग्रहीण्यमाण इत्यादि—जैसे अविष्य में ग्रहण किये जाने वाले पदार्थ को बर्तमान में ग्रहण करनेव ला ज्ञान अप्रमाण नहीं है, इसी प्रकार पूर्वगृहीत पदार्थ को बर्तमान में ग्रहण करने-वाला ज्ञान भी अप्रमाण नहीं है ॥ ४ ॥

१५—अभिप्राय यह है—ज्ञान द्रव्य की अपेक्षा से गृहीतयाही लेता है वा पर्याय की अपेक्षा से ? इसमें से किस गृहीतयाही ज्ञान की प्रमाणता का निषेद्ध किया जाता है ? यदि पर्याय की अपेक्षा ज्ञान को गृहीतयाही कहा जाए तो धारावाहिक (यह घट है यह घट है इस प्रकार लगातार होनेवाले) ज्ञान भी गृहीतयाही नहीं हो सकते, क्यों कि पर्याय क्षणिक होते हैं । प्रथम ज्ञान के द्वारा जो पर्याय जाता है, वही दूसरे ज्ञान के द्वारा नहीं जाता जो सकता । द्यों कि दूसरे ज्ञान के समय प्रथमे पर्याय रहता ही नहीं है । अतएव धारावाहिक ज्ञान भी अपूर्वं-अपूर्वं पर्याय को ही जानते हैं । तो फिर उनको प्रमाणता की निवृत्ति के लिए अपूर्वं विशेषण लगाने को अवश्यकता ही क्या है ? द्रव्य को अपेक्षा से इन ज्ञानों को गृहीतयाही मानना भी योग्य नहीं, द्यों कि द्रव्य नित्य है—त्रिकाल में एकरूप रहता है, अलएव गृहीत और ग्रहीण्यमाण अवस्थाओं में कोई भेद नहीं है । अतएव जैसे गृहीतयाही ज्ञान को अप्रमाण मानते हो, उसी प्रकार ग्रहीण्यमाणप्राही को भी अप्रमाण मानता चाहिए । तात्पर्य यह है कि बर्तमान में किसी पदार्थ को ग्रहण करनेवाला ज्ञान इस कारण अप्रमाण नहीं माना जाता कि वह पदार्थ अविष्यत् काल में भी ग्रहण किया जायगा । इसी प्रकार भूतकाल में ग्रहण किये हुए पदार्थ को बर्तमान में ग्रहण करनेवाला ज्ञान भी अप्रमाण नहीं हो सकता । जब ग्रहीण्यमाण अवस्था और गृहीत अवस्थाओं में कोई अन्तर नहीं है—वोनों में एक ही द्रव्य विद्यमान रहता है, तब किस विशेषता के आधार पर

गृहीत्यमाणग्राहिणः प्रामाण्यम्, न गृहीतग्राहिणः ? अपि च अवग्रहेत्रादीनां गृहीतग्राहित्वेऽपि प्रामाण्यमिष्यते एव । न चैषां भिन्नविषयत्वम् ; एवं ह्यवगृहीतस्य अनीहनात्, ईहितस्य अनिश्चयादसमझसमापद्येत । न च पर्यायापेक्षया अनधिगतविशेषाद्यसायादपूर्वार्थत्वं वाच्यम् ; एवं हि न कस्यचिद् गृहीतग्राहित्वमित्युक्तप्राप्यम् ।

१६. स्मृतेऽच प्रमाणत्वेनाभ्युपगताया गृहीतग्राहित्वमेव सत्स्वम् । येरपि स्मृतेरप्रामाण्यमिष्टं तेरप्यथर्दिनुत्पाद एव हेतुत्वेनोबलो न गृहीतग्राहित्वम्, यदाह-

“न स्मृतेरप्रमाणत्वं गृहीतग्राहिताङ्कृतम् ।

अपि त्वनर्थजन्म्यत्वं तदप्रामाण्यकारणम्” [न्यायम० प० २३]

१७—अथ प्रमाणलक्षणप्रतिक्षिप्तानां संशयान्तर्यवसायविपर्ययाणां लक्षणमाह—

अनुभयत्रोभयकोटिस्पर्शो प्रत्ययः संशयः ॥ ५ ॥

१८. अनुभयस्वभावे वस्तुनि उभयान्तपरिभर्मशीनशीलं ज्ञानं सवित्स्वना शेत इवात्मा यस्मिन् सति स संशयः, यथा अनधिकारे दुशादृष्टिकारकस्तुप्लम्भात् साधकबाधक प्रमाणभावे सति ‘स्थाणुर्बां पुरुषो वा’ इति प्रत्ययः ।

गृहीत्यमाणग्राही ज्ञान को प्रमाण और गृहीतग्राही ज्ञान को अप्रमाण माना जाता है ? इसके अतिरिक्त अवग्रह, ईहा, अवाय आदि ज्ञान गृहीतग्राही होने पर भी प्रमाण माने ही जाते हैं । इन ज्ञानों का विषय भिन्न-भिन्न द्रव्य नहीं होता । यदि इन ज्ञानों के द्रव्य भिन्न भाने जायेगे तो अवग्रह के द्वारा ज्ञाना हुवा द्रव्य ईहा का विषय नहीं हो सकेगा और ईहा के विषयस्तु द्रव्य का अवायदि के द्वारा निष्पत्य नहीं हो सकेगा । इस प्रकार सब असमंजस हो जाएगा । यदि ऐसा कहें कि पर्याय की अपेक्षा से (इनके विषयोंमें विभिन्नता होने के कारण) उत्तरोत्तर ज्ञान अगृहीत विषय का विवरण करते हैं अतः इन सभी ज्ञानों के विषय अदूर्ब होते हैं । तो यह ठीक नहीं होगा, वयोंकि ऐसा मानने पर कोई भी ज्ञान गृहीतग्राही नहीं हो सकेगा । यह बात कही जा चुकी है ।

१६—स्मृति को प्रमाण रूप से स्वीकार किया गया है वह गृहीतग्राही ही है । जिन लोगोंने स्मृति को प्रमाण नहीं माना है उन्होंने भी इसके लिए “पदार्थ से उत्पन्न न होना” कारण बताया है, न कि गृहीतग्राहिता को । जैसा कि कहा है-न स्मृतेः “इत्यादि । स्मृति की अप्रमाणता गृहीतग्राहिताके कारण नहीं, अपितु ‘पदार्थ से उत्पन्न न होना’ उसकी अप्रमाणता का कारण है ।

१७—अब प्रमाणलक्षण के प्रसंगपर निषेध के लिये प्रस्तुत संशय, अनश्ववसाय और विपर्यय के लक्षण कहते हैं । [अनुभयव० इति] जिस वस्तु में दो धर्म नहीं हैं, उसमें दो धर्मों को स्पर्श करने अनिश्चित रूप से ज्ञानने वाला ज्ञान संशय कहलाता है । (१५३)

१८—उभय स्वभाव से रहित वस्तु में उभय धर्मों-कोटियों का स्पर्श करने वाला ज्ञान संशय कहा गया है । इसमें आरम्भ पूरी तरह सो सा जाता है । इसका अनधिकार है, दूर से ऊँची कोई वस्तु दिखाई देती हो और साधक-बाधक प्रमाणों का अमाव हो—उस समय ‘यह ठूँठ खड़ा है या पुरुष ?’ इस प्रकार कर जो सामान्य ज्ञान होता है वह संशय है ।

अनुभयत्रग्रहणमुभयरूपे वस्तुन्युभयकोटिसंस्पर्शेऽपि संशयत्वनिराकरणार्थम्, यथा 'अस्ति च नास्ति च घटः', नित्यद्वचानित्यद्वचात्मा' इत्यादि ॥५॥

विशेषानुल्लेख्यनध्यवसायः ॥ ६ ॥

१९. द्वारान्धकारादिवज्ञादसाधारणधर्मावसर्जरहितः प्रत्ययः अनिश्चयात्मक-त्वात् अनध्यवसायः, यथा 'किमेतत्' इति । यदप्यविकल्पकं प्रथमक्षणभावि परेषां प्रत्यक्षप्रमाण वेनाभिमतं तदप्यनध्यवसाय एव, विशेषोल्लेखस्य तत्राप्यभावादिति ॥६॥

अतस्मिन्मतदेवेति विपर्ययः ॥ ७ ॥

२०. यत् ज्ञाने प्रतिभाससे तद्रूपरहिते वस्तुनि 'तदेव' इति प्रत्ययो विपर्यास-रूपत्वाद्विपर्ययः, यथा धातुवैषम्यान्मधुरादिषु द्रव्येषु तिक्तादिप्रत्ययः, तिमिरादिदोषात् एकस्मिन्नपि चन्द्रे द्विचन्द्रादिप्रत्ययः, नौयानात् अगच्छत्स्वपि वृक्षेषु गच्छत्प्रत्ययः आशुभ्रमणात् अलातादावचकेऽपि चक्रत्वय इति । अबसिंहं प्रमाणलक्षणम् ॥७॥

ऊँचाई ठूँड़ में भी होती है, पुरुष में भी होती है उसका ज्ञान तो होता है । किन्तु पुरुष और ठेठ में पाये जाने वाले विशेष धर्म भालूम नहीं होते । इस कारण एक ही वस्तु में स्थानान्तर और पुरुषत्व, यह दो कोटियां प्रतीत होती हैं, परन्तु निश्चय किसी का हो नहीं पाता । ऐसे ज्ञान को संशय समझना चाहिए ।

सूत्र में 'अनुभयत्र' पद का प्रयोग किया गया है, वह इस बातको प्रकट करने के लिए है कि जिस वस्तु में दोनों ही धर्म विद्यमान हों, उसमें यदि दोनों धर्मों का बोध हो तो वह संशय नहीं कहलाता । जैसे-धृष्ट रूप-रूप से है और पर-रूप से नहीं है, आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी है । इत्यादि ॥ ६ ॥

अनध्यवसायका लक्षण

विशेष का उल्लेख न करने वाला ज्ञान अनध्यवसाय कहलाता है ॥ ६ ॥

१९-२०-रो, अध्यकार अ दिक्षारणैः से असाधारण धर्म के विचार से रहित ज्ञान अनिश्चयात्मक होने से अनध्यवसाय कहलाता है; जैसे- 'अह यथा है !' इस प्रकार का ज्ञान ।

प्रथम क्षण में उत्पन्न होने वाला निर्धिकल्पक ज्ञान भी, जिसे बीदू प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं, बास्तव में अनध्यवसाय हो जाता है, क्योंकि उसमें भी विशेष धर्म का उल्लेख नहीं होता है ॥६॥

विपर्यय ज्ञान का लक्षण

अतद्रूप वस्तु में तद्रूपता का विश्वाद हो जाना विपर्यय ज्ञान कहलाता है ॥७॥

२२-ज्ञान में जो वस्तु प्रतीत हो रही है वह बास्तव में न हो किर भी उसकी निश्चयात्मक प्रतीत होना विपर्यय ज्ञान है, क्योंकि वह विपरीत है । उदाहरणार्थ-धातु (पिता) की विद्यमान से भृत्यों का कटुक प्रतीत होना, तिमिर रोग आदि दोष के कारण एक ही चन्द्रमा में भी चन्द्रमा आदि का प्रतीत होना, वेग के साथ नीका के चलने से नहीं चलते हुए वृक्षों का भी चलना प्रतीत होना या शीत्र भ्रमण के कारण अचक्र रूप अलात आदि का चक्र के रूप में प्रतिमास होना । यहीं प्रमाण का लक्षण समाप्त हुआ ॥७॥

२१. ननु अस्तु बतलक्षणं प्रमाणम् तत्प्रामाण्यं तु स्वतः परतो वा निश्चीयेत् ? न तत्प्रत् स्वतः ; तद्वि इव (स्व) संविदितत्वात् ज्ञानमित्येव गृह्णीयात्, न पुनः सम्यक्त्वलक्षणं प्रामाण्यम्, ज्ञानत्वमात्रं तु प्रमाणाभाससाधारणम् । अपि च स्वतः प्रामाण्ये सर्वेषामविप्रतिपत्तिप्रसङ्गः । नापि परतः ; परं हि तदगोचरगोचरं वा ज्ञानम् अभ्युपेयेत्, अर्थक्रियानिभासं वा, तदगोचरतान्तरीयकार्यवर्णनं वा ? तच्च सर्वे स्वतोऽनवधृतप्रामाण्यमव्यवस्थितं सत् कर्त्त पूर्वं प्रबर्तकं ज्ञानं व्यवस्थापयेत् ? स्वतो वा ऽस्य प्रामाण्ये कोऽपराधः प्रबर्तकज्ञानस्य यैव तस्यापि तत्र स्थात् ? न च प्रामाण्यं ज्ञायते स्वत इत्युक्तमेव, परतस्त्वनवस्थेत्याशङ्क्याह —

प्रामाण्यनिश्चयः स्वतः परतो वा ॥ ८ ॥

२२—प्रामाण्यनिश्चयः बवचित् स्वतः यथाऽभ्यासदशापश्चे स्वकरतलादिज्ञाने, स्नानपानावगाहनोदन्योपशमादावर्थक्रियानिभासे वा प्रत्यक्षज्ञाने; नहि तत्र परीक्षा-

२१—ज्ञानका—आपने प्रमाण कर जो लक्षण कहा, सो ठीक है, परन्तु उसकी प्रमाणता का निश्चय स्वतः होता है या परतः ? अर्थात् वही प्रमाण अपनी प्रमाणता का निश्चय कर लेता है अथवा किसी दूसरे प्रमाण से उसका निश्चय होता है ?

एत्येक ज्ञान स्वसंबोधी है, अतएव प्रमाणमूल ज्ञान अपने ज्ञानत्व के स्वरूप के सो सबंही ज्ञान लेगा, परन्तु अपने सम्यक्षपन—प्रमाणत्व को स्वतः नहीं ज्ञान सकता । और ज्ञानत्व सो प्रमाणाभास में भी समान रूप से रहता है । इसके अतिरिक्त यदि प्रामाण्य का ज्ञान स्वतः हो जाय तो किसी को विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए ।

यदि प्रमाणता किसी दूसरे ज्ञान से जानी जाती है तो वह दूसरा ज्ञान कौन-सा है ? प्रथम ज्ञान के विषय को ही पढ़ना करने वाला ज्ञान, अर्थक्रिया का ज्ञान अथवा प्रथम ज्ञान के विषय (जैसे अग्नि) के विना म होने वाले पदार्थ (षट्म) का ज्ञान ? इन तीनों ही ज्ञानों की प्रमाणता का अब तक निश्चय नहीं हो जाएगा तब तक ये ज्ञान प्रथम ज्ञान की प्रमाणता के निश्चायक नहीं हो सकते, यदि इन ज्ञानों की प्रमाणता का निश्चय स्वतः हो जाता है तो प्रथम ज्ञान ने क्या अपराध किया है जिससे वह भी अपनी प्रमाणता का निश्चय स्वतः न कर सके ? कदाचित् कहा जाय कि इन ज्ञानों की प्रमाणता भी परतः—दूसरे ज्ञान से निश्चय होती है तो अनवस्था दोष की प्राप्ति होती है, अथवा जैसे प्रथम ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय करने के लिए दूसरे ज्ञान की आवश्यकता पड़ी बैसे ही दूसरे ज्ञान की प्रमाणता के निश्चय के लिए तीसरे की आवश्यकता होगी । इसी प्रकार आगे भी अन्यान्य ज्ञानों की कल्पना करते-करते कहीं अन्त ही नहीं होगा । इस आङ्गका का समाधान करने के लिए अगला सूत्र है ।

अर्थ—ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय कभी स्वतः और कभी परतः होता है ॥ ८ ॥

जब हमें अपनी हवेलो आदि अव्यस्त वस्तु का प्रत्यक्ष होता है अथवा स्नान, पान अवगाहन, पिपासा की उपशान्ति आदि अर्थक्रिया का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, तब प्रत्यक्ष की प्रमाणता का स्वतः निश्चय हो जाता है । बुद्धिमानों को ऐसे ज्ञानों के प्रामाण्य की परीक्षा करने

कङ्कासित प्रेक्षावताम्, तथा हि-जलज्ञानम्, ततो दाहपिपासासंस्य तत्र प्रवृत्तिः ततस्त-
त्प्राप्तिः, ततः स्नानपानादीनि, ततो दाहोदन्योपशम इत्येतावतैव भवति कृती प्रमाता,
न पुनर्दहोदन्योपशमज्ञानमपि परीक्षते, इत्यस्य स्वतः प्रामाण्यम् । अनुमाने तु सर्व-
स्मिन्नपि सर्वथा निरस्तसमस्तव्यभिचाराशङ्के स्वत एव प्रामाण्यम्, अव्यभिचारिलि-
ड्गसमुत्थत्वात्; न लिङ्गाकारं जानं लिङ्गं विना, न च लिङ्गं लिङ्गिनं विनेति ।

२३ कवचित् परतः प्रामाण्यनिश्चयः, यथा अनभ्यासदशापन्ने प्रत्यक्षे । नहि तत्
अर्थेन गृहीताव्यभिचारभिति तदेकदिष्यात् संवादकात् ज्ञानान्तराद्वा अर्थक्रियामिर्भा-
साद्वा, नान्तरीयार्थदर्शनाद्वा तस्य प्रामाण्यं निश्चीयते । तेषां च स्वतः प्रामाण्यनिश्च-
यास्तानवस्थादिदौस्थ्यावकाशः ।

२४. शब्दे तु प्रमाणे हृष्टार्थेऽर्थोऽव्यभिचारस्य दुर्जानत्वात् संवादाद्यधीनः परतः
प्रामाण्यनिश्चयः; अहृष्टार्थे तु हृष्टार्थग्रहोपराग-नष्ट-मुष्टचादिप्रतियादकानां संवादेन
प्रामाण्यं निश्चयत्य संवादमन्तरेणाण्याप्तोवस्तत्वेनैव प्रामाण्यनिश्चय इति सर्वमुपपञ्चम् ।
की आवश्यकता नहीं रहती । दाह या प्यास से पीड़ित मनुष्य को जब जल का जान होता है तो
वह 'जल है' ऐसा जान होते ही उसमें प्रवृत्ति करता है । जल की प्राप्ति होती है, जलप्राप्ति
होने पर उसमें स्नान करता है । प्यासा हो तो उसे पीता है, और उसकी बाह या प्यास बुझ
जाती है । इसी से प्रमाता कृतार्थ हो जाता है । यह या उस गुणों के लाल ही अनुभव की
परीक्षा नहीं करता । अर्थात् वह दाह या पिपासा ज्ञान होने का अनुभव करता है और उस
अनुभव की सत्त्वाई का निश्चय करने के लिए दूसरे प्रमाण की लोज नहीं करता उसे अपने
उस अनुभव को प्रामाणिकता स्वतः ही प्रतीत होती है । जिनमें किसी भी प्रकार के दोष की
आशंका नहीं हो तो उन सब अनुभानों में भी स्वतः प्रमाणता का निश्चय हो जाता है, क्योंकि
वे अध्यभिचारित लिङ् (साधन) से उत्तम होते हैं । साधन (धूम) का जान साधन के हुए
जिना नहीं हो सकता और साधन, साध्य (अग्नि) के विना नहीं हो सकता ।

कहीं-कहीं प्रामाण्य का निश्चय परतः (दूसरे जान से) भी होता है । जब किसी अनभ्यस्त
वस्तु का प्रत्यक्ष होता है तब उस प्रत्यक्ष का पदार्थ के साथ अव्यभिचार निश्चित नहीं होता,
ऐसी दियति में किसी अन्य ज्ञान से ही उसको प्रमाणता का निश्चय हो सकता है । वह दूसरा
ज्ञान यातो प्रथम ज्ञान के विषय को जानने वाला उसका पोषक हो, अर्थक्रिया का ज्ञान ही अथवा
(प्रथम ज्ञान द्वारा प्रदर्शित पदार्थ के) अविनाशाद्वा पदार्थ का वर्णन हो । इन तीनों ज्ञानों की प्रमा-
णता का निश्चय स्वतः ही होता है, अतएव अनवस्था आदि दोषों के लिए कोई अवकाश नहीं है ।

जो आपम प्रत्यक्ष अर्थ का प्रतिपादक है, उसकी प्रमाणता यदि दुर्जय हो तो वह संवाद
आदि से निश्चित होती है । प्रत्यक्ष दोषों वाले प्रहूपराग, नष्ट, मुष्ट आदि के प्रतिपादक
वाक्यों की प्रमाणता संवाद के द्वारा निश्चित करने से अहृष्ट (परोक्ष) पदार्थ के प्रतिपादक
आगम की प्रमाणता संवाद के विना भी, केवल आपकथित होने से ही निश्चित हो जाती है ।
इस प्रकार ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय करने में कोई गड़बड़ नहीं होती ।

२५. “अर्थेषिलविधिहेतुः प्रमाणम्” इति नैयायिकाः । तत्रार्थेषिलविधिहेतुः हेतुस्वं यदि निमित्तत्वमात्रम्; तदा तत् सर्वकारकसाधारणमिति कर्तृकर्मादेरपि प्रमाणत्वप्रसंगः । अथ कर्तृकर्मादिविलक्षणं करणं हेतुशब्देन विवक्षितम्; तर्हि तत् ज्ञानमेव युक्तं नेन्द्रियसञ्चिकर्षादि, यस्मिन् हि सत्यर्थं उपलब्धो भवति स तत्करणम् । न अ इन्द्रियसञ्चिकर्षसामर्यादौ सत्यपि ज्ञानाभावे स भवति, साधकतम् हि करणमत्यवहितफलं च तदिष्यते, व्यवहितफलस्यापि करणत्वे दधिभोजनादेरपि तथाप्रसङ्गः । तत्र ज्ञानादत्यत्र प्रमाणत्वम्, अन्यश्रोपचारात् ।

२६—“सम्यग्यनुभवसाधम् प्रमाणम्” (न्यायमा० पृ० १) इत्यत्रापि साधनप्रहणात् कर्तृकर्मनिरालेन करणस्य प्रमाणत्वं सिद्ध्यति, तथाऽप्यव्यवहितफलत्वेन साधकतमत्वं ज्ञानस्थैर्येति लदेब प्रमाणत्वेनष्टव्यम् ।

२७—“प्रमाणमविसंबादि ज्ञानम्” (प्रमाणमा० २, १) इति सौम्यताः । तत्रापि यद्य विविक्तपकं ज्ञानम्; तदा न तद् व्यवहारजननसमर्थम् । सांव्यवहारिकस्य चेतत् प्रमाणस्य
— (अब पराभिमत् प्रमाणलक्षणों पर विचार किया जाता है ।)

२८—नैयायिक मत के अनुसार अर्थ की उपलब्धिं अर्थात् जप्ति में जो हेतु स्त्रो वही प्रमाण है । इस लक्षण में ‘हेतु’ शब्द से यदि ‘निमित्तत्व मात्र’ अर्थ लिया जाय तो यह निमित्त सभी करणों में समान है, अतएव कर्ता और कर्म आदि भी प्रमाण हो जाएँगे । सत्यर्थं यह है कि अर्थ (प्रमेय) की उपलब्धि में प्रमेय (कर्म) भी निमित्त होता है और प्रमाता (कर्ता) भी निमित्त होता है । अतएव प्रमेय और प्रमाता को भी प्रमाण मानना पड़ेगा ।

यदि ‘हेतु’ शब्द का अर्थ कर्ता और कर्म से विलक्षण केवल ‘करण’ ही भावा जाय अर्थात् अर्थेषिलविधि के करण को ही प्रमाण कहा जाय तो फिर ज्ञान को ही प्रमाण मानना चाहिए, इन्द्रियसञ्चिकर्षं आदि को नहीं, जिसके होने पर अर्थ उपलब्ध होता है, वही अर्थ की उपलब्धि में करण हो सकता है । इन्द्रियसञ्चिकर्षं आदि सामग्रों के विश्वान रहने पर भी ज्ञान के अभाव में अर्थ की उपलब्धि नहीं होती (अतएव वह करण नहीं है ।) करण साधकतम होता है और उसके होने पर कार्य की उत्पत्ति में व्यवधान नहीं होता । जिसके होने पर भी कार्य की उत्पत्ति में व्यवधान हो, उसे भी यदि करण माना जाय तो दधि भोजन आदि को भी करण (और करण होने से प्रमाण) मानना पड़ेगा । अतएव उपचार के सिवाय ज्ञान से भिन्न सञ्चिकर्षं आदि प्रमाण नहीं ही सकते ।

२९—सम्बद्ध अनुभव का साधन प्रमाण कहलाता है इस लक्षण में भी ‘साधन’ शब्द से कर्ता और कर्म का निराकरण करके करण की ही प्रमाणता सिद्ध होती है । और अव्यवहितफल (कार्य) बाला होने से ज्ञान ही साधकतम है, अतएव ज्ञान को ही प्रमाण स्वीकार करना चाहिए ।

बीदूषस में अविसंबादी अर्थात् सफल कियाजनक ज्ञान प्रमाण माना गया है । किन्तु ज्ञान यदि निविकल्पक होगा तो वह व्यवहारजनक नहीं हो सकता । आप सांव्यवहारिक प्रमाण का यह लक्षण मानते हैं । ऐसी स्थिति में निविकल्पक ज्ञान कैसे प्रमाण हो सकता है ?

लक्षणमिति च भवतः, तत्कथं तस्य प्रामाण्यम्? उत्तरकालभाविनो व्यवहारजननस-
मर्थाद्विकल्पात् तस्य प्रामाण्ये याचितकमण्डनन्यायः, वरं च व्यवहारहेतोविकल्पस्यैव
प्रामाण्यमभ्युपगन्तुम्; एवं हि परम्परापरिश्रमः परिहृतो भवति। विकल्पस्य चाप्रामाण्ये
कथं तश्चिमित्तो व्यवहारोऽविसंवादी? दृष्टः (इय) विकल्प (लप्य) योरर्थयोरेकीकरणेन
तैमिरिकज्ञानवत् संवादाभ्युपगमे चोपचरितं संवादित्वं स्यात्। तस्मादनुपचरितम-
विसंवादित्वं प्रभाणस्य लक्षणमिच्छता निर्णयः प्रभाणमेष्टव्य इति ॥८॥

२८—प्रमाणसामान्यलक्षणसूक्त्वा परीक्ष्य च विशेषलक्षणं बक्तुकामो विभाग-
मन्तरेण तद्वचनस्याशक्यत्वात् विभागप्रतिपादनार्थमाह—

प्रमाणं द्विधा ॥ ९ ॥

२९—सामान्यलक्षणसूत्रे प्रभाणश्चर्हणं परीक्षयान्तरितमिति न 'तदा' परामृष्टं
किन्तु साक्षादेवोक्तं प्रमाणम्-इति। द्विधा द्विप्रकारमेव, विभागस्यावधारणफलस्वात्।
तेन प्रत्यक्षमेवेकं प्रमाणमिति चावकिः, प्रत्क्षानुमानागमाः प्रभाणमिति वैशेषिकाः,

कदाचित् यह कहा जाय कि निविकल्पक ज्ञान के पश्चात् सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता
है। उसको उत्पन्न करने के कारण निविकल्प ज्ञान प्रभाण कहलाता है। सो यह तो मार्गे हुए
ज्ञानशूलणों से हैऽहा तदात्मा है। इसने ने गहरे जाग्ना है कि व्यवहार को उत्पन्न करने वाले सवि-
कल्प ज्ञान को ही प्रभाण भजन लिया जाय। ऐसा मानने से परम्परापरिश्रम नहीं करना पड़ता।
इसके अतिरिक्त, विकल्प ज्ञान को अप्रभाण मानने पर उसके निमित्त से होने वाला व्यवहार
अविसंवादी कैसे हो सकता है? दृश्य (निविकल्प के विषय) का और विकल्प (सविकल्प ज्ञान
के विषय) का एकीकरण कर लेने से, तैमिरिक ज्ञान के समान, संवाद स्वीकार करोगे तो
उसका संवादकर्त्तव्य उपचरित ही होगा। अतः यदि शीढ़ वास्तविक अविसंवादी ज्ञान को ही प्रभाण
मानना चाहते हैं तो उन्हें निर्णय-सविकल्प-निश्चयात्मक-ज्ञान को ही प्रभाण मानना चाहिए ॥९॥

२८—प्रभाण का लक्षण बतलाया जा चुका है। उसकी परीक्षा भी की जा चुकी है। अब
प्रभाणविशेष का लक्षण कहना है। किन्तु प्रभाण के भेदों का कथन किये बिना विशेष लक्षण
बतलाया संभव नहीं। अतएव भेदों का प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—प्रभाण दो प्रकार का है ॥९॥

२९—यद्यपि प्रभाणसामान्य के लक्षण वाले सूत्र (सूत्र २)में 'प्रभाण' शब्द का ग्रहण
किया है, फिर भी यहाँ उसके लिए 'तत्' शब्द का प्रयोग न करके साक्षात् 'प्रभाण' शब्द का
प्रयोग किया है। इसका कारण यह है कि दोनों के शीघ्र में परीक्षा का अन्तर पड़ गया है—
शीघ्र में प्रभाण की परीक्षा की गई है। प्रभाण दो प्रकार का है, अर्थात् शो ही प्रकार का है,
जब्तोकि एवं का फल अवधारण करना होता है। अतएव एक मात्र प्रत्यक्ष को ही प्रभाण
मानने वाले चावकिक का, प्रत्यक्ष अनुमान और आगम को प्रभाण मानने वाले वैशेषिकों का,

तत्त्वेति साङ् ख्याः, सहोपमानेन चत्वारीति नैयायिकाः, सहार्थपत्त्या पञ्चेति
प्राभास्तराः, सहाऽभावेन पञ्चिति भाद्राः इति त्यूनाधिकप्रमाणवादिनः प्रतिशिष्टा : ।
तत्प्रतिक्षेपश्च बध्यते ॥९॥

३०—तद्हि प्रमाणद्वैविध्यं कि तथा यथाहुः सौगताः “प्रत्यक्षमनुमानं च” (प्रमाण ०
१. २ न्यायविदि ० १. ३. १) इति, उत्तात्यथा ? इत्याह—

प्रत्यक्षं परोक्षं च ॥१०॥

३१-अश्नुते अक्षणोति वा व्याप्त्योति सकलद्वयक्षेत्रकालभावान्तिति अक्षो जीवः
अश्नुते विषयम् इति अक्षम्—इन्द्रियं च । प्रतिः प्रतिगतार्थः, अक्षं प्रतिगतं तदा-
श्चितम्, अक्षाणि चेन्द्रियाणि तानि प्रतिगतमिन्द्रियाण्याश्रित्योजिज्ञहीते यत् ज्ञानं तत्
प्रत्यक्षं विषयमाणलक्षणम् । अक्षेभ्यः परतो वर्तते इति परेणेन्द्रियादिना चोक्ष्यते इसि
परोक्षं विषयमाणलक्षणमेव । चकारः स्वविषये द्वयोस्तुत्यद्वलत्वव्यापत्तार्थः । तेन यदाहुः
“सकलप्रमाणज्येष्ठं प्रत्यक्षम्” इति तदपास्तम् । प्रत्यक्षपूर्वकत्वादितरप्रमाणानां
तस्य ज्येष्ठतेति चेत् ; न ; प्रत्यक्षस्यापि प्रमाणान्तरपूर्वकत्वोपलब्धेः, लिङ्गात् आप्तो-
पदेशाद्वा बहुधादिकमवगम्य प्रवृत्तस्य तद्विषयप्रत्यक्षोत्पत्तेः ॥१०॥

तथा उसने ही मानने वाले सालयों का, उपमानसहित चार प्रमाण मानने वाले नैयायिकों का,
अर्थापत्तिसहित पाँच प्रमाण मानने वाले प्राभास्तरों का और अभाव के साथ छह प्रमाण मानने
वाले भाद्रों का-इस प्रकार यून या अधिक प्रमाण मानने वालों के मत का निषेध किया गया
है । इसका खण्डन आगे करेंगे ॥१॥

३०—तो क्या प्रमाण के दो भेद वही प्रत्यक्ष और अनुभान हैं, जैसा कि बौद्ध कहते हैं ?
अथवा और कोई अन्य हैं ? इस प्रश्न का उत्तर—

अर्थं—प्रत्यक्ष और परोक्ष—यह दो प्रकार के प्रमाण हैं ॥१०॥

‘अश्नुते’ या ‘अक्षणोति’ इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो सकल द्वय, क्षेत्र, काल और भावों
को व्याप्त करता है, वह ‘अक्ष’ अर्थात् जीव कहलाता है । जो अपने विषय को व्याप्त करता
है, उसे भी अक्ष कहते हैं । यहाँ ‘अक्ष’ का अर्थ इन्द्रिय है । जो ज्ञान ‘अक्ष’ पर आश्रित हो अर्थात्
इन्द्रियों के नियम से उत्पन्न होता हो वह ‘प्रत्यक्ष’ कहलाता है । उसका लक्षण आगे कहा
जाएगा । जो ज्ञान इन्द्रियों से पर हो वह या जो पर-इन्द्रियों से उत्पन्न होता हो, वह परोक्ष
कहलाता है । उसका भी स्वरूप आगे कहा जाएगा ।

सूत्र में ‘च’ जो अद्यय है, वह इस तथ्य को सूचित करता है कि प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों
तुल्य बल वाले हैं । इससे ‘प्रत्यक्ष सकल प्रमाणों में ज्येष्ठ है’ इस मत का निराकरण हो जाता
है । अन्य प्रमाण प्रत्यक्षपूर्वक होते हैं, अतएव प्रत्यक्ष सब प्रमाणों में ज्येष्ठ है, ऐसा मानना
ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष भी अन्य प्रमाणपूर्वक बेखा जाता है । लिङ् या आप्तोपदेश से
अर्थात् पहले अनुभान या अभास से अग्नि आदि को ज्ञान कर प्रवृत्ति करने वाले को भी अग्नि
का प्रत्यक्ष होता है ॥१०॥

३२—न प्रत्यक्षादन्यत्प्रमाणमिति लौकायतिकाः । तत्राह-

व्यवस्थान्यधीनिषेधानां सिद्धेः प्रत्यक्षेतरप्रमाणसिद्धिः ॥ १३॥

३३—प्रमाणाप्रमाणविभागस्य, परबुद्धेः, अतीन्द्रियार्थनिषेधस्य च सिद्धिनित्य-
मानादिप्रमाणं विना । चावको हि काश्चिज्ञानव्यक्तीः संबादित्वेनाव्यभिचारिणी-
रूपलभ्यान्याश्च विसंबादित्वेन व्यभिचारिणीः, पुनः कालान्तरे तादृशीतराणां ज्ञान-
व्यक्तीनामवश्यं प्रमाणेतरते व्यवस्थापयेत् । न च सञ्चिहितार्थबलेनोत्पद्मानं पूर्वा-
परपरामर्जशून्यं प्रत्यक्षं पूर्वापिरकालभाविनीनां ज्ञानव्यक्तीनां प्रामाण्यप्रामाण्यव्यव-
स्थापकं निमित्तमुपलक्षयितुं अमते । न चायं स्वप्रतीतिगोचराणामपि ज्ञानव्यक्तीनां
परं प्रति प्रामाण्यप्रामाण्यं वा व्यवस्थापयितुं प्रभवति । तस्माद्यथाद्बृहद्ज्ञानव्यवित-
साधमर्यद्वारेणैदानीन्द्रियज्ञानव्यक्तीनां प्रामाण्यप्रामाण्यव्यवस्थापकं परप्रतिपादकं च
परोक्षान्तर्गतमनुभानलयं प्रमाणान्तरसुपासीत ।

३४—अपि च (अ)प्रतिपित्तिसत्त्वर्थं प्रतिपादयन् ‘नायं लौकिको न परीक्षकः’
इत्युत्सर्वदुपैक्षणीयः स्यात् । न च प्रत्यक्षेण परचेतोवृत्तीनामधिगमोस्ति । चेष्टा-
विशेषदर्शभासदद्वगमे च परोक्षस्य प्रामाण्यमनिच्छतोऽप्यायातम् ।

३२—प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नहीं है, इस चावकि मत के विषय में कहते हैं—

अर्थ—प्रमाण अप्रमाण की व्यवस्था, अन्य को बुद्धि तथा पर-लोक आदि का निषेध
करने को सिद्ध होने से ग्रन्थ प्रमाण की सिद्धि होती है ॥ १३॥

३३—प्रमाण और अप्रमाण का विभाग, पर की बुद्धि और अतीन्द्रिय पदार्थ का निषेध
अनुभान प्रमाण को स्वीकार किये विना नहीं हो सकता ।

चावकि किन्हीं ज्ञानों को संबादक समझ कर प्रमाण और किन्हीं को विसंबादक समझ
कर अप्रमाण मानते हैं । पुनः कालान्तर में उन्हीं के समान संबादक ज्ञानों की प्रमाणता और
अन्य प्रकार के ज्ञानों की अप्रमाणता की व्यवस्था करते हैं । किन्तु सञ्चिहित (इन्द्रियसम्बद्ध)
पदार्थों के बल से उत्पन्न होने वाला और आगे-पीछे का विचार न करने वाला प्रत्यक्ष यह नहीं
कर सकता । वह पूर्वापिर काल में होने वाले ज्ञानविशेषों की प्रमाणता या अप्रमाणता का
विचार करने में समर्थ नहीं है । अतएव पूर्वनिमूल ज्ञान की समानता के आधार पर वर्तमान-
कालीन ज्ञान की प्रमाणता अथवा अप्रमाणता का निर्णय करने वाला तथा उस निर्णय को दूसरों
के समक्ष प्रतिपादन करने वाला एक पृथक् ही प्रमाण स्वीकार करना चाहिए । वह प्रमाणा-
न्तर परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत अनुभान ही हो सकता है ।

इसके अतिरिक्त-दूसरा जिस अर्थ को समझना नहीं चाहता, उसे समझता हुआ यह
चावकि न लौकिक (लोक-व्यवहार में कुशल) कहता है और न प्रामाणिक (प्रमाणपूर्वक
व्यवहार करने वाला) ही । अतएव उन्मत्त पुरुष की तरह उपेक्षणीय होगा । प्रत्यक्ष से दूसरे
की वित्तवृत्तियाँ ज्ञानी नहीं जा सकतीं । विशेषप्रकार की चेष्टा देख कर दूसरे की इच्छा को
दिना चाहे भी ज्ञानने की बात कही जाय तो परोक्ष की प्रमाणता सिद्ध होती है । तात्पर्य यह

३५—परलोकादिनिषेधश्च न प्रत्यक्षमात्रेण जायः कर्तुम्, समिहितमात्रविषयत्वात्तर्थ । परलोकादिकं चाप्रतिषिद्धं तायं सुखमास्ते, प्रमाणान्तरं च नेच्छतीति डिम्भहेवाकः ।

३६—किञ्चन्प्रत्यक्षस्यार्थव्यभिचारादेव प्राप्ताण्यं तच्चार्थप्रतिबद्धलिङ्गशब्दद्वारा समुन्मज्जतः परोक्षस्याप्यर्थव्यभिचारादेव कि नेष्टते ? व्यभिचारिणोपि परोक्षस्य दर्शनादप्राप्तमिति चेत्; प्रत्यक्षस्यापि तिमिरादिदोषादप्रमाणस्य दर्शनात् सर्वत्राप्राप्तप्रसंगः । प्रत्यक्षाभासं तदिति चेत्; इतरत्रापि तुल्यमेतदन्यत्र पक्षपातात् । धर्मकीर्तिरप्येतदाह-

“प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गते: ।

प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित् ॥१॥

अर्थस्यासम्भवेऽभावात् प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणता ।

प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्देतुत्वे समं ह्यम्” ॥२॥ इति ।

है कि दूसरे की मनोवृत्ति को समझकर उसी के अनुसार बस्तु का प्रतिपादन करने के लिए भी प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य (अनुमान) प्रमाण स्वीकार करना पड़ेगा ।

३५—और अकेले प्रत्यक्षप्रमाण से परलोक,आत्मा,पुण्य-पाप आदि का निषेध नहीं किया जा सकता, वयोंकि प्रत्यक्ष तो इन्द्रियसम्बद्ध पदार्थों को ही जान सकता है । चार्वाक परलोक आदि का निषेध किये बिना थैन नहीं पाता और निषेध करने के लिए प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण भी स्वीकार नहीं करता ! यह बाल-हठ ही है ।

३६—आखिर प्रत्यक्ष की क्यों प्रमाण माना है ? इसी कारण तो कि वह अर्थव्यभिचारी है, अर्थात् पदार्थ के होने पर होता है और नहीं होने पर नहीं होता है । किन्तु यह अर्थव्यभिचार तो अविनाभावी लिंग से उत्पन्न होने वाले अनुमान में और अर्थ-प्रतिबद्ध शब्द द्वारा होने वाले शब्द प्रमाण में भी होता ही है । फिर उन्हें प्रमाण क्यों नहीं मानते ? कहाँचित् कहा जाय कि परोक्ष प्रमाण व्यभिचारी (पदार्थ के बिना होने वाला) भी देखा जाता है, अतएव वह अप्रमाण है तो तिमिर आदि शोष के कारण प्रत्यक्ष सी व्यभिचारी देखा जाता है । उसे भी सर्वत्र अप्रमाण मानना पड़ेगा । प्रत्यक्ष जब व्यभिचारी होता है तो अप्रमाण मानना पड़ेगा । प्रत्यक्ष जब व्यभिचारी होता है तो वह प्रत्यक्ष ही नहीं-प्रत्यक्षापात्र है, ऐसा कहा जाय तो परोक्ष के संबन्ध में भी यही बात कही जा सकती है । अर्थात् जब अनुमान और शब्द जान व्यभिचारी हों तो उन्हें भी अनुमान और शब्द नहीं, बरन् अनुमानाभास और शब्दाभास कहना चाहिये । पक्षपातसिद्धाय दोनों में और कोई अन्तर नहीं है । धर्मकीर्ति ने भी कहा है—

अर्थ—‘प्रमाण और अप्रमाण ज्ञान को समानता के आधार पर कालान्तर में होने वाले ज्ञानों की प्रमाणता और अप्रमाणता की व्यवस्था करने से, दूसरे की बुद्धि (या अप्रिप्राप्य) को समझने से तथा परलोक आदि का निषेध करने से प्रत्यक्ष के अतिरिक्त दूसरे प्रमाण का सद्भाव सिद्ध होता है ।’ यदार्थ के अभाव में न होने के कारण ही प्रत्यक्ष को प्रमाण माना जाता है, किन्तु

३७—यथोक्तसंख्यायोगेऽपि च परोक्षार्थविषयमनुमानमेव सौगतेरुपयम्यते; तद्युक्तम्; शब्दादीनामपि प्रमाणत्वात् तेषां चानुमानेऽन्तर्भविष्यितुमशक्यत्वात् । एकेन तु सर्वसङ्ग्राहिणा प्रमाणेन प्रमाणान्तरसंग्रहे नार्थं दोषः । तत्र यथा इन्द्रियज्ञानसात्मसंबोधनयोगिज्ञानानां प्रत्यक्षेण संग्रहे लक्षणस्याविशेषात् । स्मृत्यादीनां च विशेषलक्षणानि स्वस्थान एव बक्ष्यन्ते । एवं परोक्षस्योपमानह्य प्रत्यभिज्ञाने, अर्थापित्तेरनुमानेऽन्तर्भविष्येऽभिधास्यते ॥११॥

३८—यत्तु प्रमाणमेव न भवति न तेनान्तर्भूतेन बहिर्भूतेन वा किञ्चित् प्रयोजनम्, यथा अभावः । कथमस्याप्रमाण्यम्? निविषयत्वात् इति श्रूमः । तदेव कथम्? इति चेत्--

भावाभावात्मकत्वाद् वस्तुनो निर्विषयोऽभावः ॥१२॥

३९—नहि भावैकरूपं वस्तवस्ति विश्वस्य वैश्वरूप्यप्रसंगात्, नाप्यभावैकरूपं नीरूपत्वप्रसंगात्; किन्तु स्वरूपेण सत्त्वात् पररूपेण चासत्त्वात् भावाभावरूपं वस्तु सर्थेव प्रमाणानां प्रवृत्तेः । तथाहि-प्रत्यक्षं तावत् भूतलमेवेदं घटादिनं भवतीत्यन्वय-अविनाशूत् लिंग से उत्पत्ति होने वाले अप्रत्यक्ष में भी यही बात है । अतएव प्रत्यक्ष की अस्ति अप्रत्यक्ष (अनुमान) को भी प्रमाण मानना चाहिए ।

३७-बीढ़ प्रमाण की संख्या सो दो ही मानते हैं, मगर परोक्ष पदार्थ को विषय करने वाला सिर्फ अनुमान ही है ऐसा कहते हैं । उनका यह कथन युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि शाब्द (आगम) आदि भी प्रमाण हैं और अनुमान में उनका अन्तर्भव नहीं किया जा सकता है । सभी को संगृहीत कर लेने वाला एक (परेक नामक) प्रमाण मान लेने में यह दोष नहीं रहता । जैसे इन्द्रियज, भावानस, स्वसंबोधन और योगिज्ञान वर्ग प्रत्यक्ष में समावेश होता है, उसी प्रकार स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम का एक ही परोक्ष में अन्तर्भूत हो जाता है । इन सब में समान रूप से परोक्ष का लक्षण घटित होता है । स्मृति आदि के विशेष लक्षण उन-उन के स्थानों पर आगे बतलाए जाएंगे । परोक्ष उपमान का प्रत्यभिज्ञान में और अर्थापित्ति का अनुमान में समावेश होता है, यह भी आगे कहेंगे ॥११॥

३८-जो ज्ञान प्रमाण ही नहीं है, वह किसी के अन्तर्भूत है या बहिर्गत है, इससे कोई प्रयोजन नहीं, जैसे अप्रत्यक्ष का ज्ञान । प्रश्न--अभाव ज्ञान अप्रमाण क्यों है? उत्तर--अभाव ज्ञान का विषय ही कुछ नहीं है । प्रश्न--क्यों? उत्तर--इसका उत्तर इस सूत्र में देते हैं—

अर्थ--वस्तु भावात्मक-अभावात्मक है, अतः अभाव प्रमाण निविषय है ॥१२॥

३९—वस्तु एकान्त भावात्मक-सदूष-नहीं है । एकान्त भावात्मक हो तो प्रत्यक्ष वस्तु सर्वात्मक हो जायगी । और यदि एकान्त अभावात्मक हो तो उसका कोई स्वरूप ही नहीं रहेगा । अतः प्रत्यक्ष वस्तु स्वरूप से सत् और पररूप से असत् होने से भावाभावात्मक है और इसी रूप में वह प्रमाणों से ग्राह्य होती है । ‘यह भूतल ही है, घटादि नहीं है’ इस प्रकार विधि और

व्यतिरेकद्वारेण वस्तु परिच्छिद्धत् तदधिकं विषयमभावैकरूपं निराचष्ट इति कं विषयमाश्रित्याभावलक्षणं प्रमाणं स्यात् ? । एवं परोक्षात्प्रयि प्रमाणानि भावाभाव-रूपवस्तुयहणप्रबणान्येव, अन्यथाऽसङ्कीर्णस्वस्वविषयग्रहणासिद्धेः, यदाह-

“अपेतेति यो होत जावे भवति निर्णयः ।

नैव वस्तुवन्तराभावसंवित्यनुगमाद्वते ॥”

इति

[श्लोकवा० अभाव० श्लो. १५.]

४०—अथ भवतु भावाभावरूपता वस्तुनः, कि न इच्छन्नम् ?, वयमपि हि तथैव प्रत्यपीपदाम । केवलं भावांश इन्द्रियत्रिग्रुष्टत्वात् प्रत्यक्षप्रमाणगोचरः अभावांशस्तु न तथेत्यभावप्रमाणगोचर इति कथमविषयत्वं स्यात् ?, तदुक्तम्—

“न तावदिन्द्रियेणैषा नास्तीत्युत्थायते भवितः ।

भावांशेनैव संयोगो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि ॥१॥

गृहीत्या वस्तुसङ्कावं स्मृत्वा च प्रतियोगितम् ।

मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया ॥२॥”

इति ।

[श्लोकवा० ३ अभाव० श्लो. १८, २७ ।

निषेध के रूप में प्रत्यक्ष वस्तु को ग्रहण करता है । इससे एकान्त अभाव है ही नहीं तो अभाव प्रमाण का विषय क्या होगा ? कुछ भी नहीं । प्रत्यक्ष की तरह परोक्ष प्रमाण भी भावाभावात्मक वस्तु को ही ग्रहण करते हैं । अगर वे भावाभावात्मक वस्तु ग्रहण न करें तो पूरक् पूरक् वस्तु का ग्रहण ही नहीं हो । श्लोकवर्तिक में कहा है—

किसी भी भाव में ‘यही है’ अर्थात् यह अश्व ही है ऐसा निश्चय अन्य वस्तुओं के आभाव को जाने विना नहीं हो सकता । तात्पर्य यह है कि ‘यह अश्व ही है’ ऐसा निश्चय तभी हो सकता है जब यह जान लिया जाय कि यह अश्व के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है ।

अभिप्राय यह है कि कोई भी प्रमाण किसी भी वस्तु को जड़ जानता है तो उसके भाव और अभाव दोनों रूपों को ही जानता है । दोनों रूपों को जाने विना वस्तु का असाधारणरूपरूप समझ में नहीं आ सकता ।

४०-शंका० वस्तु को भाव-अभाव रूप मान लेने से भी हमारे मत में कोई बाधा नहीं आती । इतिक हम भी यही कहते हैं । किन्तु हमारा कहना यह है कि वस्तु का भाव-अंश इन्द्रिय से सम्बन्धित होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा जाना जाता है, किन्तु अभाव-अंश का इन्द्रिय के साथ सम्बन्धित नहीं होने से वह अभाव प्रमाण द्वारा ग्रहण किया जाता है । ऐसी अवस्था में अभाव प्रमाण निविषय नहीं हो सकता । कहा भी है— नास्तित्व का जान इन्द्रियों उत्पन्न नहीं कर सकती, क्योंकि इन्द्रियों का संयोग भाव-अंश के साथ ही हो सकता है ।

‘पहले वस्तु के सबभाव को ग्रहण किया जाता है, किंतु प्रतियोगी का स्वरूप किया जाता है । सत्पश्चात् इन्द्रियों की सहायता के बिना मन के द्वारा नास्तित्व का जान होता है ।’

१—वित्तका अभाव जाता जाता है वह प्रतियोगी कहलाता है । घट का अभाव जानते समय घट प्रतियोगी है ।

४१—ननु शावांशादभावांशस्याभेदे कर्थं प्रत्यक्षेणाग्रहणम् ? , भेदे वा घटाद्य-भावरहितं भूतलं प्रत्यक्षेण गृह्णत इति घटादयो गृह्णन्त इति प्राप्तम् , तदभावाग्रहणस्य तद्वावप्रहणनान्तरीयकत्वात् । तथा चामावप्रमाणमपि पश्चातप्रवृत्तं न तानु-त्सारयितुं पठिष्ठं स्यात् , अन्यथाऽसङ्कीर्णस्य सङ्कीर्णताग्रहणात् प्रत्यक्षं आन्तं स्यात् ।

४२—अपि चार्यं प्रमाणपञ्चकनिवृत्तिरूपत्वात् तुच्छः । तत एवाज्ञानरूपः कर्थं प्रमाणं भवेत् ? । तस्मादभावांशात्कथित्विभिन्नं शावांशं परिच्छन्दता प्रत्यक्षादिना प्रमाणेनाभावांशो गृहीत एवेति तदतिरिक्तविषयाभावाज्ञिविषयोऽभावः । तथा च न प्रमाणमिति स्थितम् ॥१२॥

४३—विभागमुक्तवा विशेषलक्षणमाह—

विशदः प्रत्यक्षम् ॥१३॥

४४—सामान्यलक्षणानुवादेन विशेषलक्षणविधानात् ‘सम्यगर्थनिर्णयः’ इति प्रमाणसामान्यलक्षणमनूद्य ‘विशदः’ इति विशेषलक्षणं प्रसिद्धस्य प्रत्यक्षस्य विधीयते । तथा च प्रत्यक्षं धर्मि । विशदसम्यगर्थनिर्णयात्मकमिति साध्यो धर्मः । प्रत्यक्षत्वादिति

४५—समाधान—अभाव-अंश भाव-अंश से अभिन्न है या भिन्न ? यदि अभिन्न है तो प्रत्यक्ष के द्वारा भाव-अंश जानने पर वह अनज्ञाना कैसे रह सकता है ? यदि भिन्न है तो घटाभाव से भिन्न भूतल के ग्रहण होने का अर्थ घट का ग्रहण होना ही कहलाया ; क्योंकि किसी वस्तु के अभाव का ग्रहण न होता । उसके भाव का ग्रहण होने पर ही होता है । यदि प्रत्यक्ष से घट का ग्रहण हो गया तो बाद में अभाव प्रमाण प्रवृत्त हो कर भी उसका निषेध नहीं कर सकता । अतएव अभाव प्रमाण घट का निषेध करता है तो प्रत्यक्ष को आंत मानना पड़ेगा, क्योंकि असंकीर्ण को संकीर्ण रूप में ग्रहण किया अर्थात् जो भूतल घटरहित था उसे घटसहित जाना ।

४६—सत्ता को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष आदि पाँच प्रमाणों की प्रवृत्ति न होना अभाव प्रमाण है । इस प्रकार अभाव प्रमाण निवृत्ति रूप होने से तुच्छ (विश्वरूप) है । अतएव अज्ञानरूप होने से कैसे प्रमाण हो सकता है ?

वास्तव में पवार्थ के अभाव-अंश से कर्थंचित् अभिन्न भाव-अंश को जानने वाले प्रत्यक्षादिप्रमाण अभाव-अंश को भी जान ही लेते हैं । इससे अतिरिक्त कुछ ज्ञेय बदला नहीं है, अतएव अभाव विषयशूल्य है और विषयशूल्य होने के कारण प्रमाण नहीं है ॥१२॥

४७—प्रमाण के भेद कह कर विशेषलक्षण कहते हैं—विशद—स्पष्टता प्रत्यक्ष प्रमाण है ॥१३॥

४८—सामान्य लक्षण कर अनुवाद करके विशेष लक्षण का विधान किया जाता है, इस न्याय के अनुसार ‘सम्यगर्थ-निर्णय’ इस सामान्य लक्षण के अनुवाद से ही प्रत्यक्ष के लक्षण का विधान किया जाता है । अर्थात् प्रत्यक्ष के लक्षण में प्रमाण-सामान्य के लक्षण का अध्याहार समझ ही लेना चाहिए । अतएव यहीं ‘प्रत्यक्ष’पक्ष है, ‘विशद सम्यगर्थनिर्णयात्मक’ साध्य है और ‘प्रत्यक्षत्वात्’

हेतुः । यद्विशदसम्यगर्थनिर्णयात्मकं न भवति न तत् प्रत्यक्षम्, यथा परोक्षमिति व्यतिरेकी । धर्मिणो हेतुत्वेऽनन्वयदोषे इति चेत्; न; विशेषे धर्मिणि धर्मिसामान्यस्य हेतुत्वात् । तस्य च विशेषनिष्ठत्वेन विशेषेषबन्वयसम्भवात् । सप्तके बृत्तिमन्तरेणापि च विषेषव्यावृत्तिमालाद्यमकात्वमित्युक्तभेद ॥१३॥

४५—अथ किमिदं वैशाद्यं नाम ? । यदि स्वविषयग्रहणम्; तत् परोक्षेष्यक्षूणम् । अथ स्फुटत्वम्; तदपि स्वसंविदितत्वात् सर्वविज्ञानं सममित्याशाङ्कयाह—

प्रमाणान्तरानपेक्षेदन्तया प्रतिभासो वा वैशाद्यम् ॥१४॥

४६—प्रस्तुतात् प्रमाणाद् यदन्यत् प्रमाणं शब्दलिगादिज्ञानं तत् प्रमाणान्तरं तन्निरपेक्षता 'वैशाद्यम्' । नहि शब्दानुभावादिवत् प्रत्यक्षं स्वोत्पत्तौ शब्दलिगादिज्ञानं प्रमाणान्तरमपेक्षते इत्येकं वैशाद्यलक्षणम् । लक्षणान्तरमयि 'इदन्तया प्रतिभासो वा' इति, इदन्तया विशेषनिष्ठत्वया यः प्रतिभासः सम्यगर्थनिर्णयस्य सोऽपि 'वैशाद्यम्' । 'वा' शब्दो लक्षणान्तरत्वसूचनार्थः ॥१४॥

यह हेतु है । जो आने विशेष और सम्यक् अर्थनिर्णय रूप नहीं होता वह प्रत्यक्ष भी नहीं होता, जैसे परोक्ष प्रमाण । यह केवलव्यक्तिरेकी हेतु है ।

शंका—पक्ष को ही हेतु अनाने से अनन्य दोष आता है ।

समाधान—नहीं ! प्रत्यक्ष विशेष पक्ष है और प्रत्यक्षसामान्य हेतु है । सभी विशेषों में सामान्य की व्याप्ति होती है, अतएव यहाँ अन्य घटित हो जाता है—अनन्य दोष नहीं रहता ।

यद्यपि यहाँ सप्तकसत्त्व नहीं है, फिर भी हेतु विषेषव्यावृत्ति के बल से गमक है । यह बात पहले कही जा चुकी है ॥१३॥

४५—विशदता का स्वरूप क्या है ? यदि अपने स्वरूप को ग्रहण करना विशदता है तो वह परोक्ष प्रमाण में भी होती है, यदि स्फुटता को विशदता कहा जाय तो वह भी स्वसंवेदो होने से सब प्रमाणों में पाई जाती है । इस आशंका का उत्तर—

अर्थ—अन्य प्रमाण की अपेक्षा न होना अथवा 'यह' इस तरह को प्रतीति होना वैशाद्य या विशदता है ॥१४॥

४६—महाँ प्रस्तुत-प्रत्यक्ष-प्रमाण से भिन्न-अनुमान और आगम प्रमाणान्तर कहे गये हैं । उनकी आवश्यकता न होना विशदता है । जैसे शब्द प्रमाण को अपनी उत्पत्ति में शब्द ज्ञान की ओर अनुमान प्रमाण को लिङ्गज्ञान को अपेक्षा रहती है, उस प्रकार प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में किसी अन्य प्रमाण को अपेक्षा नहीं रहती । यह विशदता का एक लक्षण है ।

विशदता का दूसरा लक्षण है 'यह' इस रूप में प्रतिभास' अर्थात् जिस प्रमाण का प्रतिभास 'यह' इस प्रकार विशेष-निष्ठ हो, वह 'विशेष' कहलता है । सूत्र में प्रयुक्त 'वा' शब्द दूसरे लक्षण का सूचक है ॥१४॥

४७—अथ मुख्यसांघ्यवहारिकभेदेन द्वैविद्यं प्रत्यक्षस्य हृदि निधाय मुख्यस्य
लक्षणमाह—

तत् सर्वथावरणविलये चेतनस्य स्वरूपाविभावो मुख्यं केवलम् ॥१५॥

४८—‘तत्’ इति प्रत्यक्षप्रकाशशर्थम्, अन्यथानन्तरमेव वैश्वामभिसम्बद्ध्येत् । दीर्घकालनिरन्तरसत्कारसेवितरत्नत्रयप्रकर्षपर्यन्ते एकत्ववित्तकाविचारध्यानबलेन निःशोषतया ज्ञानाद्वादीनां धातिकर्मणां प्रकाये सति चेतनास्वभावस्यात्मनः प्रकाश-स्वभावस्येति यावत्, स्वरूपस्य प्रकाशस्वभावस्य सत एवावरणापगमेन ‘आविभावः’ आविभूतं स्वरूपं मुखभिव शरीरस्य सर्वज्ञानानां प्रधानं ‘मुख्यम्’ प्रत्यक्षम् । तत्त्वे-निद्रियादिसाहायकविरहात् सकलविषयत्वादसाधारणत्वाच्च ‘केवलम्’ इत्यागमे प्रसिद्धम् ।

४९—प्रकाशस्वभावता कथमात्मनः सिद्धेति चेत् ; एते ब्रूमः—आत्मा प्रकाशस्व-भावः, असन्दिग्धस्वभावत्वात्, यः प्रकाशस्वभावो न भवति नासावसन्दिग्धस्वभावो यथा घटः, न च तथात्मा, न खलु कश्चिदहमस्मि न वेति सन्दिग्धे इति नासिद्धो हेतुः । तथा, आत्मा प्रकाशस्वभावः, बोद्धत्वात्, यः प्रकाशस्वभावो न भवति नासौ

४७—प्रत्यक्ष प्रमाण दो प्रकार का है—मुख्य और सांघ्यवहारिक, इसे ध्यान में रखकर मुख्य प्रत्यक्ष का लक्षण कहते हैं—

अर्थ—आवरणों का सर्वथा कथ हो जाने पर चेतन-आत्मा का स्वरूप प्रकट हो जाना मुख्य प्रत्यक्ष है ॥१५॥

४८—सूत्र में ‘तत्’शब्द का यहण न किया होता तो इससे पहले कहे हुए ‘वेश्या’ का यहण हो जाता । दीर्घकालपर्यन्त बहुमान-पूर्वक भली पाँति सेवन किये हुए रत्नत्रय के प्रकर्ष के ‘अन्त स्मृत्युं एकत्वं वित्तक-विचारस्मृत्युं शुक्ल ध्यान के बल से पूर्ण रूप से ज्ञानावरण आदि धातिक कर्मों का कथ हो जाने पर, चेतनाप्रकाश-स्वभाव वाले आत्मा का प्रकाश स्वरूप प्रकट हो जाना मुख्य प्रत्यक्ष कहलाता है । जैसे सम्पूर्ण शरीर में सूक्ष्म प्रधान होता है, उसी प्रकार सर्व ज्ञानों में प्रधान होने से वह मुख्य प्रत्यक्ष कहलाता है । आगम में यह केवलज्ञान के नाम से प्रसिद्ध है, कियोंकि यह इन्द्रिय आदि सहायकों के विना हो होता है, विश्व के समस्त पदार्थों को जानता है, और साधारण है ।

४९—शंका—आत्मा प्रकाशस्वभाव है, यह कैसे सिद्ध होता है ?

समाधान—आत्मा प्रकाशस्वभाव है, क्योंकि वह असंदिग्ध स्वभाव वाला है, जो प्रकाश-स्वभाव नहीं होता वह असंदिग्ध स्वभाव वाला नहीं होता, जैसे घट । आत्मा असंदिग्ध स्वभाव वाला न हो, ऐसा नहीं है, क्योंकि मैं हूँ अथवा नहीं हूँ, ऐसा सन्वेद किसी को नहीं होता । और—आत्मा प्रकाशस्वभाव है, क्योंकि वह खोद्धा अर्थात् ज्ञापक है, जो प्रकाशस्वभाव नहीं होता वह

बोद्धा यथा घटः, न च न बोद्धात्मेति । तथा, यो यस्याः क्रियायाः कर्त्ता न स तद्विषयो यथा गतिक्रियायाः कर्त्ता चेत्रो न तद्विषयः अप्तिक्रियायाः कर्त्ता चात्मेति ।

५०-अथ प्रकाशस्वभावत्व आत्मनः कथमावरणम् ?, आवरणे वा सततावरणप्रसङ्गः; नैवम्; प्रकाशस्वभावस्यापि चन्द्राकदिरिव रजोनीहाराभपटलादिभिरिव ज्ञानावरणीयादिकर्मभिरावरणस्य सम्भवात्, चन्द्राकदिरिव च प्रबलपदमानप्रायद्यानभावनादिभिरिविलयस्येति ।

५१—ननु सादित्वे स्यादावरणस्योपाधतो विलयः; नैवम्; अनादेरपि सुवर्णमलस्य क्षारमृत्युट्याकादिना विलयोपलम्भात्, तद्देवानादेरपि ज्ञानावरणीयादिकर्मणः प्रतिपक्षाभूतरत्नप्रयाप्यासेन विलयोपपत्तेः ।

५२—न चामूर्त्त्यस्यात्मनः कथमावरणमिति वाच्यम्; अमूर्तया अपि चेतनाशब्देभिरामदनकोद्यादिभिरावरणदर्शनात् ।

५३—अथावरणीयतत्प्रतिपक्षाभ्यामात्मा विक्रियेत न वा ? । कि चातः ? । आपक महीं होता, जैसे घट । आत्मा आपक न ही, ऐसा तो है नहीं, अतएव प्रकाशस्वभाव है ।

तथा—जो जिस क्रिया का कर्त्ता होता है, वह उस क्रिया का विषय नहीं होता, जैसे गतिक्रिया का कर्त्ता चेत्र गतिक्रिया का विषय नहीं होता । आश्या अप्तिक्रिया का कर्त्ता है, अतएव उसका विषय नहीं है ।

५०-प्रश्न—आत्मा प्रकाशस्वभाव है तो उस पर आवरण कैसे आ गये ? यदि आ गये हें तो सदैव क्यों नहीं रहते ?

उत्तर—जैसे चन्द्रमा और सूर्य प्रकाशशील है, फिर भी उन पर रज, नीहार और मेघपटल आदि के द्वारा आवरण हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा पर भी ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के द्वारा आवरण आ जाते हैं । और जैसे तीव्र वायु के चलते से चन्द्र-सूर्य के आवरण का विलय हो जाता है, उसी प्रकार ध्यान भावना आदि से आत्मा के आवरण भी वष्ट हो जाते हैं ।

५१-शंका—आवरण सावित हों तो ही उपाय से उनका विलय होना संभव है ।

समाधान—नहीं, अनादिकालीन होने पर भी खार मृत्युट्याक आदि के द्वारा जैसे स्वर्ण का मल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार अनादि ज्ञानावरणीय आदि आवरणों का भी, उनके विरोध इतनत्रय (सम्यावरण-ज्ञान चारि च) के अभ्यास से विनाश होना संभव है ।

५२-शंका—अमूर्त्त्य आत्मा पर आवरण कैसे हो गये ?

समाधान—जैसे अमूर्त्त्य चेतनाशक्ति पर मदिरा एवं भदनकोद्य आदि से आवरण आ जाता है ।

५३-शंका—आवरणों तथा आवरणों के प्रतिपक्ष-इतनत्रय आदि के निमित्त से आत्मा में विकार (अन्यवाप्त) आता है या नहीं ? और उसका परिणाम क्या होता है ? जैसे कि—

“वर्षातपाभ्यां कि व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम् ।
अर्मोपमश्चेत् सोऽनित्यं लतुल्यश्चेदसत्कलः ॥”

इति चेत्; न; अस्य द्वौषणस्य कूटस्थनित्यतापक्ष एव सम्भावात्, परिणामिनित्यश्चा-
त्मेति तस्य पूर्वपिरपयधित्पादविनाशसहितानुभृतिरूपत्वात्, एकान्तनित्यक्षणिकपक्षयोः
सर्वथार्थक्रियाविरहात्, यदाह-

“अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः ।

अभाक्षमाभ्यां भावानां सा लक्षणतया मता ॥” [लघी० २. १]

इति ॥१५॥

५४—ननु प्रमाणाधीना प्रमेयब्यवस्था । न च मुख्यप्रत्यक्षस्य तद्वत्तो वा सिद्धौ
किञ्चित् प्रमाणमस्ति । प्रत्यक्षं हि रूपादिविषयविनियमितव्यापारं नातीन्द्रियेऽर्थे
प्रवतितुमुत्सहते । नाप्यनुमानम्, प्रत्यक्षदृष्टिलिङ्गसम्बन्धबलो (प) जननधर्मक-
त्वात्तस्य । आगमस्तु यद्यतीन्द्रियज्ञानपूर्वकस्तत्साधकः; तदेतरेतराश्रयः—

“नते तदागमात्मित्येष च तेनागमो विना ।” [इलोकवा० सू० २. इलो० १४३]

इति । अपौरुषेयस्तु तत्साधको नास्त्येव । योऽपि—

चाहे वर्षा हो, चाहे धूप गिरे, (नित्य)आकाश का क्या बिगड़ता है? उनका प्रभाव अपडे
पर होता है । यदि आत्मा अपडे के समान है तो वह अनित्य हो जाएगा और यदि आकाश के
समान (नित्य) है तो उस पर न आवरणों का प्रभाव पड़ेगा, न रस्त्रय आदि का ।

समाधान—यह दोष कूटस्थ नित्यता मानने पर हो हो सकता है, किन्तु आत्मा तो धरि-
णामी-नित्य है । आत्मा की पूर्व-पूर्व पर्याय का उत्पाद होता रहता है, फिर भी वह प्रत्यक्ष से
नित्य है । एकान्त नित्य और एकान्त क्षणिक पक्ष में किसी भी प्रकार अर्थक्रिया संगत नहीं हो
सकती । कहा भी है—

अर्थक्रिया वस्तु का लक्षण मानो गई है । अर्थात् यह सर्वमात्र है कि जिसमें अर्थक्रिया
पाई जाय वही वस्तु कहलाती है । यह अर्थक्रिया एकान्त क्षणिक पक्ष में न कम से घटित होती
है, न युगपत् ॥ १५॥

५४-शंका-प्रमेय की व्यवस्था प्रमाण के अधीन है । मुख्य प्रत्यक्ष (केवलज्ञान)या मुख्य
(प्रियलज्ञानी) की सिद्धि में कोई प्रमाण नहीं है । प्रत्यक्ष का व्यापार रूप आदि विषयों में ही
मिथ्या है । वह अतीन्द्रिय पदार्थ में प्रवृत्ति नहीं कर सकता । इहा अनुमान, सो वह प्रत्यक्ष
रिक्तादि देने वाले लिंग (साधन) और साध्य के संबंध में (अविनाप्राप्त) की सहायता से उत्पन्न
होता है । (अतः इन दोनों प्रमाणों से मुख्य प्रत्यक्ष का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता) यदि अती-
न्द्रियज्ञानपूर्वक (सर्वज्ञप्रणीत) आगम को मुख्य प्रत्यक्ष का साधक माना जाय तो इतरेतराश्रय
बोध का प्रसंग है वयोऽकि, आगम के बिना मुख्य प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं होता । और प्रत्यक्षको सिद्धि
द्वारा बिना सर्वज्ञप्रणीत आगम सर्वज्ञ का साधक हो नहीं सकता ।

“अपाणिपादो ह्यमनो ग्रहीता पदपत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।

स वेत्ति विश्वं न हि तस्य वेत्ता तमाहुरम्यं पुरुषं महान्तम्” [वेताल्य० ३. १९.]
इत्यादिः कश्चिद्वर्थवादलोकित नामौ लमालय विश्वावेद प्रामाण्योपासात् । प्रमाणा-
न्तराणां आत्रानवसर एवेत्याशङ्कायाह-

प्रज्ञातिशयाविश्रान्त्यादिसिद्धेस्तसिद्धिः ॥१६॥

५५--प्रज्ञाया अतिशायः-तारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तम्, अतिशयत्वात्, परिमाणाति-
शयवदित्यनुमानेन निरतिशयप्रज्ञासिद्धुया तस्य केवलज्ञानस्य सिद्धिः, तत्सिद्धिरूप-
त्वात् केवलज्ञानसिद्धेः । 'आदि' ग्रहणात् सूक्ष्मान्तरितद्वाराथः कस्यचित् प्रत्यक्षाः
प्रमेयत्वात् घटवदित्यतो, ज्योतिजनादिसंबादान्यथानुपपत्तेश्च तत्सिद्धिः, यदाह-

“धीरत्यन्तपरोक्षेऽथं न चेत् पुंसां कुतः पुनः ।

ज्योतिजनादिसंबादः श्रुताच्छेत् साधनान्तरम् ।” [विद्विवि० प० ४१३१]

'जो हाथों और पैरों से रहित हो कर भी वेगशाली है जो नेत्रहीन होकर भी देखता
और शोश्रहीन होकर भी शब्द का वेत्ता है किन्तु जिसे कोई नहीं
जान पाता वही सर्वोत्तम महान् पुरुष है ।'

यह जो आगम है सो केवल अर्थवाद ही है । यह प्रमाण नहीं है । आगम की प्रमाणता
विधि (कर्तव्य) के विषय में ही मानी गई है ।

प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों के लिए सर्वज्ञ या सर्वज्ञता के
विषय में कोई अवकाश ही नहीं है । इस आर्थिका का उत्तर-

अर्थ--प्रज्ञा के तारतम्य की विश्वान्ति आदि की सिद्धि से केवलज्ञान की सिद्धि होती है ॥१६॥

५५-प्रज्ञा का अतिशय (उत्कर्ष) कहीं विश्रान्त हुआ है, क्योंकि वह अतिशय है । प्रत्येक
अतिशय की कहीं न कहीं विश्वान्ति (चरम परिणाम) अवश्य होती है, जैसे परिमाण के अति-
शय की विधि नित आकाश में हुई है । इस अनुमान प्रमाण से निरतिशय (सर्वोत्कृष्ट) प्रज्ञा की
सिद्धि होने से केवलज्ञान की सिद्धि होती है । निरतिशय प्रज्ञा की सिद्धि ही केवलज्ञान की
सिद्धि है । सूत्र में 'प्रयुक्त आदि' शब्द से केवलज्ञान की सिद्धि के लिए यह अनुमान भी समझ
लेना चाहिए-सूक्ष्म (परमाणु आदि), अन्तरित (राम-रावण आदि कालव्यवहित) और दूर (मेल
आदि देशव्यवहित) पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय हैं क्योंकि वे प्रमेय हैं । जो प्रमेय
होता है वह किसी न किसी के प्रत्यक्ष का विषय अवश्य होता है, जैसे पट । इसके अतिरिक्त
ज्योतिषसंबंधी ज्ञान में जो संबाद देखा जाता है, उससे भी केवलज्ञान की सिद्धि होती है ।
कहा भी है—

‘अत्यन्त परोक्ष पदार्थों के भी कोई पुरुष अवश्य जानता है । ऐसा न होता तो ज्योति-
शान् में जो संबाद देखा जाता है, वह कैसे होता ? कवचित् कहा जाय कि यह संबाद शुल्
(शास्त्र) से होता है तो उसके लिए भी दूसरे साधन की आवश्यकता है ।’

५६--अथ च—“नोवदा हि भूतं ज्ञातां अतिष्ठते द्वयं व्यवहितं विप्रकृष्टमेव ज्ञातीयकर्मर्थमवगमयति नान्यतिकञ्चनेन्द्रियम्” [शावर शा० १.१.२] इति वदता भूताद्यर्थपरिज्ञानं कस्यचित् पुंसोऽभिमत्तमेव, अन्यथा कस्मै वेदस्त्रिकालविषयमर्थं निवेदयेत् ? । स हि निवेदयस्त्रिकालविषयतत्त्वज्ञमेवाधिकारिणमुपादत्ते, तदाहु—

“त्रिकालविषयं तत्त्वं कस्मै वेदो निवेदयेत् ।

अक्षय्यावरणंकान्ताम् चेद्वेद तथा नरः ॥” [सिद्धिवि० पृ० ४१४A]

इति त्रिकालविषयस्तुनिवेदनाऽन्यथानुपपत्तेरतीन्द्रियकेवलज्ञातसिद्धिः ।

५७-किञ्चन्प्रत्यक्षानुमानसिद्धसंबादं शास्त्रमेवातीन्द्रियार्थदशिसङ्गावे प्रमाणम्, य एव हि शास्त्रस्य विषयः स्याद्वादः स एव प्रत्यक्षादेवपीति संबादः, तथाहि—

“सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च ।

अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसम्भवः ॥”

इति विश्वा प्रमाणसिद्धं स्याद्वादं प्रतिपादयन्नागमोऽहंतस्सर्वज्ञतामयि प्रतिपादयति, यदस्तुम्—

५६-ऐसा माना जाता है कि- वेद भूत वर्णमान, भविष्यत्, सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट तथा इसी प्रकार के अन्य सब पदार्थों का ज्ञान करता है। किसी भी इन्द्रिय से ऐसा ज्ञान नहीं उत्पन्न हो सकता है। ऐसा मानने वाले ने भूत भविष्यत् आदि का ज्ञान किसी पुरुष को अवश्य इविकार किया है। यदि किसी पुरुषको त्रैकालिक ज्ञान संबन्धन होता तो वेद से किसे यह ज्ञान होता ? वेद से अब ऐसा ज्ञान होता है तो किसी त्रिकालज्ञ अधिकारी पुरुष को ही होना चाहिए। कहा भी है—

‘यदि आवरणों का क्षय हो ही नहीं सकता और पुरुष को वैसा ज्ञान नहीं हो सकता तो वेद त्रिकालविषयक तत्त्व किसको निवेदन करता है ?

‘यदि त्रैकालिक ज्ञान संबन्ध न होता तो वेद त्रिकालसंबंधी तत्त्व का निवेदन ही नहीं कर सकता था। परन्तु वेद निवेदन करता है, इससे वेलज्ञान की सिद्धि होती है।

५७-इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष और अनुमान से जिसकी पुष्टि होती है ऐसा शास्त्र ही अती-मिहार्थदशी के सद्भाव में प्रमाण है। जो स्याद्वाद शास्त्र का विषय है, वहो प्रत्यक्ष आदि का भी विषय है। यही संबाद है। कहा भी है—

‘प्रत्येक वस्तु स्वरूप से सत् है और पररूप से असत् है। यदि पररूप से असत्ता न मानी जाय तो प्रत्येक वस्तु सर्वमय हो जाए और स्वरूप से सत्ता न मानी जाय तो वस्तु का कोई स्वरूप ही न रह जाय।’

इस प्रकार प्रमाण सिद्धं स्याद्वाद का प्रतिपादन करता हुआ आगम अहंत की सर्वज्ञता का भी प्रतिपादन करता है। शास्त्र की सुविधा करते हुए हमने कहा है—

“यदीयसम्यक्त्वबलात् प्रतीमो भवाद्वशानां परमात्मभावम् ।

कुवासनापाशविनाशनाय नमोऽस्तु तस्मै तथ आसनाय ।” [अथोग ३१]

इति । प्रत्यक्षं तु यद्यप्येन्द्रियं (य) कं नातीन्द्रियज्ञानविषयं तथापि समाधिबललब्ध-जन्मकं योगिप्रत्यक्षमेव ब्रह्मार्थस्येव स्वस्यापि वेदकमिलि प्रत्यक्षतोऽपि तत्सिद्धिः ॥

५८-अथ— “ज्ञानमप्रतिष्ठं यद्य वैराग्यं च जगत्पतेः ।

ऐश्वर्यं चैव धर्मशब्दं सहसिद्धं चतुष्टयम् ॥”

इति वचनात्सर्वज्ञत्वमीश्वरादीनामस्तु, मानुषस्य तु कस्यचिद्द्विद्याचरणवतोपि तदस-स्थावनीयम्, एतकुमारितः—

‘अथापि वेददेहत्वाद् ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।

कामं भवन्तु सर्वज्ञाः सार्वज्ञं मानुषद्य किम् ? ॥” [वत्सम ३२]

इति; आः ! सर्वज्ञापलापपातकिम् ! दुर्बेदवादिन् ! मानुषत्वनिन्दार्थवादापदे वेदाधिदेवानधिक्षिप्ति ? । ये हि जन्मान्तरान्तिज्ञतोजितपुण्यप्राप्तभाराः सुरभवभवमन् सुखमनुभूय दुःखपञ्चमग्नमखिलं जीवलोकमुद्दिधीर्धेवो नरकेष्वपि क्षणं क्षिप्तसुखां कामृतदृष्टयो भनुष्यलोकमवत्तेतुः जन्मसमयसमझालचलितासनसकलसुरेन्द्रवृन्दवितजन्मोत्सवाः किञ्च्छुरायमाणसुरसमूहाहसहभिकारदधसेवाविधयः स्वयम्भुपनताम् ॥

‘जिसकी सत्यता के बल से हम आप जैसों का परमात्मत्व समझ पाते हैं, उस कुवामाओं के पाश का विनाश करने वाले आपके शासन-आयम-को नमस्कार हो ।’

यद्यपि इन्द्रियप्रत्यक्ष अतीन्द्रिय ज्ञान को नहीं ज्ञान सकता, तथापि समाधि के बहुउत्पन्न होने वाला योगिप्रत्यक्ष स्वर्यं ही ब्रह्म यदार्थों की तरह अपने आपको भी ज्ञानता इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रभाण से भी अतीन्द्रिय ज्ञान को सिद्धि होती है ।

५८-शंका—जिस जगत्पति में अप्रतिहत ज्ञान है, वैराग्य है, ऐश्वर्य है और धर्म है-यह धर्म जिसमें स्वभाव से ही सिद्ध है (वही सर्वज्ञ ईश्वर है) इस कथन के अनुसार ईश्वर व में सर्वज्ञता भले हो, किन्तु मनुष्य सर्वज्ञ नहीं हो सकता आहे वह कितना भी विद्यावान् खारित्रवान् क्यों न हो ! कुमारिल भट्ट ने कहा है—

ज्ञानमय देह वाले होने से ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर भले सर्वज्ञ हों किन्तु मनुष्य सर्वज्ञता कंसी ?

समाधान—अरे सर्वज्ञ के अपलाप का याप करने वाले ! अरे निन्दक ! मनुष्यता निन्दा करने का बहाना करके देवाधिदेव पर आक्षेप करता है ! जिन्होंने पूर्वजन्मों में विरापुण्य का समूह उपार्जन किया है, जो अनुपम देवसव के सुख का उपयोग करके दुःखों के पर्में कैसे सम्पूर्ण जगत् का उद्धार करने के अभिलाषी होकर नरकों में भी क्षणभर के लिए सुखामृत की दर्शी करके मनुष्य लोक में अवतरित हुए हैं, जिनके जन्मते ही आसन चलायमाहोने पर सकल सुरेन्द्रों के समूह आकर जन्ममहोत्सव मनाते हैं’ किकर के समान व्यवहार कर हुए देवगण प्राणस्त्रिकता के लिए स्थूर्धा करते हुए जिनकी सेषा करते हैं, स्वर्यं प्राप्त अनन-

प्राज्यसाम्राज्यश्रियं तृणवद्वधूय समतृणमणिशत्रुमित्रवृत्तयो निजप्रभावप्रशमिते—
तिमरकादिजगदुपद्रवाः शुबलध्यानानलन्तिर्दग्धधातिकमणि आविर्भूतनिखिलभावाभा-
वस्वभावावभासिकेवलदलदलितसकलजीवलोकमोहप्रसरः सुरासुरधिनिर्मितां समव-
सरणभूवमधिष्ठाय स्वस्वभावापरिणामिनीभिष्ठगिभः प्रवतितधर्मतीर्थिष्ठतुस्त्रिशदति-
ष्ठायमयीं तीर्थनाथरवलध्यसीमुपभुज्य परं ब्रह्म सततानन्दं सकलकर्मनिर्मोक्षमुपेयिवास-
स्तान्मानुपत्थादिताध्यारज्ञधर्मोपदेशेनापदवन् सुमेहमयि लेष्ट्वादिना साधारणीकतुं
पाथिवत्वेनापवदेः ॥ । किञ्च, अनवरतवनिताङ्गसम्मोगदुर्लितवृत्तीनां विविधहेति-
अमूहधारिणामक्षमालाद्यायत्तमनःसंयमानां रागद्वेषमोहकलुषितानां ब्रह्मादीनां सर्व-
वित्तवसाम्राज्यम् । , यदवदाम स्तुतौ—

“मदेन मानेन मनोभवेन क्रोधेन लोभेन सम्मदेन ।

परजितानां प्रसमं सुराणां वृथं व साम्राज्यरुजा परेषाम् ॥”

[अयोग-२५]

हिति । अथापि रागादिदोषकालुष्यक्रियहिताः सततज्ञानानन्दमयमूर्तयो ब्रह्मादयः; तर्हि
कर्त्तादशेषु लेषु न विप्रतिपद्यामहे, अदोच्चाम हि—

विशाल साम्राज्यधी को (ऐसे तीर्थकर भगवान् पृहस्थावस्वा के पश्चात्) तृण की तरह
तथा त्याग देते हैं तृण-मणि तथा शत्रु-मित्र पर समभाव धारण करते हैं, अत्यने प्रभाव से अतिवृष्टि आवि-
त्यों तथा महामारो आदि उपदर्वों वो शक्त कर देते हैं, शुबलध्यान रूपी अग्नि से समस्त
धातिक कर्मों को भस्म कर देते हैं, समस्त भाव एवं अभाव रूप पदार्थों को जानने वाले केवल-
ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण जगत के मोह-अज्ञान को सहट करते हैं, जो सुरों और असुरों द्वारा निर्मित
समवसरण भूमि में विराजमान होकर श्रोताओं को अपनी-अपनी भाषण में परिणत हो जाने
वाले वचनों से धर्मतीर्थ में प्रवृत्त करते हैं, चौतीस अतिशयमयीं तीर्थकरत्व-लक्ष्मी का उपयोग
करके पर ब्रह्म एवं शाश्वत आनन्दमय भीक्ष (धातिकमों से मुक्ति) को प्राप्त कर चुके हैं ऐसे
तीर्थकर भगवान् में मनुष्यत्व आदि सामान्य धर्मों का उल्लेख करके पाये जाने वाले उनका
अपवाद करना इसी प्रकार की धृष्टता है जैसे कोई कहे कि पाथिष्ठ होने के कारण सुमेह गिरि-
राज भी छिट्ठी के ढेले के समान है ।

इस पर तुर्री यह कि जो निरन्तर बनिता के अंग का संभोग करने के कारण कामुक चूति
वाले हैं ताना प्रकारके शस्त्रों को धारण करते हैं, अक्षमाला आदि पर जिनके मन का संयम निर्भर है
और इन कारणों से जो राग-द्वेष और मोह से कलुषित हैं ऐसे ब्रह्म विष्णु महेश के सर्वतः
होने की बात कही जाती है ! स्तुति में कहा है—

‘जो भद्र, मान, मदन, शोध, लोभ और राग के द्वारा पूरी ताह परजित हैं ऐसे परकोण
वेदताओं को (ज्ञानरूपी) लक्ष्मी कहना वृथा ही है ।’

हाँ, अगर आप ब्रह्म आदि को राग-द्वेष के कालुष्य से रहित (वीतराग) और सतत
ज्ञानानन्दमय कहें तो ऐसे ब्रह्म आदि के विषय में हमारा कोई मतभेद नहीं है । हमने कहा भी है

“यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यथा तथा ।

वीतदोषकलुषः स चेष्ट्यामैक एव भगवन्नोऽस्तु ते ॥” [३०५-३१]
इति । केवलं बह्यादिदेवताविषयाणा श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासकथानां वैतान्यमास-
ज्येत । तदेवं साधकेभ्यः प्रमाणेभ्योऽतीन्द्रियज्ञानसिद्धिरुचता ॥१६॥

बाधकाभावच्च ॥१७॥

५९—सुनिश्चितासम्भवद्वाधकत्वात् सुखादिवत् तत्सिद्धिः इति सम्बन्ध्यते ।
तथाहि केवलज्ञानबाधकं भवत् प्रत्यक्षं वा भवेत् प्रमाणान्तरं वा ? । न तावल्
प्रत्यक्षम्; तस्य विद्यादेवाधिकारात्—

“सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्णते चक्षुरादिना ।” [श्लोकवा० सू० ४, श्लो० ८५]
इति स्वयमेव भाषणात् ।

६०—अथ न प्रवर्तमानं प्रत्यक्षं तद्वाधकं किन्तु निवर्तमानम् तत्; तहि (द्वि),
यदि नियतदेशकालविषयत्वेन बाधकं तद्विस्तु सम्प्रतिपद्यामहे । अथ सकलदेशकालविष-
यत्वेन; तद्विस्तु न तत् सकलदेशकालपुरुषपरिषत्साक्षात्कारमन्तरेण सम्भावतीति सिद्धिः

‘किसी भी भौतिकरम्यरा में, किसी भी नाम से, किसी भी स्वरूप में कोई भी वयों न हो,
यदि वह दोष-कालुण्ठ से सर्वथा हीन हो या है तो वह आप ही हो । भगवन् ! अपावृ-
न्द्धिय अत्म की सिद्धि का निरूपण किया गया । १६॥

किन्तु बहुमा आदि को बीतराग और सर्वज्ञ मानने से श्रुति, स्मृति, पुराण और इतिहास
में लिखित उनके संबंध की कथाएँ मिथ्या हो जाएँगी । इस प्रकार साधक प्रमाणों द्वारा अती-
निधि अत्म की निरूपण किया गया । १६॥

अर्थ—बाधक प्रमाण के अभाव से भी अतीन्द्रिय ज्ञान की सिद्धि होती है ॥१७॥

५९—जैसे सुख के अस्तित्व में बाधक प्रमाण का अभाव भलीभांति निश्चित है, उसी प्रका-
र अतीन्द्रिय ज्ञान के विषय में भी किसी बाधक प्रमाण का न होना निश्चित है । केवलज्ञान के
बाधक कोई प्रमाण हो तो वह प्रत्यक्ष है या अन्य कोई प्रमाण ? प्रत्यक्ष बाधक हो नहीं सकता,
क्योंकि आपके मत से उसका अधिकार विद्यान करना ही है । निषेध को वह जान नहीं सकता ।
आपने ही कहा है—चक्षु अद्वि इन्द्रियां अपने से सम्बद्ध और वर्तमान वस्तु को ही प्रहृण करती है ।

६०—शंका—प्रवर्तमान प्रत्यक्ष बाधक नहीं है किन्तु निवर्तमान प्रत्यक्ष बाधक है । अतीन्द्रिय
केवलज्ञानी प्रत्यक्ष से प्रतोत नहीं होता, इसी से उसे बाधक मानते हैं ।

—समाधान—यदि अमूक देश और अमूक काल में ही प्रत्यक्ष केवलज्ञान का बाधक है
तो हमें भी वह स्वीकार है—इस देश-काल में हम भी उसका अभाव मानते हैं । यदि समस्त
देशों और कालों में केवलज्ञान या प्रत्यक्ष से अभाव सिद्ध करना चाहते हों तो समस्त देश-काल
और पुरुष समूह का साक्षात्कार किये विना ऐसा करना संभव नहीं है । अगर आप सम्मूर्खदेश-
काल और पुरुष समूह का साक्षात्कार करने का बाबा करते हों तो हमारा अशीष्ट सिद्ध ही

नः समीहितम् । न च जैमिनिरन्यो वा सकलदेशादिसाक्षात्कारी सम्भवति सत्त्वपुरुषत्वादेः रथ्यापुरुषवत् । अथ प्रजायाः सातिशयत्वालत्प्रकर्षेऽप्यनुभीयते; तर्हि तत एव सकलार्थदर्शी कि नानुभीयते? । स्वपक्षे चानुपलभ्यमप्रमाणयन् सर्वज्ञाभवे कुतः प्रमाणयेद्विशेषात् ? ।

इ१—न चानुमानं तद्वाधकं सम्भवति; धर्मग्रहणमन्तरेणानुमानाप्रवृत्तेः, धर्मग्रहणे वा तद्ग्राहकप्रमाणबाधितत्वादनुत्थानमेवानुमानस्य । अथ विवादाभ्यासितः पुरुषः सर्वज्ञो न भवति वक्तृत्वात् पुरुषत्वाद्वा रथ्यापुरुषवदित्यनुमानं तद्वाधकं बूष्ये; तदसत्; यतो यदि प्रमाणपरिहृष्टार्थवक्तृत्वं हेतुः; तदा विरुद्धः, तादृशस्य वक्तृत्वस्य सर्वज्ञ एव भावात् । अथासद्ग्राहकार्थवक्तृत्वम्; तदा सिद्धसाध्यता, प्रमाणविरुद्धार्थवादिनामसर्वज्ञत्वेनेष्टत्वात् । वक्तृत्वमात्रं तु सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनेकान्तिकम् ज्ञानप्रकर्षे वक्तृत्वापकार्षदिर्शनात्, प्रत्युत ज्ञानातिशयवतो वक्तृत्वातिशयस्येवोपजाता है, क्योंकि ऐसी स्थिति में आप स्वयं सर्वज्ञ हो जाएंगे । किन्तु जैमिनि या अन्य कोई पुरुष सम्पूर्ण देशादि को साक्षात् करने वाला हो नहीं सकता, क्योंकि वह सत् अथवा पुरुष है । जो सत् या पुरुष होता है वह सकल देश आदि का साक्षात्कर्ता नहीं हो सकता, जैसे कि राहगीर । (यह आपका ही सत् है ।)

शंका—प्रजा में तरतमता देखी जाती है अतएव किसी पुरुष में उसके प्रकार्ष का अनुमान भी किया जा सकता है । समाधान—यदि प्रजा के प्रकर्ष का अनुमान करते हो तो सर्वज्ञों का ही अनुमान क्यों नहीं कर लेते । अपने पक्ष में अनुपलभ्य को प्रमाण नहीं स्वीकार करते तो सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करते भी उसे प्रमाण करने में मान सकते हो ?

इ१—अनुमान प्रमाण भी सर्वज्ञ का बाधक नहीं हो सकता । धर्मो (पक्ष-प्रस्तुत में सर्वज्ञ) को आने विळा अनुमान को प्रवृत्ति नहीं होती । अगर धर्मो सर्वज्ञ-का ज्ञान लेना स्वीकार करो तो जिस प्रमाण से धर्मो का ग्रहण किया जाएगा वही प्रमाण सर्वज्ञत्वेष्टक अनुमान का बाधक हो जाएगा । ऐसी स्थिति में अनुमानबाधित पक्ष होने से अनुमान हो ही नहीं सकता ।

शंका—विवादयस्त पुरुष सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वह वक्ता है या क्योंकि वह पुरुष है । जो वक्ता अथवा पुरुष होता है । वह सर्वज्ञ नहीं होता, जैसे कोई राहगीर । यह अनुमान सर्वज्ञ का बाधक है । समाधान—नहीं है । यहीं वक्तृत्व का अभिप्राय क्या है? यदि प्रमाणहृष्ट अन्यों के वक्तृत्व से अभिप्राय हो तो हेतु विरुद्ध है, अर्थात् यह उलटा सर्वज्ञता को सिद्ध करता है, क्योंकि ऐसा वक्तृत्व सर्वज्ञ में ही हो सकता है । अगर असद्ग्रूप अर्थों का वक्तृत्व कहते हो तो वह सिद्ध को ही सिद्ध करता है । प्रमाणविरुद्ध वक्ता को हम भी सर्वज्ञ स्वीकार नहीं करते । यदि वक्तृत्व मात्र को हेतु कहा जाय तो संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिक होने से व्यभिचारी है अर्थात् सामान्य वक्तृत्व सर्वज्ञ में भी पाया जा सकता है, क्योंकि ज्ञान की बृद्धि होने पर वक्तृत्व की हानि नहीं होती जाती । इसके विपरीत ज्ञान का उत्कर्ष होने पर वक्तृत्व का उत्कर्ष हो जैसा जाता है ।

लधेः । एतेन पुरुषत्वमपि निरस्तम् । पुरुषत्वं हि यदि रागाद्यदूषितं तदा विरुद्धम्-
ज्ञानवैराग्यादिगुणयुक्तपुरुषत्वस्य सर्वज्ञतामन्तरेणानुपपत्तेः । रागाद्यदूषिते तु पुरुषत्वे
सिद्धसाध्यता । पुरुषत्वसामान्यं तु सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिक्षित्यबाधकम् ।

६२—नाथ्यागमस्तद्वाधकः तस्यापौरुषेयस्यासम्भवात् । सम्भवे वा लद्वाधकस्य
तस्यादर्शनात् । सर्वज्ञोपज्ञश्चागमः कथं तद्वाधकः ?, इत्यलमतिप्रसङ्गेनेति ॥१७॥

६३—न केवलं केवलमेव मुख्यं प्रत्यक्षमपि त्वन्यदपीत्याह—

तत्त्वारतम्येऽवधिमनःपर्यायौ च ॥१८॥

६४—सर्वथावरणविलये केवलम्, तस्यावरणविलयस्य ‘तारतम्ये’ आवरणक्ष-
योपशमविशेषे तन्निमित्तकः ‘अवधिः’ अवधिज्ञानं ‘मनःपर्यायः’ मनःपर्यायज्ञानं च
मुख्यमिन्द्रियानपेक्षं प्रत्यक्षम् । तत्रावधीयत इति ‘अवधिः’ मर्यादा, सा च “रूपिष्ठव-
यधेः” [तत्त्वा० १.२८] इति वचनात् रूपवद्व्यविषया अवद्युपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः ।

उपर्युक्त कथन से पुरुषत्व हेतु भी खंडित हो जाता है । यहाँ भी तीन विकल्प हो सकते हैं—(१) रागादि से अदूषित पुरुषात् (२) रागादि से दूषित पुरुषात् और (३) पुरुषत्व सामान्य । पहला पक्ष लिया जाय तो हेतु विरुद्ध है, क्योंकि ज्ञान वैराग्य आदि से युक्त पुरुषत्व सर्वज्ञता के विनाश संभव नहीं है । दूसरे पक्ष में सिद्धसाध्यता है, क्योंकि रागादि से दूषित पुरुष को हम सर्वज्ञ मानते ही नहीं । तीसरे पक्ष में पुरुषत्वसामान्य संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिक है, क्योंकि सर्वज्ञत्व के साथ पुरुषत्व का कोई विरोध नहीं है ।

इस प्रकार अनुमान प्रमाण भी सर्वज्ञता का बाधक सिद्ध नहीं होता ।

६५—आगम प्रमाण भी बाधक नहीं है । अपौरुषेय आगम तो कोई हो ही नहीं सकता और
मान भी लिया जाय तो वह बाधक दीखता नहीं । सर्वज्ञकृत आगम सर्वज्ञत्व का बाधक हो ही
कैसे सकता है ? (असर्वज्ञकृत आगम प्रामाणिक नहीं माना जा सकता) । अब यह असी अधिक
नहीं करते ॥१८॥

६६—सिर्फ केवलज्ञान ही मुख्य प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु अन्य ज्ञान भी मुख्य प्रत्यक्ष हैं, यह
बतलाते हैं—

अर्थ—आवरणक्षय का तारतम्य होने पर अवधि और मनःपर्याय ज्ञान होते हैं । वे भी
मुख्य प्रत्यक्ष हैं ॥१८॥

६७—ज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने पर केवलज्ञान होता है । किन्तु जब आवरण-
क्षय का तारतम्य होता है अर्थात् विशिष्ट क्षयोपक्षम होता है तब इन्द्रियों की अपेक्षा न रखने
वाला अवधिज्ञान और मनःपर्याय उत्पन्न होता है । यह दोनों ज्ञान भी मुख्य प्रत्यक्ष हैं । अवधि
अर्थात् मर्यादा से युक्त ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है । मर्यादा यह है कि यह ज्ञान रूपी द्रव्यों को ही
ज्ञानता है । तत्त्वार्थसूत्र में भी यही कहा है—‘रूपी द्रव्यों में ही अवधिज्ञान के विषय का नियम है ।’

स द्वेषा भवप्रत्ययो गुणप्रत्ययश्च । तत्राच्चो देवनारकाणां परिणामिक विषद्गमनम् ।
गुणप्रत्ययो भनुष्याणां तिरङ्गां च ।

६५--मनसो द्रव्यरूपस्य पर्यायाविचक्तनानुगुणाः परिणामभेदास्तद्विषयं ज्ञानं
'मनःपर्यायः' । तथावधिमनःपर्यायात्यथानुपपत्त्या तु यद्वाहुचिन्तनीयार्थज्ञानं तत्
आनुमानिकभेद न मनःपर्यायप्रत्यक्षम्, यदाहुः—

"जाणइ बज्ज्ञेणुमाणेण ।" [विशेषा० गा० ८१४]

६६--ननु रूपिद्रव्यविषयत्वे क्षायोपशमिकत्वे च तुल्ये को विशेषोऽवधिमनः-
पर्याययोरित्याह—

विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयभेदात् तद्भेदः ॥ १९ ॥

६७--सत्यपि कथमिच्चत्साधम्ये विशुद्धचादिभेदादवधिमनःपर्यायज्ञानयोर्भेदः ।
तत्रावधिज्ञानान्मनःपर्यायज्ञानं विशुद्धतरम् । यानि हि मनोद्रव्याणि अवधिज्ञानी
जानीते तानि मनःपर्यायज्ञानी विशुद्धतराणि जानीते ।

६८--क्षेत्रकृतश्चानयोर्भेदः—अवधिज्ञानमंगलस्यासंखेयभागादिषु भवति आ सर्व-
लोकात्, मनःपर्यायज्ञानं तु मनुष्यक्षेत्र एव भवति ।

यह ज्ञान को प्रकार कहा है—मनप्रत्यय और गुणप्रत्यय । भव का निमित्त प्रकार होने वाला भव-
प्रत्यय कहलाता है, जैसे पक्षियों का आकाशगमन भव के निमित्त से होता है । इस प्रकार का ज्ञान
देवों और नारकों को ही होता है । दूसरा गुणप्रत्यय अवधि मनुष्यों और तिर्यकों को ही होता है ।

६५-द्रव्यमन के, चिन्तन के अनुरूप जो नाना प्रकार के पर्याय होते हैं, उन्हें ज्ञानसे वाला
ज्ञान मनःपर्याय ज्ञान कहलाता है । 'इस प्रकार के पदार्थ का चिन्तन किये बिना ऐसे पर्याय नहीं
हो सकते ' ऐसा अविनाभाव का विचार करने से बाह्य चिन्तित पदार्थ का ज्ञान होता है ।
यह ज्ञान अनुमान है । अभिप्राय यह है कि जैसे-जैसे पदार्थ का चिन्तन किया जाता है, वैसे
वैसे ही मन के पर्याय होते रहते हैं । मनःपर्याय ज्ञान उन्हीं पर्यायों को साक्षात् ज्ञानता है । फिर
उन पर्यायों के आधार पर अनुमान से घट आदि बाह्य पदार्थों का विद्य होता है । बाह्य पदार्थों
के इस ज्ञान को मनःपर्यायज्ञान नहीं समझना चाहिए । आख्य में भी कहा है—'मनःपर्यायज्ञानी
बाह्य पदार्थों को अनुमान से जानता है ॥ १८ ॥'

६६—शंका—अवधि और मनःपर्याय दोनों ज्ञान रूपी द्रव्यों को ही जानते हैं और दोनों
क्षायोपशमिक हैं तो उनमें भेद क्या है ? इस शंका का समाधान—

अर्थ—विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय के भेद से दोनों में भेद है ॥ १९ ॥

६७-किसी अपेक्षा से समरूपता होने पर भी विशुद्धि आदि के भेद से अवधिज्ञान और
मनःपर्याय ज्ञान में भेद है । विशुद्धिभेद—अवधिज्ञान से मनःपर्याय ज्ञान अधिक विशुद्ध है । जिन
मनोद्रव्यों को अवधिज्ञानी ज्ञानता है, उन्हें मनःपर्यायज्ञानी अधिक विशुद्ध रूप से जानता है ।

६८-क्षेत्रभेद-अवधिज्ञान अंगूल के असंख्यात्मेण जाग आदि क्षेत्र से लगा कर सदस्त लोकपर्यायन्त

६९—स्वाभिकृतोऽपि—अवधिज्ञानं संयतस्यासंयतस्य संयतासंयतस्य च सर्वगतिषु भवति ; मनःपर्यायज्ञानं तु मनुष्यसंयतस्य प्रकृष्टचारित्रस्य प्रमत्तादिषु क्षीणकषायान्तेषु गुणस्थानकेषु भवति । तत्रापि वर्धमानपरिणामस्य नेतरस्य । वर्धमानपरिणामस्यापि अहंप्राप्तस्य नेतरस्य । अहंप्राप्तस्यापि कस्यचिन्नं सर्वस्येति ।

७०—विषयकृतश्च-रूपवद् द्रव्येष्व सर्वपर्यायेष्व वद्येविषयनिवृद्धस्तदनन्तभागे मनः-पर्यायस्य इति । अवसितं भूलयं प्रत्यक्षम् ॥१९॥

७१—अथ सांख्यवहारिकम्—

इन्द्रियमनोनिमित्तोऽबग्रहेहावायधारणात्मा सांख्यवहारिकम् ॥२०॥

७२—इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि वक्ष्यमाणलक्षणाभिः, मनश्च निमित्तं कारणं यस्य स तथा । सामान्यलक्षणानुवृत्तेः सम्यगर्थनिर्णयस्येदं विशेषणं तेन 'इन्द्रियमनोनिमित्तः' सम्यगर्थनिर्णयः । कारणमुवस्वा स्वरूपमाह—'अबग्रहेहावायधारणात्मा' । अबग्रहाद्यो वक्ष्यमाणलक्षणाः स आत्मा यस्य सोऽबग्रहेहावायधारणात्मा । 'आत्म' ग्रहणं च क्षेषणोत्पद्यमानात्मामप्यवग्रहदीनां नात्यन्तिको भेदः किन्तु पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तररूपतया होता है, अर्थात् जघन्यतः अगुल के असंस्याक्षरें भाग क्षेत्र में स्थित और उत्कृष्ट सम्पूर्ण लोक में स्थित रूपी पदार्थों को जानता है, जब कि मनःपर्याय ज्ञान मनुष्य क्षेत्र में ही होता है अर्थात् अद्वैतीय में स्थित सज्जी पञ्चेन्द्रिय जीवों के मन के पर्यायों को ही जानता है ।

६९—स्वाभिमेद—अविद्यज्ञान संयमी, असंयमी और संयमासंयमी को सर्व गतियों में होता है, मनःपर्यायज्ञान मनुष्य संयत और उत्कृष्ट चारित्रवाले भूनि को ही होता है । वह प्रमत्तसंयत से क्षीणकषायपर्यन्त गुणस्थानों में ही पाया जाता है । इनमें भी वर्धमान परिणामवाले को ही होता है अन्य को नहीं । वर्धमान परिणामवालों में से भी अहंप्राप्त को ही होता है, जो अहंप्राप्तसम्पन्न न हो उसे नहीं होता । अहंप्राप्त में से भी किसी-किसी को होता है, सब को नहीं ।

७०—विषयभेद—अविद्यज्ञान सब रूपी द्रव्यों को जानता है पर उनके सब पर्यायों को नहीं जानता मनःपर्यायज्ञान उनके अनन्तर्वें आग को विषय करता है । मूल्य प्रत्यक्ष का निरूपण समाप्त हुआ ॥१९॥

७१—सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष का लक्षण—

अर्थ—इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाला तथा अबग्रह, ईहा, अवाय और धारणा स्वरूप वाला सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलाता है ॥२०॥

७२—आगे कही जाने वाली स्पर्शन आदि इन्द्रियों और मन जिसमें कारण हों वह 'इन्द्रियमनोनिमित्त' कहलाता है । प्रमाण के सामान्य लक्षण का अध्याहार होने से यह विशेषण 'सम्यगर्थ-निर्णय' का समझना चाहिए । तात्पर्य यह है कि जो सम्यगर्थनिर्णय इन्द्रिय और मन के निमित्त से होता है वह सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष है । यह कारण का निरूपण हुआ । सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष अबग्रह, ईहा, अवाय और धारणा स्वरूप वाला है । सूत्र में 'आत्मा' शब्द का प्रयोग यह प्रत्यक्षित करने के लिए किया गया है कि-यद्यपि अबग्रह आदि क्रम से उत्पन्न होते हैं, किंतु भी उनमें सर्वथा स्वेच्छा नहीं है—वे मूलतः अलग—अलग ज्ञान नहीं हैं, बल्कि पूर्व—पूर्व का ही उत्तर—उत्तर का

परिणामादेकात्मकत्वमिति प्रदर्शनार्थम् । समीचीनः प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपो व्यवहारः संव्यवहारस्तत्प्रथोजनं 'सांव्यवहारिकम्' प्रत्यक्षम् । इन्द्रियमनोनिमित्तत्वं च समस्तं व्यस्तं च बोद्धव्यम् । इन्द्रियप्राधान्यात् मनोबलाधानाद्वचोत्पद्यमान इन्द्रियजः । मनसे एव विशुद्धिसंव्यपेक्षादुपजायमानो मनोनिमित्त इति ।

७३—ननु स्वसंवेदनरूपमन्यदधि प्रत्यक्षमस्ति तत् कस्मान्नोवतम् ?, इति न वाच्यम्; इन्द्रियज्ञानस्वसंवेदनस्येन्द्रियप्रत्यक्षे, अनिन्द्रियज्ञानसुखादिसंवेदनस्य मनः-प्रत्यक्षे,योगिप्रत्यक्षस्वसंवेदनस्य योगिप्रत्यक्षेऽन्तभवित । स्मृत्यादिस्वसंवेदनं तु भावस-मेवेति नापरं स्वसंवेदनं नाम प्रत्यक्षमस्तीति भेदेन नोक्तम् ॥२०॥

७४—इन्द्रियेत्युक्तमितीन्द्रियाणि लक्षणति—

स्पर्शरसगन्धरसप्रदग्नहरूक्षणाणि स्पर्शनरसनव्राणचक्षुः-
श्रोत्राणीन्द्रियाणि द्रव्यभावभेदानि ॥२१॥

७५—स्पर्शादिप्रहृणं लक्षणं येषां तानि यथासङ्घर्षं स्पर्शनादीनीन्द्रियाणि,तथा हि परिणमन हो जाता है अर्थात् अवग्रहज्ञान इहा के रूप में,इहा अवाय-रूप में और अवाय धारणा के रूप में परिणत हो जाता है । इस प्रकार उनमें एकात्मता भी है ।

समीचीन प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप व्यवहार संव्यवहार कहलाता है । संव्यवहार जिसका प्रयोजन हो जाए 'सांव्यवहारिक' कहते हैं । सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में इन्द्रियों को और मन को कारण कहा है,इसका अभिप्राय यह नहीं,कि ये सम्मिलित ही कारण हों—अलग-अलग भी कारण होते हैं और सम्मिलित भी । जिस ज्ञान में इन्द्रियों प्रधान और मन गौण रूप से कारण हो,वह इन्द्रियसांव्यवहारिक' कहलाता है और विशुद्धियुक्त मन से ही जो उत्पन्न हो वह 'मनोनिमित्तम्' कहलाता है ।

७६—शंका—'स्वसंवेदन' नामक एक प्रत्यक्ष और है । उसे यहाँ क्यों नहीं बतलाया ?

समाधान—स्वसंवेदनप्रत्यक्ष है,किन्तु वह इनसे पृथक् नहीं है । इन्द्रियज्ञान का स्व-संवेदन इन्द्रियज्ञप्रत्यक्ष में, मनोनिमित्तक ज्ञान का स्वसंवेदन मनोनिमित्तप्रत्यक्ष में और योगि-प्रत्यक्षस्वसंवेदन का योगिप्रत्यक्ष में अन्तर्गत है । स्मृति आदि ज्ञानों का स्वसंवेदन भावसप्रत्यक्ष में अन्तर्गत है । इसकारण स्वसंवेदनप्रत्यक्ष को पृथक् नहीं कहा है ॥२०॥

७४—इन्द्रियों का स्वरूप—

अर्थ—स्पर्शन, रसना, ध्वनि, चक्षु और श्रोत्र, यह पाँच इन्द्रियाँ हैं । कम से स्पर्श, गंभीर रूप और शब्द को प्रहृण करना लक्षण है । यह पाँचों इन्द्रियों दो-दो प्रकार की हैं—इन्द्रिय और भावेन्द्रिय ॥२१॥

स्पर्श को प्रहृण करना स्पर्शेन्द्रिय का लक्षण है, रस की प्रहृण करना रसेन्द्रिय का लक्षण है,गंभीर को प्रहृण करना ध्वनेन्द्रिय का लक्षण है, रूप को प्रहृण करना अवृत्तिन्द्रिय का लक्षण है और शब्द को प्रहृण करना श्रोत्रेन्द्रिय का लक्षण है ।

स्पर्शाद्युपलक्षिः: करणपूर्वा क्रियात्वात् लिदिक्रियावत् । तत्रेन्द्रेण कर्मणा सृष्टानीन्द्रियाणि नामकर्मदिवयनिमित्तत्वात् । इन्द्रस्यात्मनो लिगानि च, कर्मसलीभृत्यस्य हि स्वयमर्थानुपलब्धुमसमर्थस्यात्मनोऽर्थोपलब्धौ निमित्तानि इन्द्रियाणि ।

७६—नन्देवमात्मनोऽर्थज्ञानमिन्द्रियात् लिगादुपजायमानमानुमानिकं स्यात् । तथा च लिगापरिज्ञानेऽनुमानानुद्यात् । तस्यानुमानात्परिज्ञानेऽनवस्थाप्रसंगः; नैवम्; भावेन्द्रियस्य स्वसंविदितत्वेनानवस्थानवकाशात् । यद्वा, इन्द्रस्यात्मनो लिगान्यात्मगमकानि इन्द्रियाणि करणस्य वास्यादिवत्कर्त्रधिष्ठितस्वदर्शनात् ।

७७—तानि च द्रव्यभावरूपेण भिद्यन्ते । तत्र द्रव्येन्द्रियाणि नामकर्मदिवयनिमित्तानि, भावेन्द्रियाणि पुनरतदावरणशीयन्तरायक्षयोपशमनिमित्तानि । संधा पञ्चसूक्त्री स्पर्शाग्रहणलक्षणं स्पर्शनेन्द्रिये, रसग्रहणलक्षणं रसनेन्द्रियमित्यादि । सकलसंसारिषु भावाच्छरीरव्यापकत्वाच्च स्पर्शनस्य पूर्वं निर्देशः, ततः क्रमेणाल्पाल्पजीवविषयत्वाद्वस्त्राण्यचक्षुःश्रोत्राणाम् ।

स्पर्श आदि को उपलक्षि करण के द्वारा हो होती है, क्योंकि वह क्रिया है, प्रत्येक क्रिया करण के द्वारा ही हुआ करती है, जैसे छेदन-क्रिया कुठार के द्वारा होती है । इस प्रकार स्पर्श आदि को उपलक्षि में जो करण है, वही इन्द्रिय है । इन्द्र अर्थात् नाम कर्म के द्वारा जिनका निर्माण हुआ हो वह इन्द्रियर्थी । अथवा इन्द्र अर्थात् आत्मा के लिए जो लिग-करण हों वह इन्द्रियर्थी । कर्मों से मलीन आत्मा स्वर्यं पदार्थों को जानने में असमर्थ है । इन्द्रियाँ उसके जानने में निमित्त होती हैं ।

७६—शंका-यदि आत्मा को इन्द्रियरूप लिग से पदार्थों का ज्ञान होता है तो वह ज्ञान अनुमान कहलाएगा । और अनुमान को उत्पत्ति लिग का ज्ञान हुए बिना हो नहीं सकती । लिग का ज्ञान भी यदि अनुमान से माना जाय तो अनवस्था दोष का प्रसंग आता है । अर्थात् लिग जानजनक वह अनुमान भी लिग को जान लेने पर ही होगा और वह लिग किर अनुमानान्तर से आना आएगा । इस प्रकार कहीं विश्रान्ति ही नहीं होगी । समाधान—ऐसी बात नहीं है । भावेन्द्रियाँ स्वसंदेशी हैं अर्थात् आप ही अपने को जान लेती हैं अतः अनवस्था को कोई अवकाश नहीं है । अथवा हन्द्र अर्थात् आत्मा के जो लिग हों-जिनसे आत्मा के अस्तित्व की प्रतीति होती हो-उन्हें इन्द्रिय कहते हैं । जितने भी वसूला आदि करण हैं वे सब कर्ता द्वारा अधिष्ठित होकर ही क्रिया करते हैं । इन्द्रियर्थी करण हैं तो वे भी कर्ता से अधिष्ठित होनी चाहिए । वह कर्ता ही आत्मा है । इस प्रकार इन्द्रियों से आत्मा का अनुमान होता है ।

७७—इन्द्रियों दो प्रकार की हैं—द्रव्येन्द्रियाँ और भावेन्द्रियाँ, द्रव्येन्द्रियाँ नामकर्म के उदाहरण से बनती हैं । भावेन्द्रियाँ इन्द्रियावरण और वीयन्तराय कर्म के अथोपशय से होती हैं । स्पर्श को विषय करने वाली स्पर्शनेन्द्रिय है एवं जीवों इन्द्रियों के विषय में यथायोग्यस मझ लेना चाहिए ।

सर्वप्रथम स्पर्शनेन्द्रिय का उल्लेख किया गया है, क्योंकि वह संसार के समस्त जीवों में प्राप्ति जाती है और सम्पूर्ण शरीर में ध्यात है । तत्पश्चात् क्रम से अल्प-अल्प जीवों को प्राप्त

७८-तत्र स्पर्शनेन्द्रियं तदावरणक्षयोपशमसम्भवं पृथिव्यप्तेजोदायुद्धनस्पतीनां
शोषेन्द्रियावरणवतां स्थावराणां जीवानाम् । तेषां च “पुढवी चित्तमन्तमक्षताया”
[दशवै० ४. १] इत्यादेराप्तागमात्सद्धिः । अनुभानाच्च—ज्ञानं व्यवच्चिदात्मनि परमाप-
कर्षवत् अपकृष्ट्यमाणविशेषत्वात् परिमाणवत्, यत्र तदपकर्षेष्यन्तस्त एकेन्द्रियः
स्थावराः । न च स्पर्शनेन्द्रियस्याप्यभावे भस्मादिषु ज्ञानस्याप्यकर्षो युक्तः । तत्र हि
ज्ञानस्याभाव एव न पुनरपकर्षस्ततो यथा गगनविशाणादारभ्यापकृष्ट्यमाणविशेषं
परिमाणं पश्माणो पश्मापकर्षतत् तथा ज्ञानमयि केवलज्ञानादारभ्यापकृष्ट्यमाणविशेष-
मेकेन्द्रियोऽवत्यन्तमपकृष्ट्यते । पृथिव्यादीनां च प्रत्येकं जीवत्वसिद्धिरग्रे वक्ष्यते ।
स्पर्शनरसनेन्द्रिये कुमि-अपादिका-नूपुरक-गण्डूषद-शंख-शुक्रितका-शम्बुका-जलूकाप्रभ-
तीनां त्रसानाम् । स्पर्शन-रसन-द्वाणानि-पिपीलका-रोहणिका-उपचिका-कुन्थु-सुबरक-
श्रयुस-बीज-कपसिसास्थिका-शतधदी-अयेनक-तृणघञ्च-काष्ठहारकादीनाम् । स्पर्शन-रसन-
द्वाण-चक्षुषि ऋभर-बटर-सारंग-मक्षिका-पुत्तिका-दंश-मशक-चूर्णिक-नन्द्यावर्त-
होने से रसना, द्वाण, चक्षु और ओश्र का ग्रहण किया है । तात्पर्य यह है कि स्पर्शनेन्द्रिय की
अपेक्षा रसनेन्द्रिय कम जीवों को प्राप्त होती है, रसना की अपेक्षा द्वाण और चक्षु की जीवों को प्राप्त
है, इसीप्रकार द्वाण को अपेक्षा चक्षु और चक्षु की अपेक्षा ओश्र इन्द्रिय कम जीवों को प्राप्त है ।

७८-स्पर्शनेन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्तरश्च होने वाली स्पर्शनेन्द्रिय अकेली उन्हीं पृथ्वीकाय, अपकाय, सैजस्काय, वायुकाय और बनस्पति काय के स्थावर जीवों को होती है, जिनको शोष-इन्द्रियावरण का उदय है। 'पृथ्वी सचित् कही गई है' इत्यादि आप्तप्रणीत आगम से स्थावर जीवों की सत्ता सिद्ध होती है।

अनुमान प्रमाण से भी उनकी सिद्धि होती है, यथा-किसी आत्मा में ज्ञान का परम अप-कर्ब (चरम ध्येयों की स्थूलता) है क्योंकि ज्ञान अपकृष्ट होता हुआ देखा जाता है, जैसे परिमाण। अर्थात् जैसे परिमाण का परम प्रकार आकाश में है, फिर अनुक्रम से लोकाकाश, मध्यलोक, ऊंचाई आदि में कम होता-होता परमाणु में सब से कम है, इसी प्रकार ज्ञान का परम प्रकार सर्वज्ञ में है, फिर अनेक जीवों में कम होते-होते कहीं सब से कम है। जिन जीवों में सब से कम ज्ञान है अर्थात् ज्ञान का परम अपकर्ब है, वही स्थान कहलाते हैं। शंका--स्पर्शनेनिद्रिय के भी अमात्र में भस्म आदि में ज्ञान का अपकर्ब देखा जाता है। समाधान--भस्म आदि में ज्ञान का अपकर्ब (कमी) नहीं है, वहीं तो उसका सर्वया अमात्र ही है। पृथ्वीकाय आदि जीव हैं यह आगे कहेंगे स्पर्शन और रसना, यह दो इन्द्रियों कृमि, अपादिका, नूपुरक, मण्डूपद, शंख, शुक्ति, शश्वका, जलीका आदि त्रय जीवों में पाई जाती हैं। स्पर्शन, रसना और ध्वनि, यह तीन इन्द्रियों पिष्ठीलिका, रोहणिका, उपचिका, कुन्थु, तुबरक, श्रवण, बीज, कर्णसास्थिका, शतपदी, अघोमक, तृणपत्र, काष्ठहारक आदि जीवों में होती हैं। स्पर्शन, रसना ध्वनि और चक्षु, यह चार इन्द्रियों भ्रमर, बटर, सारंग, मस्किका, पुस्तिका, दंश, मशक, नन्दावर्ती, (भुज जम्बु विशेष)

कोटक-पतंगादीनाम् । सह शोब्रेण तानि मत्स्य-उरुग-भुजग-पक्षि-चतुष्पदानां तिर्यग्योनि-
जानां सर्वेषां च नारकमनुष्यदेवानामिति ।

७२—ननु बचनादानविहरणोत्सगनिन्दहेतवो वाक्पाणिपादपायुपस्थलक्षणान्य-
पीन्द्रियाणीति सांख्यास्तत्कथं पठच्छेन्द्रियाणि ? ; न ; ज्ञानविशेषहेतुनामेवेहेन्द्रियस्थे-
नाधिकृतत्वात्, चेष्टाविशेषनिमित्तेनेन्द्रियत्वकालनामानिन्द्रियास्यप्रसंगः, चेष्टा-
विशेषाणाभनन्तत्वात्, तस्माद् व्यक्तिनिर्देशात् पठच्छेन्द्रियाणि ।

८०—तेर्षा च परस्परं स्यादभेदो द्रव्याथविशात्, स्याद्द्वेदः पर्यायाथविशात्,
अभेदकान्ते हि स्पर्शनेन स्पर्शस्येव रसादेवपि ग्रहणप्रसंगः । तथाचेन्द्रियान्तरकहपना
वैयर्थ्यम्, कस्यचित् साकल्ये वैकल्ये वाच्येषां साकल्यवैकल्यप्रसंगश्च । भेदेकान्तेऽपि
तेषामेकत्र सकल (सङ्कल्प) ज्ञानजनकत्वाभावप्रसंगः सन्तानान्तरेन्द्रियवत् । मत्स्यस्तस्य
जनकमिति चेत् ; न ; तस्येन्द्रियनिरपेक्षस्य तज्जनकत्वाभाववात् । इन्द्रियायेकं मनोऽ-
नुसन्धानस्य जनकमिति चेत् ; सन्तानान्तरेन्द्रियायेकस्य कुतो न जनकत्वमिति
वाच्यम् ? । प्रत्यासत्तेरभावादिति चेत् ; अत्र का प्रत्यासत्तिरन्यत्रैकद्रव्यतादात्म्यात् ?,
कीट, पतंग आदि में होती है शोषसहित पाँचों इन्द्रियों मत्स्य, उरुग, भुजग, पक्षी, चतुष्पद आदि
तिर्यकों में तथा समस्त नारकों, मनुष्यों और देवों में होती है ।

७९—शंका-बचन, आदान, विहरण, मलोत्सर्व और अनन्द का कारण थाक् पाणि, पाद
पायु और उपस्थ-नामक दाँच इन्द्रियों व्यौर हैं, यह सांख्य मानते हैं । ऐसी स्थिति में पाँच ही
इन्द्रियों क्यों ? समाधान—ऐसा न कहो । जो किसी विशिष्ट ज्ञान का कारण है, वहाँ उन्हीं
को इन्द्रिय माना गया है । चेष्टा-विशेष के हेतुओं को यदि इन्द्रिय मान लें तो इन्द्रियों अनन्त
हो जाएँगी, क्योंकि चेष्टाएँ अनन्त होती हैं । अतएव विशेष-निर्देश से इन्द्रियों पाँच ही हैं ।

८०—पाँचों इन्द्रियों द्रव्याधिक नय को अपेक्षा से अभिन्न है और पर्यायाधिक नय को
अपेक्षा से भिन्न है । उनमें यदि एकान्त अभेद माना जाय तो जैसे स्पर्शनेन्द्रिय से स्पर्श का ग्रहण
होता है उसी प्रकार उससे रस आदि का भी ग्रहण होना चाहिए । जब एक ही इन्द्रिय सभी
विषयों की प्राप्ति हो जाएगी तो दूसरी इन्द्रियों को मानना बूथा ही ठहरेगा । इसके अतिरिक्त
एक इन्द्रिय की पूर्णता होने पर सब की पूर्णता और एक की विकलता में सभी की विकलता हो
जाएगी । इन्द्रियों का एकान्त भेद माना जाय तो जैसे भिन्न-भिन्न पुरुषों की इन्द्रियों किसी एक
विषय में संकलनज्ञान (जोड़रूप ज्ञान) उत्पन्न नहीं कर सकती, उसी प्रकार एक पुरुष की
इन्द्रियों भी नहीं कर सकेंगी । (मैंने देखा भी है, सूचा भी है, चला भी है, छुआ भी है, इस
कार के संकलनज्ञान से उनकी अभिन्नता भी सिद्ध होती है ।) -शंका-यह संकलनज्ञान मन से
है न है । समाधान-नहीं, इन्द्रियनिरपेक्ष मन उसे उत्पन्न नहीं कर सकता । -शंका-इन्द्रियों की
सहिता से मन संकलनज्ञान उत्पन्न करता है । समाधान-तो दूसरे पुरुष की इन्द्रियों की सहायता
से दूरे पुरुष का मन क्यों नहीं अनुसन्धान करता ? शंका-उनका उसके साथ सम्बन्ध नहीं है ।
संधान-तो एक ही पुरुष की इन्द्रियों में एकद्रव्यसत्तादात्म्य के अतिरिक्त अन्य क्या सम्बन्ध है ?

प्रत्यासत्यन्तरस्य च व्यभिचारादिति । एतेन तेषामात्मना भेदाभेदकान्ते प्रतिव्यूढौ । आत्मना करणानामभेदेकान्ते कर्तृत्वप्रसंगः, आत्मनो वा करणस्वप्रसंगः, उभयोहमयात्म-कर्तृत्वप्रसंगो वा, विशेषाभावात् । ततस्तेषां भेदेकान्ते चात्मनः करणस्वाभावः सन्ताना—न्तरकरणवद्विषयं यो वेति प्रतीतिसिद्धत्वाद्वाधिकाभावाच्चानेकान्तं एवाश्रयणीयः ।

८१—इव्येन्द्रियाणामपि परस्परं स्वारम्भकपुद्गलद्रव्येभ्यश्च भेदाभेदहारानेकान्तं एव युक्तः, पुद्गलद्रव्याथदिशादभेदस्य पर्यायाथदिशाच्च भेदस्योपपद्यमानत्वात् ।

८२—एवमिन्द्रियविषयाणां स्पर्शादीनामपि इव्यपर्यायिलपतया भेदाभेदात्मकर्तृत्वमवसेयम्, तथैव निर्बाधमुपलब्धेः । तथा च न इव्यभावं पर्यायमात्रं वेन्द्रियविषय इति स्पर्शादीनां कर्मसाधनत्वं भावसाधनत्वं च इष्टव्यम् ॥२१॥

८३—‘इव्यभावभेदात्मि’ इत्युक्तं तात्त्वं क्रमेण लक्षयति—

द्रव्येन्द्रियं नियताकाराः पुद्गलाः ॥२२॥

दूसरा संबंध मानने में बाधा आती है। तात्पर्य यह है कि एक पुरुष की पाँचों इन्द्रियों एक-इच्छलादात्म्य से सम्बद्ध हैं। यही उनका अस्त्रेव है।

यह तो इन्द्रियों के पारस्परिक भेद-अभेद की बात हुई। इससे आत्मा के साथ उनकी सर्वथा भिन्नता या सर्वथा अभिन्नता भी खड़ित हो जाती है। यदि आत्मा से इन्द्रियों का एकान्त अभेद माना जाय तो या सो आत्मा की तरह इन्द्रियों को भी कर्त्ता मानना पड़ेगा या इन्द्रियों की तरह आत्मा को भी करण मानना होगा, अथवा दोनों ही दोनों रूपों में सर्वथा अभेद कहना असंगत है। इसके विपरीत, यदि इन्द्रियों का वात्मा से एकान्त भेद मान लिया जाय तो दूसरे की इन्द्रियों के समान अपनी कहलाने वाली इन्द्रियों सी करण नहीं हो सकेगी। अथवा विपर्यय हो जाएगा—पराई इन्द्रियों करण हो जाएं और अपनी इन्द्रियों करण न हों (आत्मा से इन्द्रियों का सर्वथा वार्थक्य होने पर अपनी-पराई इन्द्रियों में कोई विशेषता भी होगी नहीं) अतएव भेदाभेद के विषय में अनेकान्त का ही आश्रय लेना जाहिए, वयोंकि ऐसी ही प्रतीति होती है और उसमें कोई बाधा भी नहीं है।

८१—जिन पुद्गलद्रव्यों से इव्येन्द्रियों निमित्त होती है, वे परस्पर कर्त्तव्यित् भिन्न-प्रभिन्न हैं। उनमें इव्य की अपेक्षा अस्त्र और पर्याय की अपेक्षा भेद की सिद्धि होती है।

८२—इसी प्रकार इन्द्रियों के विषय स्पर्श आदि भी इव्य की अपेक्षा अभिन्न और पर्याय की अपेक्षा भिन्न हैं। ऐसी ही निर्बाध प्रतीति होती है। अतएव इन्द्रियों का विषय न अकेला इव्य है, न अकेला पर्याय है। स्पर्श आदि शब्द कर्मसाधन हैं और भाव-साधन भी हैं। अर्थात् जिसे कुछ जाय वह स्पर्श कहलाता है और छूना भी स्पर्श कहलाता है ॥२२॥

इव्य और भाव ये दो भेद (इन्द्रियों के) कहे हैं। अब उनको क्रमशः बताते हैं—

८३—इव्येन्द्रिय का स्वरूप—(अर्थ) नियत आकार वाले पुद्गल इव्येन्द्रिय कहलाते हैं ॥२२॥

८४—‘द्रव्येन्द्रियम्’ इत्येकवचनं जात्याश्रयणात् । नियतो विशिष्टो बाह्य आभ्य-
त्तरवचाकारः संस्थानविशेषो येषां ते ‘नियताकाराः’ पूरणगल्लधर्मणः स्पर्शरसगन्धवर्ण-
वन्तः ‘पुद्गलाः’, तथाहि शोषादिषु यः कर्णशङ्कुलीप्रभृतिबहुः पुद्गलानां प्रवयो
यश्चाभ्यन्तरः कदम्बगोलकाचाकारः स सबौ द्रव्येन्द्रियम्, पुद्गलद्रव्यस्त्रपत्वात् । अप्र-
धान्ये वा द्रव्यशब्दो यथा अंगारमहंको द्रव्याचार्य इति । अप्रधानमिन्द्रियं द्रव्येन्द्रियम्,
व्यापारवत्यपि स्त्रिमन् सम्भितेऽपि आलोकप्रभृतिनि सहकारिपटले भावेन्द्रियं विना
स्पर्शाच्युपलक्ष्यसिद्धेः ॥२२॥

भावेन्द्रियं स्वध्युपयोगौ ॥२३॥

८५—लभनं ‘लक्षितः’ ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमविशेषः । यत्सम्भितानादात्मा
द्रव्येन्द्रियनिवृत्तिं प्रति व्याप्रियते लक्षितमित्त आत्मनः परिणामविशेष उपयोगः । अत्रापि
‘भावेन्द्रियम्’ इत्येकवचनं जात्याश्रयणात् । भावशब्दोऽनुपसर्जनार्थः । अथवेन्द्रियं धर्म-
योगित्वेनानुपचरितेन्द्रत्वो भावेन्द्र उच्यते तथेन्द्रलिगत्वादिधर्मयोगेनानुपचरितेन्द्र-
लिगत्वादिधर्मयोगि ‘भावेन्द्रियम्’ ।

८६—सूत्र में सामान्य की अपेक्षा ‘द्रव्येन्द्रियम्’ यह एकवचनलक्ष्यं प्रयोग किया है । जिनका
भीतरी या बाहरी आकार एक विशेष प्रकार का हो, उन्हें ‘नियताकार’ कहते हैं । जो पूरण
और गलन अर्थात् मिलने एवं विशुद्धने के स्वभाववाला है वह रुद्र, रस, गंध और वर्जवाला
द्रव्य ‘पुद्गल’ कहलाता है । जैसे शोष आदि इन्द्रियों में कर्णशङ्कुली आदि जो बाह्य आकार
हैं । और कदम्बगोलक आदि आभ्यन्तर आकार हैं, वह सब पुद्गल द्रव्यमय होने के कारण
द्रव्येन्द्रिय हैं । जो प्रधान न हो वह भी ‘द्रव्य’ कहलाता है, जैसे अंगारों को कुचलने वाला
आचार्य ‘द्रव्याचार्य’ कहलाता है । इस व्याख्या के अनुसार व्याप्रधान इन्द्रिय द्रव्येन्द्रिय कहलाती
है । द्रव्येन्द्रिय की अप्रधानता का कारण यह है कि उसकी प्रवृत्ति होने पर भी और आलोक
आदि सहकारी कारणों के विद्यमान होने पर भी भावेन्द्रिय के विना स्पर्श आदि का जान नहीं
होता ॥२३॥

भावेन्द्रिय का स्वरूप—(अर्थ) : लक्षित और उपयोग भावेन्द्रिय है ॥२३॥

८५—ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशयविशेष को ‘लक्षित’ कहते हैं । जिसके सम्भितान से आत्मा
द्रव्येन्द्रिय की निवृत्ति के प्रति व्यापार करता है उसके निमित्त से होने वाला आत्मा का विशिष्ट
परिणाम ‘उपयोग’ कहलाता है । ‘भावेन्द्रियम्’ यह एक वचन यहाँ भी सामान्य की अपेक्षा से
प्रयोग किया गया है । ‘भाव’ शब्द प्रधानता का वाचक है । जैसे इन्द्रन (ऐश्वर्यन्नोग) रूप किया
के पाये जाने के द्वारण जिसमें इन्द्रत्व प्रधान वास्तविक है, उसे ‘भावेन्द्र’ कहा जाता है, उसी
प्रकार इन्द्रलिगत्व आदि धर्म के योग से जिसमें इन्द्रलिगत्व प्रधान-वास्तविक है, उसे ‘भावेन्द्रिय’
कहते हैं । सारपर्य यह है-पहले कहा जा चुका है कि इन्द्र (आत्मा) के लिंग को इन्द्रिय कहते
हैं । यह व्युत्पत्ति मुख्य रूप से जिस इन्द्रिय में घटित होती है, वही भावेन्द्रिय कहलाती है ।

८६—तत्र लिधस्वभावं तावदिन्द्रियं स्वार्थसंविसावात्मनो योग्यतामादध—
द्गुबेन्द्रियतां प्रतिष्ठाते । नहि तत्रायोग्यस्य तदुत्पत्तिराकाशाद्गुपयष्टिः स्वार्थसंवि—
षोन्यतैव च लिधरिति । उपयोगस्वभावं पुनः स्वार्थसंविदि व्यापारात्मकम् । नहु—
व्यापूतं स्पर्शनादिसंवेदनं स्पर्शादि प्रकाशयितुं शक्तम्, सुषुप्तादीनामपि तत्प्रकाशक—
त्वप्राप्तेः ।

८७—स्वार्थप्रकाशने व्यापूतस्य संवेदनस्योपयोगत्वे फलत्वादिन्द्रियत्वानुपपत्ति—
रिति चेत्; न; कारणधर्मस्य कार्येऽनुबूलेः । नहि पावकस्य प्रकाशकत्वे तत्कार्यस्य
प्रदीपस्य प्रकाशकत्वं चिरध्यते । न च येनैव स्वभावेनोपयोगस्येन्द्रियस्वम्, तेनैव
फलत्वमिष्यते येन विरोधः स्यात् । साधकतमस्वभावेन हि तस्येन्द्रियत्वं क्रियारूप—
तया च फलत्वम् । यथैव हि प्रदीपः प्रकाशात्मना प्रकाशयतीत्यत्र साधकतमः प्रका—
शात्मा करणम्, क्रियात्मा फलम्, स्वतन्त्रत्वाच्च कर्त्तेति सर्वमिदमनेकान्तवादे न
बुलभित्यलं प्रसंगेन ॥२३॥

८८—‘मनोनिमित्तः’ इत्युक्तमिति मनो लक्षयति—

सर्वार्थग्रहणं मनः ॥२४॥

८६—लिध-इन्द्रिय आत्मा में स्व-परज्ञान की शक्ति उत्पन्न करती है । अतएव वह भावे—
इन्द्रिय कहलाती है । स्व और पर के संवेदन की शक्ति ही जिसमें न हो, उसमें आकाश की तरह
स्व-परसंवेदन की उत्पत्ति नहीं हो सकती । और स्व-परसंवेदन की शक्ति ही स्वित्कह—
लाती है । उपयोग रूप भावेन्द्रिय स्व-परसंवेदन में व्यापारात्मक होती है । क्योंकि जब तक स्पर्शं
आदि संवेदन का व्यापार नहीं होता तब तक वह स्पर्शं आदि को जान भी नहीं सकेगा । यदि
व्यापार के बिना ही जान उत्पन्न होने लगे तो वह रोनिङ्गा में सोये पुरुष को भी स्व-पर-संवेदन हो !

८७—शंका—अपने और पदार्थ के प्रकाशन में व्यापूत संवेदन को उपयोग मानें तो उसे
इन्द्रिय नहीं कह सकते । वह तो फल (कार्य) है, उसे इन्द्रिय (करण) कहे कहा जा सकता
है ? समाधान—ऐसा न कहिए । कारण का धर्म कार्य में भी आता है । अग्नि प्रकाशक है तो
इसका कार्य वीपक प्रकाशक न हो, ऐसी बात तो नहीं है । उपयोग जिस स्वभाव से इन्द्रिय है,
जैसी स्वभाव से फल भी है, ऐसा हम नहीं भानते, जिसमें परस्पर विरोध हो । उपयोग साधक—
तम होने से इन्द्रिय है और क्रियारूप होने से फल भी है । जैसे वीपक अपने प्रकाशस्वभाव से
प्रकाशता है वहीं वीपक का प्रकाशस्वभाव कारण है और प्रकाशना क्रियारूप फल है । साथ ही
वीपक स्वतत्र होने से कर्ता भी है । इस इकार की योजना अनेकान्त बाद में तुलंभ नहीं है । इस
को यहीं समाप्त करते हैं । २३॥

८८—सांख्यकारिक प्रत्यक्ष में मन को भी निमिल कहा था, अतः उसका स्वरूप बतलाते
हैं—(अर्थ) सर्वं अर्थ जिसके द्वारा ग्रहण किये जाएं वह मन कहलाता है ॥२४॥

८९—सर्वे न तु स्पर्शनादीना स्पर्शादिवत् प्रतिनियता एवार्था गृह्णन्तेऽनेनेति 'सर्वार्थग्रहणं मनः' 'अनिन्द्रियम्' इति 'नोऽनिन्द्रियम्' इति चोच्यते । सर्वार्थं मन इत्युच्यमाने आत्मन्यपि प्रसंग इति करणत्वप्रतिपादनार्थं 'ग्रहणम्' इत्युक्तम् । आत्मा तु कर्त्तेति नातिव्याप्तिः, सर्वार्थग्रहणं च मनसः प्रसिद्धमेव । यत् वाचकमुख्यः "श्रुत-मनिन्द्रियस्य ।" [तत्त्वा० २. २२] श्रुतमिति हि विषयिणा विषयस्य निर्देशः । उपलक्षणं च श्रुतं मतेः तेन मतिश्रुतयोर्यो विषयः स मनसो विषय इत्यर्थः । "मतिश्रुतयोनिबन्धो द्रव्येष्वसर्वपयिषु" [तत्त्वा० १.२७] इति वाचकवचनान्मतिश्रुतज्ञात्योः सर्वविषय-त्वमिति मनसोऽपि सर्वविषयत्वं सिद्धम् ।

९०—मनोऽपि पञ्चेन्द्रियवद् द्रव्यभावभेदात् द्विविधमेव । तत्र द्रव्यमनो मन-स्त्वेन परिणतानि पुद्गलद्रव्याणि । भावमनस्तु तदावरणीयकर्मक्षयोपशमात्मा लक्षितात्मनश्चार्थग्रहणोन्मुखो व्यापारविशेष इति ॥२४॥

९१—नन्वत्यल्पमिदमुच्यते 'इन्द्रियमनो निमित्तः' इति । अन्यदपि हि चक्षुज्ञनिस्य निमित्तमर्थं आलोकश्चास्ति, यदाहुः—

"रूपालोकमनस्कारचक्षुश्चर्यः सम्प्रजायते ।

चिज्ञानं मणिसूर्यशुगोशकृदभ्य इवान्तः ॥"

८९—जैसे सर्वानेन्द्रिय के कल स्पर्श को ग्रहण करते हैं, इसी प्रकार नियत पदार्थ ही जिसके द्वारा ग्रहण न किये जाएँ, किन्तु समस्त पदार्थ ग्रहण किये जाएँ वह मन, अनिन्द्रिय और नोऽनिन्द्रिय कहलाता है । 'सर्वार्थग्रहणं मनः' के अड्डले 'सर्वार्थं मनः' ऐसा कहा होता हो यह लक्षण आत्मा में भी चला जाता । 'ग्रहण' शब्द का ग्रहण करके यह सूचित किया गया है कि मन करण है । आत्मा कर्ता है, अतएव उसमें इस लक्षण का प्रसंग नहीं होता । मन सभी पदार्थों को जानने में करण होता है, यह प्रसिद्ध ही है । उमास्वाति ने कहा है-'श्रुतमनिन्द्रियस्य ।' यही विषयी के द्वारा विषय का निर्देश किया गया है । 'श्रुत' शब्द मतिज्ञान का उपलक्षण है । अभिप्राय यह हुआ कि मति और श्रुतज्ञान का जो विषय है वही मन का विषय है । 'मति श्रुतयोनिबन्धो द्रव्येष्वसर्वपयिषु' अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान सभी द्रव्यों को किन्तु उनकी असम्मुपयोगीयों को जानते हैं, इस करण के अनुसार जब मति-श्रुतज्ञान सर्वविषयक हैं तो मन भी सर्वविषयक सिद्ध हुआ ।

९०—पाँचों इन्द्रियों के समान मन भी दो प्रकार का है—द्रव्यमन और भावमन । मन रूप से परिणत हुए पुद्गलवर्त्यों को द्रव्यमन कहते हैं । मन को आदृत करने वाले कर्म का क्षयोपशमा भी ना लक्षित भावमन है और आत्मा का अर्थ ग्रहण की ओर होने वाला व्यापार उपयोग-भावमन है ॥२४॥

९१—शंका—आपने इन्द्रिय और मन को करण बतलाकर अपूरे कारण बतलाए हैं । आक्षुष ज्ञान में अर्थ और आलोक भी कारण होते हैं । कहा भी है—जैसे मणि, सूर्य किरण और छावें जैसे अनेक कारणों से अभिन उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार रूप, आलोक, मन और तेत्र से ज्ञान

इत्यन्नाह—

नार्थालोकै ज्ञानस्य निमित्तभव्यातिरेकात् ॥२५॥

१२—बाह्यो विषयः प्रकाशश्च च चक्षुज्ञानस्य साक्षात्कारणम्, देशकालादिवस्तु व्यवहितकारणत्वं न निवार्यते, ज्ञानावरणादिक्षयोपज्ञामसाभग्यामारादुपकारित्वेनांजनादिवच्च नादिवच्चक्षुरुपकारित्वेन चाभ्युपगमात् । कुतः पुनः साक्षात्त्र कारणत्वभित्याह—‘अव्यतिरेकात् व्यतिरेकाभावात् । न हि तद्ग्रावे भावलक्षणोऽन्यथ एव हेतुफलभावनिश्चयनिमित्तम्, अयि तु तदभावेऽभावलक्षणो व्यतिरेकोऽपि । न चासाक्षर्थालोकयोहेतुभावेऽस्ति; मरुमरीचिकादी जलाभावेऽपि जलज्ञानस्य, वृषदंशादीनां सालोकाभावेऽपि सान्दर्भमतमः पटलविलिप्तवेशागतवस्तुप्रतिपत्तेश्च दर्शनात् । योगिनां चातीतानागतार्थग्रहणे किमर्थस्य निमित्तत्वम्? । निमित्तत्वे चार्यक्रियाकारित्वेन सत्त्वादतीतानागतत्वक्षतिः ।

१३—न च प्रकाश्यादात्मलाभ एव प्रकाशकस्य प्रकाशकत्वम्, प्रदीपदेव्यादिभ्योऽनुत्पन्नस्यापि तत्प्रकाशकत्वदर्शनात् । इश्वरज्ञानस्य च नित्यत्वेनाभ्युपगतस्य कथमर्थकी उत्पत्ति होती है । इस शंका का समाधान—(अर्थ) अर्थ और आलोक ज्ञान के कारण नहीं है, क्योंकि व्यतिरेक घटित नहीं होता ॥२५॥

१२—बाह्य विषय और प्रकाश चाक्षरूप ज्ञान में साक्षात् कारण नहीं हैं । परन्तु देश और काल की भाँति परम्परा कारण होने का यहाँ निषेध नहीं किया गया है । जैसे अंजन आदि पदार्थ नेत्र का उपकार करते हैं, उसी प्रकार बाह्य विषय और आलोक ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशय की सामग्री में दूर से उपकारक होते हैं । प्रश्न—वे साक्षात् कारण क्यों नहीं हैं? उत्तर—ज्ञान के साथ उनका व्यतिरेक नहीं बनता । अमुक के होने पर ही अमुक का होना (जैसे अग्नि के होने पर ही धूम का होना) अन्वय कहलाता है और न होने पर न होना (जैसे अग्नि के न होने पर धूम का न होना) व्यतिरेक कहा जाता है । कार्यकारण भावका निश्चय अकेले अन्वय से ही नहीं होता किन्तु व्यतिरेक से भी होता है । अर्थात् जिसके होने पर ही कार्य हो और जिसके अभाव में कार्य न हो, वही उस कार्य के प्रति कारण कहलाता है अर्थ और आलोक की कारण मानने में व्यतिरेक घटित नहीं होता, क्योंकि सूर्योदयम् जलके अभाव में भी जल का ज्ञान हो जाता है और सर्प, विल्ली, उलूक आदि को आलोक के अभाव में भी सधन अंदरकार से उपाप्त प्रदेश में वस्तु का ज्ञान होता देखा जाता है । और योगी जन अतीतकालीन और अन्तर्गतकालीन पदार्थों को जानते हैं, वहाँ अर्थ कैसे निमित्त हो सकता है? यदि अतीत-अनागत काल के पदार्थों को ज्ञान का निमित्त मान लिया जाय तो वे अर्थक्रिया—जनक होने से सत् (विद्यमान) कहलाएँगे, अतीत और अनागत नहीं रह जाएँगे ।

१३—यह आवश्यक नहीं कि प्रकाश्य से उत्पन्न हो कर ही प्रकाशक प्रकाशक कहलाए । दीपक आदि घट आदि से उत्पन्न न होकर भी उनके प्रकाशक होते जाते हैं । इश्वर का ज्ञान नित्यमाना जाता है, वह अर्थजनित नहीं हो सकता । तथापि अर्थों का प्रकाशक तो होता ही है ।

जन्यत्वं नाम ? । अस्मदादेनामपि जनकस्यैव ग्राह्यत्वाभ्युपगमे स्मृतिप्रत्यभिज्ञामादेः प्रमाणस्याप्रामाण्यप्रसंगः । येषां चैकान्तक्षणिकोऽर्थो जनकश्च ग्राह्य इति दर्शनम् लेषामपि जन्यजनकयोर्जानार्थयोर्भिज्ञकालत्वान्न ग्राह्यग्राहकभावः सम्भवति । अथ न जन्यजनकभावातिरिक्तः सन्देशायोगोलकवत् जानार्थयोः कदिच्च ग्राह्यग्राहकभाव इति भवत्म्,

“भिज्ञकालं कर्थं ग्राह्यमिति चेद् ग्राहतां विदुः ।

हेतुत्वमेव युक्तिज्ञा ज्ञानाकारायेणक्षमम्”[प्रमाणवा० ३. २४३]

इति वचनात्; तर्हि सर्वज्ञानस्य वार्तमानिकार्थविषयत्वं न कथित्वापद्वाते वार्तमानिकक्षणस्याजनकत्वात् अजनकस्य चाग्रहणात् । स्वसंवेदनस्य च स्वरूपाजन्यत्वे कर्थं ग्राहकत्वं स्वरूपस्य वा कर्थं ग्राह्यत्वमिति चिन्त्यम् । तस्मात् स्वस्वसामग्रीप्रभावयोर्दीप्यप्रकाशघटयोरिव जानार्थयोः प्रकाशयप्रकाशकभावसम्भवान्न ज्ञाननिभित्तत्वमर्थलोकयोरिति स्थितम् ।

जो पदार्थ ज्ञान का जनक होता है वही उस ज्ञान के द्वारा ग्राह्य होता है, ऐसा नियम स्वीकार कर लिया जाय तो हमारे समरण और प्रत्यभिज्ञान प्रमाण भी अग्रमाण हो जायेंगे, क्योंकि इनकी उत्पत्ति ग्राह्य पदार्थ से नहीं होती । वैद्युत के अनुसार पदार्थ एकान्ततः क्षणदिनहरर है और ज्ञान का जनक पदार्थ ही ग्राह्य होता है । परन्तु जन्य और जनक का समय भिज्ञ-भिज्ञ होता है ऐसी स्थिति में उनमें ग्राहा-ग्राहक भाव किस प्रकार हो सकेगा ?

शंका—जैसे संडासी और लोहे के गोले में ग्राहा-ग्राहकभाव संबंध है, इस प्रकार का कोई अलग ग्राहा-ग्राहकभाव पदार्थ और ज्ञान में नहीं है । जन्यजनकसंबंध ही ज्ञान और पदार्थ का ग्राहा-ग्राहक संबंध है । कहा भी है- “भिज्ञकालबत्तीं पदार्थ ज्ञान के द्वारा किस प्रकार ग्राह्य हो सकता है ?” इसका उत्तर यह है कि पदार्थ का ज्ञान के प्रतिकारण होना ही ज्ञान के द्वारा ग्राह्य होना कहलाता है । पदार्थ अंतता आकार ज्ञान को अस्तित्व करता है अर्थात् अर्थ के आकार का हो जाता है और ज्ञान का अर्थकार हो जाना हो अर्थग्राहक होता है । समाधान-यदि ज्ञान-जनक होना ही ज्ञानग्राह्य होता है तो सर्वज्ञ का ज्ञान वर्तमानकालीन पदार्थों को किसी भी प्रकार श्रहण नहीं कर सकेगा, क्योंकि वर्तमानकालीन पदार्थ ज्ञानका जनक नहीं होता वह ज्ञानका विषय भी नहीं होता । इसके अतिरिक्त स्वसंवेदन (अपने ही स्वरूप को ज्ञानमेवाला) ज्ञान अपने आपसे उत्पन्न न होने के कारण अपना ग्राहक कैसे हो सकेगा ? ज्ञानका स्वरूप ग्राह्य कैसे होगा ? इन बातों पर आपको विचार करना चाहिए । अतएव जैसे दीपक अपने कारणों से उत्पन्न होता है और घट अपने कारणों से; फिर भी उनमें प्रकाश्य-प्रकाशकपन होता है, उसी प्रकार अपने अपने कारणों से उत्पन्न होने वाले ज्ञान और पदार्थ में भी प्रकाश्य-प्रकाशकभाव हो सकता है अर्थात् जैसे यह आवश्यक नहीं कि घटसे उत्पन्न हो कर ही दीपक घट को प्रकाशित करे, उसी प्रकार यह भी आवश्यक नहीं कि पदार्थ से उत्पन्न हो कर ही ज्ञान पदार्थ को प्रकाशित करे । इस प्रकार सिद्ध हुआ कि पदार्थ और आलोक ज्ञानके साक्षात् कारण नहीं हैं ।

९४—नन्दवर्थजिन्यत्वे ज्ञानस्य कथं प्रतिकर्मव्यवस्था? , तदुत्पत्तितदाकारताभ्यां हि सोपपद्धते, तस्मादनुत्पन्नस्यातदाकारस्य च ज्ञानस्य सर्वार्थान् प्रत्यविशेषात् ; नैव-भ् ; तदुत्पत्तिसन्तरेणाप्यावरणक्षयोपशमलक्षणया योग्यतयैव प्रतिनियतार्थप्रकाशकात्त्वोपपत्तेः । तदुत्पत्तावपि च योग्यतावश्याश्रयणीया, अन्यथाऽशेषार्थसान्निध्येऽपि कुतित्वदेवार्थात् कस्यचिदेव ज्ञानस्य जन्मेति कौतस्कुतोऽयं विभागः । तदाकारता त्वर्थकार-संक्षान्त्या तावदनुपपन्ना, अर्थस्य निराकारत्वप्रसंगात् । अर्थेन च मूर्तेनामूर्तेस्य ज्ञान-स्य कीटृश्च साहृदयमित्यर्थविशेषप्रहृणपरिणाम एव साभ्युपेया । अतः—

“अर्थेन घटयत्येनां नहि मुक्त्वाऽर्थरूपताम्” [प्रमाण वा ३.३०५]

इति यत्किंचिदेतत् ।

९५—अपि च व्यस्ते समस्ते बैते प्रहृणकारणं स्याताम् । यदि व्यस्ते ; तदा कपाला-

९४—प्रश्न—यदि ज्ञान को पदार्थजन्य न माना जाय तो प्रतिनियत विषयव्यवस्था क्लेहोगी ? तदुत्पत्ति और तदाकारता से वह व्यवस्था ठीक बेठती है । अर्थात् यदि इस सिद्धांत को स्वीकार कर लिया जाय कि ज्ञान जिस पदार्थ से उत्पन्न होता है और जिस पदार्थ के आकार का होता है, उसी को जानला है- अब यह पदार्थ को नहीं जानता, तो घटज्ञान घट को ही जानता है, अब यह पदार्थ को नहीं ? ऐसी व्यवस्था संगत हो जाती है । किन्तु ज्ञान यदि किसी भी पदार्थ से उत्पन्न नहीं होता और किसी के भी आकार का नहीं होता तो वह सभी पदार्थों के लिये समान है । अतएव जाने तो सभी को जाने और न जाने तो किसी को न जाने । किसी नियत पदार्थ को जाने और दूसरों को न जाने, यह कैसे ही सकता है ?

समाधान—तदुत्पत्ति के बिना भी आवरणक्षयोपशम रूप योग्यता के द्वारा ही ज्ञान नियत-नियत पदार्थों का प्रकाशक होता है । तदुत्पत्ति मानने पर भी योग्यता तो स्वीकार करनी ही पड़ेगी, अन्यथा समस्त पदार्थों का सान्निध्य होने पर भी अमूक ही पदार्थ से अमूक ही ज्ञान की जो उत्पत्ति होती है, यह विभाग किस आधार पर होगा ? अर्थात् घटपदार्थ से घट-ज्ञान ही उत्पन्न हो, ऐसा नियम किस प्रकार गिर्द होगा ? इसके लिए तो योग्यता का ही आधार लेना पड़ेगा । रह गई तदाकारता, सो उसका अर्थ यदि यह है कि पदार्थ का आकार ज्ञान में चला जाता है तो यह कल्पना यूक्तिसंगत नहीं है । ऐसा मानने से पदार्थ निराकार हो जाएगा । किर मूर्ते पदार्थ के साथ अनूर्त ज्ञानका बधा साहृदय है ? अतः ज्ञान अब किसी पदार्थ को ग्रहण करता है तो उसमें उसे ग्रहण करने का एक विशिष्ट परिणाम होता है, वही ज्ञान की अर्थकारता है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए । अतएव, सविकल्पक ज्ञान अर्थकारता के बिना प्रमाण ही नहीं हो सकता’ ऐसा बीढ़ों का कथन निस्सार है ।

९५—तथा-तदुत्पत्ति और तदाकारता अलग-अलग ग्रहण के कारण है अथवा मिल कर ? यदि अलग-अलग कारण हैं तो कपाल (ठीकरे) का आण क्षण अधिपर के अन्तिम क्षण का ग्राहक होता चाहिए (क्योंकि आपके मतानुसार घट के अन्तिम क्षण से कपाल का प्रथम क्षण उत्पन्न हुआ है,

द्विक्षणो घटान्त्यक्षणस्य, जलचंद्रो वा नभाइचन्द्रस्य ग्राहकः प्राप्नोति, सदुत्पत्तेस्त-
दाकारत्वाच्च । अथ समस्ते; तहि घटोत्तरक्षणः पूर्वघटक्षणस्य ग्राहकः प्रसज्जति ।
ज्ञानरूपत्वे सत्येते ग्रहणकारणमिति चेत्; तहि समानजातीयज्ञानस्य समनन्तरपूर्वज्ञा-
नग्राहकत्वं प्रसज्जयेत । तत्र योग्यतामन्तरेणात्यद् ग्रहणकारणं पश्यामः ॥२५॥

१६—‘अवग्रहेहाधायधारणात्मा’ इत्युक्तमित्यवग्रहादील्लक्षयति—

अक्षार्थयोगे दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रहः ॥२६॥

१७—अक्षम् इन्द्रियं द्रव्यभावरूपम्, ‘अर्थः’द्रव्यपर्यायात्मा तयोः ‘योगः’ सम्बन्धो-
ज्ञतिदूरासम्बन्धवहितदेशाद्यवस्थानलक्षणा योग्यता । नियता हि सा विषयविषयिणोः,
यदाह,

“उट्ठ सुणोइ सद्व रुद्धं पुण पासए अपुट्ठं तु ॥” [बाद० नि० ५] इत्यादि । तस्मिन्नक्षा-
र्थयोगे सति ‘दर्शनम्’ अनुलिलितविज्ञेयस्य वस्तुनः प्रतिपत्तिः । तदनन्तरमिति क्रम-
प्रतिपादनार्थमेतत् । एतेन दर्शनस्यावग्रहं प्रति परिणामितोक्ता, नह्यसत एव सर्वथा
कस्यचिदुत्पादः, सतो वा सर्वथा विनाश इति दर्शनमेवोत्तरं परिणामं प्रतिपद्यते ।
अतः वहाँ अकेली तदुत्पत्ति विद्यमान है ।) जल-चंद्र आकाशचंद्र का ग्राहक होना चाहिए (क्योंकि
वहाँ तदाकारता है ।) कदाचित् दोनों को सम्मिलित कारण माना जाय तो घट का उत्तरक्षण
पूर्वक्षण से उत्पन्न भी होता है और उसके आकार का भी होता है । कदाचित् कहा जाय कि पूर्ववित
पदार्थ जड़ होने से ग्रहण के कारण नहीं होते । जहाँ जानरूपता और तदुत्पत्ति तथा तदाकारता
भी हो, वहीं ग्रहण होता है; तो समानजातीय ज्ञान अपने समनन्तर पूर्ववर्ती ज्ञान का ग्राहक होना चाहिए अर्थात् उत्तरकालीन घटज्ञान अपने समनन्तर पूर्ववर्ती घटज्ञान का ग्राहक होना चाहिए ।
(उसमें तदुत्पत्ति तदाकारता और जानरूपता है, फिर भी वह पूर्ववर्ती घटज्ञान को नहीं जानता,
बल्कि घट को जानता है ।) अतएव योग्यता के अतिरिक्त ज्ञान का अन्य कोई कारण दिखाई नहीं
देता ॥२५॥

१६—अवग्रह का लक्षण—(अर्थ)—इन्द्रिय और पदार्थ का संबंध होने पर, दर्शन के पश्चात्
होने वाला पदार्थ का ग्रहण अवग्रह कहलाता है ॥२६॥

१७—द्रव्य और भावरूप इन्द्रिय तथा द्रव्य-पर्याय रूप पदार्थ का संबंध अर्थात् न बहुत
झूरी पर, न बहुत समीप में-उचित दैशमें अवस्थान होना । इसे योग्यता भी कहते हैं । विषय और
विषयी में यह योग्यता नियत रूप में होती है । कहा भी है ।—

‘ओत्रेन्द्रिय स्पष्ट शब्द को ग्रहण करती है, किन्तु चक्रुरिन्द्रिय अस्पष्ट रूप को बैखती है ।’

जब इन्द्रिय और पदार्थ का योग्य संबंध होता है । तो सर्वप्रथम दर्शन होता है अर्थात्
वस्तु का सामान्य वीध होता है । उसके अनन्तर अवग्रह ज्ञान होता है । उपयोग का क्रम-
दिखलाने के लिए ऐसा कथन किया गया है इससे यह प्रतीत होता है कि दर्शन अवग्रह का
परिणामी-उत्पादन कारण है । न तो सर्वथा असत् की उत्पत्ति होती है और न सत् का सर्वथा
विनाश होता है, अतएव दर्शन ही अमे अवग्रह रूप में परिणत हो जाता है ।

१—बोढ़ दृश्य में ‘क्षण’ शब्द पदार्थ का वायक है ।

अर्थस्य' द्रव्यपर्यात्मनोऽर्थकियाक्षमस्य 'ग्रहणम्', सम्यगर्थनिर्णयः' इति सामान्य-लक्षणानुदृतेनिर्णयो न पुनरविकल्पकं वर्णनमात्रम् 'अवग्रहः' ।

९८—न चार्यं मानसो विकल्पः, चक्षुरादिसन्निधानापेक्षस्वात् प्रतिसंख्यानेन-प्रत्याल्येयत्वाच्च । मानसो हि विकल्पः प्रतिसंख्यानेन निरुद्ध्यते, न चार्यं तथेति न विकल्पः ॥२६॥

अवग्रहीतविशेष काङ्क्षणमीहा ॥२७॥

९९—अवग्रहगृहीतस्य शब्दादेरर्थस्य शब्दः 'किमर्यशाङ्कः शाङ्को वा' इति संशये सति 'माधुर्यादियः शाङ्कधर्मी एवोपलभ्यन्ते न कार्कियादयः शाङ्कधर्मी' इत्यनवयव्य-तिरेकरूपविशेषपर्यालोचनरूपा भतेश्चेष्टा 'ईहा' । इह चार्यग्रहेहयोरन्तराले अभ्यस्ते इपि विषये संशयज्ञानमस्त्येव आशुभावात् नोपलक्ष्यते । न तु प्रमाणम्, सम्यगर्थनिर्णयात्मकत्वाभावात् ।

१००—ननु परोक्षप्रमाणभेदरूपमूहार्थं प्रमाणं वक्ष्यते तत्कस्तस्मादीहाया भेदः ? । उच्यते-त्रिकालगोचरः साध्यसाधनयोव्याप्तिप्रहृणपटुरुहो यमाश्रित्य "व्याप्तिः शृणकाले योगीव सम्पद्यते प्रमाता" इति न्यायविदो बदन्ति । ईहा तु चार्तमानिकार्थविषया प्रत्यक्षप्रभे इत्यपौनरुक्त्यम् ।

इस प्रकार द्रव्य और पर्याय रूप स्थान अर्थकिया में समर्थ पदार्थ का सम्यक् निर्णय होना अवग्रह है । प्रमाण सामान्य के लक्षण की अनुबृति होने से 'निर्णय' को ही अवग्रह समझना चाहिए, निविकल्प वर्णन मात्र को नहीं ।

१८—अवग्रह मानस विकल्प भी नहीं है, क्योंकि उसमें चक्षु आदि इनियों के सन्निधान की आवश्यकता होती है और प्रतिसंख्यानामक समाधि से उसका विनाश नहीं होता । (बौद्ध-मतानुसार) मानस विकल्प प्रतिसंख्यान समाधि से नष्ट हो जाता है । किन्तु अवग्रह का प्रतिसंख्यान से विनेश नहीं होता, अतएव इसे मानस विकल्प नहीं माना जा सकता ॥२६॥

अर्थ- अवग्रह द्वारा गृहीत पदार्थ में विशेष ज्ञानने की इच्छा होना ईहा है ॥२७॥

१९—अवग्रह द्वारा जाने हुए शब्द आदि विषय में 'यह' शब्द शब्द का है अथवा शून्य का ? इस प्रकार सन्देह होता है । तत्पञ्चात् इसमें माधुर्य आदि झंडव के धर्म उपलब्ध हो रहे हैं, कर्कशता आदि शून्य-शब्द के धर्म नहीं मालूम होते । इस प्रकार विधि और निवेद्य रूप विशेषों की पर्यालोचना करने वाली मति को चेष्टा को ईहा कहते हैं । कोई वस्तु कितनी ही अधिक अभ्यस्त क्षयों न हो, अवग्रह और ईहा के बीच में संशयज्ञान होता ही है, किन्तु शीघ्र हो जाने के कारण मालूम नहीं होता । हाँ, वह संशय प्रमाण नहीं है क्योंकि वह सम्यगर्थ निर्णयरूप नहीं है ।

१००—प्रश्न-परोक्ष प्रमाण के भीदों में एक 'ऊँ' प्रमाण आगे कहा जाएगा । तो इस ईहा और ऊँ में क्या अन्तर है ? उत्तर-ऊँ प्रमाण त्रिकालसंबंधी साध्य-साधन की व्याप्ति को प्रहृण करने में पटु होता है । न्यायवेत्ता कहते हैं कि प्रमाता व्याप्तिप्रहृण के समय योगी के

१०१—ईहा च यद्यपि चेष्टोच्यते तथापि चेतनस्य सेति ज्ञानरूपं वेति पुरुषं प्रत्यक्षभेदत्वमस्थाः । न चानिर्णयरूपत्वादप्रभाणत्वमस्थाः शङ्खनीयम् ; स्वविषयनिर्णयरूपत्वात्, निर्णयान्तरासादृश्ये निर्णयान्तराणामप्यनिर्णयत्वप्रसङ्गः ॥२७॥

इहितविशेषनिर्णयोऽवायः ॥२८॥

१०२—ईहाकोडीकृते वस्तुनि विशेषस्य 'शाङ्ख' एवायं शब्दो न शाङ्खः' इत्येवं-रूपस्यावधारणम् 'अवायः' ॥ २८ ॥

स्मृतिहेतुद्धारणा ॥२९॥

१०३—'स्मृतेः' अतीतानुसन्धानरूपाया 'हेतुः' परिणामिकारणम्, संस्कार इति यावत्, सङ्ख्येयमसङ्ख्येयं वा काले ज्ञानस्यावस्थाने 'धारणा' । अवग्रहादयस्तु अथ आन्तर्मूहूर्तिकाः ।

१०४—संस्कारस्य च प्रत्यक्षभेदरूपत्वात् ज्ञानत्वमुद्देयम्, न पुनर्यथाहुः परे—“ज्ञानादतिरिक्तो भावनारूपोऽयं संस्कारः” इति । अस्य हृत्यानरूपत्वे ज्ञानरूपस्मृतिजनकत्वं न स्यात्, नहि सल्लासस्तान्तरमनुविशति । अज्ञानरूपत्वे चास्यात्मधर्मत्वं न स्यात्, चेतनधर्मस्याचेतनत्वाभावात् ।

समान बन जाता है । ईहा विषेषवर्तमानकालोन पदार्थ को ज्ञानती है और वह प्रत्यक्षका भेद है । किन्तु उह परोक्ष का भेद है । अतएव इसमें पुनरुक्ति दोष नहीं है ।

१०५—ईहा दद्यपि चेष्टा है । तथापि वह चेतन की चेष्टा है, अतः वह ज्ञानरूप ही है । उसे प्रत्यक्ष का भेद कहना उचित ही है, क्योंकि -ईहा निर्णय (निश्चय)रूप नहीं होने से प्रमाण नहीं है? समाधान अपने विषय में तो वह निर्णयरूप ही है । दूसरे सभी निर्णय के समान न होने से यदि उसे अनिर्णय कहा जाय तो सभी निर्णय अनिर्णय कहलाने लगेंगे ॥२७॥ अवाय का स्वरूप अर्थ—ईहा के द्वारा जाने हुए पदार्थ के विशेष अर्थ के निश्चय को अवाय कहते हैं ॥२८॥

१०६—ईहाके द्वारा जो वस्तु जानी गई थी, उसमें 'यह ज्ञान शांख का ही है, शृंगका नहीं' इस प्रकार का निश्चय हो जाता 'अवाय' कहलाता है ॥२८॥

धारणा का स्वरूप अर्थ—जो ज्ञान स्मृति का कारण हो, वह धारणा है ॥२९॥

१०७—स्मृति अतीत का अनुसन्धान करने वाली होती है । उसका जो परिणामी कारण हो वह धारणा है । इसे 'संस्कार भी' कहते हैं । धारणा संख्यात या असंख्यात काल तक बनी रहती है । अवग्रह, ईहा और अवाय ज्ञान अन्तर्मूहूर्तभावी ही होते हैं ।

१०८—संस्कार प्रत्यक्ष का भेद है, अतएव ज्ञानस्थरूप ही है । वेदोविकों की मान्यता है कि भावनानामक संस्कार ज्ञान से अतिरिक्त है, यह ठीक नहीं । यदि संस्कार को अज्ञानरूप मान लें तो वह आत्मा का अर्थ नहीं हो सकेगा । चेतन का अर्थ अचेतन नहीं हो सकता ।

१०५—नन्दविच्युतिमपि धारणामन्वजिष्ठन् बृद्धाः, यद्गुण्यकारः—“अविच्छुद्दे
धारणा होइ” [विशेषा० गा १००] तत्कथं स्मृतिहेतोरेव धारणात्वमसूत्रयः ? । सत्यम्
अस्त्यविच्युतिनामि धारणा, किन्तु साऽबाय एवान्तर्भूतेति न पृथगुच्छता । । अबाय एव
हि दीर्घवीघ्नोऽविच्युतिधारणेत्युच्यते इति । स्मृतिहेतुत्वाद्वाऽविच्युतिधारणयैव सङ्ग्—
हीता । न ह्यवायमात्रादविच्युतिरहितात् स्मृतिर्भवति, गच्छतुणसपर्शप्रायाणामवायानां
परिशीलनविकलानां स्मृतिजनकत्वादर्शनात् । तस्मात् स्मृतिहेतु अविच्युतिसंस्कारा-
वनेनसङ्गूहीतावित्यदोषः । यद्यपि स्मृतिरपि धारणामेवत्वेन सिद्धतिऽभिहिता तथापि
परोक्षप्रमाणमेवत्वाद्विहृ नोक्तेति सर्वमवदातम् ।

१०६—इह च कमभाविनामायवग्रहादीनो कथितिचावैकत्थभवसेयम् । विरुद्धधर्मो-
ध्यासो ह्येकत्थप्रतिपत्तिपरिष्ठी । न चाऽसौ प्रमाणप्रतिपत्तेऽर्थे प्रत्यक्षितां भजते ।
अनुभूयते हि खलु हृष्टविषादादिविरुद्धविचत्क्रियत्वेकं चेतन्यम् । विरुद्धधर्मध्या-
साच्च विभ्यद्विरपि कथमेकं चित्रपटी ज्ञानमेकानेकाकारोल्लेखशेखरमध्युपगम्यते
सीगतेः, चित्रं वा रूपं नेयायिकादिभिरिति ? ।

१०५—प्रश्न—प्राचीन आधार्योंने अविच्युति (अबायज्ञान के लगातार ज्ञारी रहने) को क्या
धारणा माना है । ऐसी स्थिति में आपने स्मृति के कारण को ही धारणा कैसे कहा ? उत्तर—सत्य
है । अविच्युति धारणा भी है, किन्तु उसका समावेश अबाय में ही हो सकता है; इस कारण उसे
पृथक् नहीं कहा है । अबायज्ञान एक बार उत्पन्न होकर जब लम्बा-लम्बा होता जाता है, अन्त-
भूत्तर्त तक खालू रहता है, तब वही अविच्युति धारणा कहलाता है । अथवा वह भी कहा जा
सकता है कि अविच्युति भी स्मृति का कारण होने से धारणा ही है । अविच्युतिं के बिना अकेले
अबाय मात्र से स्मृति की उत्पत्ति नहीं होती । जो अबाय परिशीलन से रहित होने हैं और अन-
ध्यवसाय सरीखे होते हैं, वे स्मृति को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकते । अतएव ‘स्मृतिहेतु’
इस पद से ही, ‘अविच्युति’ और ‘संस्कार’ दोनों का ग्रहण हो जाता है, इस प्रकार कोई बाधा
नहीं रहती । यद्यपि सिद्धांत में स्मृति को भी धारणा कहा है, किन्तु परोक्ष का भेद होने से यही
उसका उल्लेख नहीं किया गया है ।

१०६—यद्यपि अबग्रह, ईहा, अबाय और धारणा कम से उत्पन्न होते हैं, किर भी वे कथ-
वित् एक ही है । परस्पर विरोधी धर्मों का होना एकत्व में बाधक होता है किन्तु जो वस्तु प्रमाण
से जैसी सिद्ध है, उसमें विरुद्ध धर्मध्यास कोई बाधा नहीं पहुँचा सकता । एक ही चेतन्य में
हृष्ट विषाद आदि परस्पर विरोधी पर्यायों का पाया जाना अनुभवसिद्ध है, विरोधी धर्मों से
इरने वाले शीढ़ों ने भी एक ही चित्रपट ज्ञान में (जील-पीत आदि) अनेक आकारों का उल्लेख
होना माना है और नेयायिकों ने एक ही अव्ययकी में अनेक रूपों का अस्तित्व स्वीकार किया है।

१०७-नैयायिकास्तु-“इन्द्रियार्थसश्चिकर्षेत्पञ्चं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यव्यायामात्मकं प्रत्यक्षम्” [च.० ११.४] इति प्रत्यक्षलक्षणमाचक्षते । अत्र च पूर्वचित्तार्थकृत-व्यव्यायामेन सञ्चाचावद्विश्वलोचनवाचस्यतिप्रमुखैरयस्थः समधितो यथा—इन्द्रियार्थसश्चिकर्षेत्पञ्चं ज्ञानमव्यभिचारि एव ग्रन्थाल्लिखेव प्रबन्धशालक्षणम् । ‘यतः’ शब्दाध्याहारेण च यत्तदोन्नित्याभिसम्बन्धादुक्तविशेषणविशिष्टं ज्ञानं यतो भवति तत् तथाविधि-ज्ञानसाधनं ज्ञानरूपं अज्ञानरूपं चा प्रत्यक्षं प्रमाणमिति । अस्य च फलभूतस्य ज्ञानस्य ह्युपि गतिरविकल्पं सविकल्पं च तथोरुभयोरपि प्रमाणरूपत्वमभिधातुं विभागवचनमेतद् ‘अव्यपदेश्यं व्यव्यायामकम्’ इति ।

१०८-तत्रोभयरूपस्यापि ज्ञानस्य प्रामाण्यमुपेक्ष्य ‘यतः’ शब्दाध्याहारदलेशोना—ज्ञानरूपस्य सश्चिकर्षादेः प्रामाण्यसमर्थमयुक्तम् । कथं हुञ्ज्ञानरूपाः सश्चिकर्षादियोऽर्थ-परिच्छित्तौ साधकतमा भवन्ति व्यभिचारात्? , सत्यपीन्द्रियार्थसश्चिकर्षेऽर्थोपलब्धेऽरभावात् । ज्ञाने सत्येष भावात्, साधकतमं हि करणमव्यवहितफलं च तदिति ।

१०७-नैयायिकों ने प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार कहा है-जो ज्ञान इन्द्रिय और पदार्थ के सश्चिकर्ष से उत्पन्न हो, अव्यपदेश्य हो अव्यभिचारी हो, व्यव्यायामक हो वह प्रत्यक्ष है । इस सूत्र में यद्यपि ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है, तथापि पूर्ववती आचार्यों द्वारा की यही व्याख्या से मुँह बोड़ कर श्रिलोचन वाचस्पति आदि ने इसका अर्थ यों किया है—‘इन्द्रिय और पदार्थ के सश्चिकर्ष से उत्पन्न होने वाला अव्यभिचारी ज्ञान प्रत्यक्ष है’ इतना ही प्रत्यक्ष का लक्षण है । इस लक्षण में ‘यतः’ शब्द का अध्याहार करना चाहिए । और ‘यत्’ तथा ‘तत्’ शब्द का नित्य सम्बन्ध होता है, अर्थात् जहाँ ‘जो’ या जिससे आदि पद होते हैं वहाँ सो या ‘उससे’ आदि का प्रयोग न होने पर भी समझ लिये जाते हैं । इस नियम के अनुसार अर्थ यह निकला कि पूर्वोक्त विशेषणों वाला ज्ञान जिससे उत्पन्न होता है, वह ज्ञान का साधन हो, चाहे ज्ञानरूप या अज्ञानरूप, प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है । इस व्याख्या के अनुसार ज्ञान प्रत्यक्ष में हीकर ज्ञान का साधन प्रत्यक्ष कहलाया । ज्ञान का वह साधन अज्ञानरूप हो तो भी प्रत्यक्ष है और ज्ञानरूप हो तो भी प्रत्यक्ष है । इस साधन से उत्पन्न होने वाला ज्ञान वो ही प्रकार का हो सकता है—नियिकल्प और सविकल्प । यह दोनों ही प्रकार के ज्ञान प्रमाण हैं, यह प्रकट करने के लिए ‘अव्यपदेश’ और ‘व्यव्यायामक’ इस प्रकार के दो पदों का प्रयोग किया गया है ।

१०८-किन्तु दोनों प्रकार के ज्ञानों की प्रमाणता की उपेक्षा करके ‘यतः’ शब्द के अध्याहार की कष्टकल्पना करके अज्ञानरूप सश्चिकर्ष आदि के प्रामाण्य का समर्थन करना योग्य नहीं है । अज्ञानरूप सश्चिकर्ष आदि अर्थज्ञाति में ‘एष तत्त्वं कैसे हो सकते हैं? उसमें व्यभिचार पाया जाता है क्योंकि इन्द्रिय और पदार्थ का सश्चिकर्ष होने पर भी पदार्थ को उपलब्धि नहीं होती । वह तो ज्ञान के होने पर ही होतो है । जिस कार्यमें जो साधकतम होता है वही करण कहलाता है और उससे कालव्यवधान के विवा तत्काल ही कार्य की उत्पत्ति होती है ।

१०९-सन्निकर्षोऽपि यदि योग्यतातिरिक्तः संयोगादिसम्बन्धस्तहि स चक्षुषो-
इवेन सह नास्ति अप्राप्यकारिवात्स्थ्य । हृशयते हि काचाभ्रस्फटिकादिव्यदहितस्याप्य-
र्थस्य चक्षुषोपलब्धिः । अथ प्राप्यकारि चक्षुः कारणत्वाद्वास्यादिवदिति ब्रूये, लहौर्यस्त्वा—
न्ताकर्षणोपलेन लोहासन्निकृष्टेन व्यभिचारः । न च संयुक्तसंयोगादिः सन्निकर्षस्तत्र
कल्पयितुं शब्दयते, अतिप्रसङ्गादिति ।

११०-सौगतास्तु 'प्रत्यक्षं कल्पनरूपोद्भवान्तम्' (च्यायवि० १,४) इति लक्षणमवोचन्
"अभिलापसंसर्गयोग्यतिभासा प्रतीतिः कल्पना तया रहितम्" (च्यायवि० १,५,५) कल्प-
तापोदम् इति । एतच्च व्यवहारानुपयोगित्वात्प्रमाणस्य लक्षणमनुपयन्तम्, तथा हि एत-
स्माद्विनिविच्चत्यार्थक्रियाधित्सत्समर्थेऽर्थे अवर्तमाना विसंवादभाजो मा भूवन्निति
प्रमाणस्य लक्षणपरीक्षायां प्रवर्तन्ते परीक्षकाः । व्यवहारानुपयोगित्वात्प्रमाणस्य वायसस-
दवसद्वानपरीक्षायामिथ निष्फलः परिश्रमः । निविकल्पोत्तरकालैभाविनः सविकल्पकात्
व्यवहारोपगमे वरं तस्येव प्रामाण्यमास्थेयम्, किमविकल्पकेन शिखण्डनेति ? ।

१०९-सन्निकर्ष भी यदि योग्यता का ही नाम हो तब तो कोई हानि नहीं, यदि योग्यता
से भिन्न संयोग आदि संबंध ही सन्निकर्ष माना जायतो वह नेत्र का पदार्थ के साथ होता ही
नहीं है, क्योंकि नेत्र अप्राप्यकारी है, अर्थात् रूप के साथ संयोग संबंध न होने पर भी नेत्र रूप-
को जानता है । काच एवं स्फटिक आदि से व्यवहित भी पदार्थ नेत्र से उपलब्ध हो जाता है ।

जंका-चक्षु प्राप्यकारी हैं, क्योंकि वह करण है, जो करण होता है वह प्राप्यकारी होता है,
जैसे वसुला ।

समाधान-यहाँ 'करण' यह हेतु दूषित है । चूम्बक लोहे से सन्निकृष्ट नहीं होता फिर भी
लोहे के आकर्षण में करण होता है । कड़चित् आहे कि लोहे और चूम्बक में संयोग सन्निकर्ष न
होने पर भी संयुक्तसंयोग सन्निकर्ष है, अर्थात् लोहे से संयुक्त पृथ्वी के साथ चूम्बक का संयोग
है, तो यह कहना ठीक नहीं । ऐसा मानने से अतिप्रसंग हो जाएगा अर्थात् चाहे जिसको चाहे
जिससे सन्निकर्ष हो जाएगा और ऐसी स्थिति में कोई निश्चित व्यवस्था नहीं रह जाएगी ।

११०-बौद्धों ने प्रत्यक्ष का लक्षण ऐसा माना है-'जो ज्ञान कल्पना से रहित और अभ्यास
हो, वह प्रत्यक्ष है ।' जिस प्रतीति को शब्दों द्वारा व्यक्त किया जा सके, वह 'कल्पना' कहलाती
है । (जैसे यह गाय है, यह गाय इवेत है, आदि प्रतीति) यह कल्पना जिस ज्ञान में संभव न हो
ऐसा सामान्य ज्ञान प्रत्यक्ष है, किन्तु बौद्धों का यह लक्षण अयुक्त है, क्योंकि व्यवहार में अनुप-
योगी है । प्रमाण से पदार्थ का निश्चय करके, अर्थक्रिया में समर्थ पदार्थ में ही प्रवृत्ति करें जिससे
कि उन्हें असफल न होना पड़े, इस उद्देश से परीक्षक जन प्रमाण की परीक्षा करते हैं । अगर
प्रमाण व्यवहार में उपयोगी न हो तो उसकी परीक्षा करना काटक के दर्ती की गणना करने के
समान निरर्थक परिश्रम होगा । कड़चित् यह कहो कि इस कल्पनारहित निविकल्पक ज्ञान के
पद्धात् उत्पत्ति होने वाले सविकल्पक ज्ञान से व्यवहार साध्य होता है, तो यही उचित होगा कि
उसी को प्रमाण माना जाय । फिर इस बेकार निविकल्पक ज्ञान को प्रमाण मानने से क्या लाभ है?

१११—जैमिनीयास्तु धर्मं प्रति अनिमित्तत्वव्याजेन ‘सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्ये--
निदियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भन्त्वात्’[जैमि० १.१.४]इत्य-
नुदादभङ्गाप्रत्यक्षलक्षणमाचक्षते,यदाहुः-

“एवं सत्यनुवादित्यं लक्षणस्यापि सम्भवेत् । ”(श्लोकवा० स० ४.११) इति ॥ १
व्याचक्षते च—इन्द्रियाणां सम्प्रयोगे सति पुरुषस्य जाग्यमाना बुद्धिः प्रत्यक्षमिति ।

११२-अत्र संशयविपर्ययबुद्धिजन्मनोऽपीन्द्रियसंप्रयोगे सति प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गादति-
व्यपतिः । अथ ‘सत्सम्प्रयोग’ इति सत्ता सम्प्रयोग इति व्याख्यायते तर्हि निरालम्बन-
विद्यमा एवार्थनिरवेक्षजन्मानो निरस्ता भवेयुनं सालम्बनौ संशयविपर्ययो । अथ सति-
सम्प्रयोग इति । सत्सम्प्रयोगे पक्ष एव न त्यज्यते संशयविपर्ययनिरासाय च ‘सम्प्रयोग’
इत्यत्र ‘सम्, इत्युपसर्वो वर्णते, यदाह-

“सामान्यार्थे च लांशक्तो दुष्प्रवृत्तिचरणः ।

दुष्प्रवृत्तचलुवितकायोगो वार्यते रजतेक्षणात्”(श्लोकवा० स० ४, ३८.५) ॥

११३—प्रत्यक्ष धर्मांका निर्णय करने में समर्थ नहीं हैं, ऐसा कहने के व्याप्ति से प्रत्यक्ष का
लक्षण जैमिनीय (मीमांसक) इस प्रकार कहते हैं—‘सत् पदार्थ के साथ इन्द्रियों का संबंध होने ।
पर अत्या को जो ज्ञान (प्रत्यक्ष) होता है, वह धर्म के निश्चय में विमित्त नहीं होता, क्योंकि
उससे वर्तमानकालीन पदार्थ ही जाने जा सकते हैं ।’ उन्होंने यह लक्षण साक्षात् लक्षण के रूप
में नहीं कहा है, अनुवाद रूप में कहा है । वे यही कहते हैं—‘प्रत्यक्ष को धर्म में अनिमित्त बत-
लाने के साथ ही साथ उसके लक्षण का भी अनुवाद (गौण रूप से कथन) हो जाता है ।’

११४—यह जैमिनीय अपने लक्षण की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—इन्द्रियों का संबंध होने
पर पुरुष को उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है । परन्तु संशय और विपर्यय ज्ञान भी
इन्द्रिय के साथ पदार्थ का संयोग होने पर ही उत्पन्न होते हैं, अतएव इस लक्षण के अनुसार ही भी
प्रत्यक्ष हो जाएँगे । शंका-‘सत्सम्प्रयोग’ का अर्थ है—सत् के साथ संयोग होने पर । अभिप्राय
यह कि सत् पदार्थ के साथ इन्द्रिय का संयोग होने पर जो ज्ञान हो वह प्रत्यक्ष है, ऐसी व्याख्या
करने से उपत्ति दोष महीं रहता । समाधान-ऐसी व्याख्या करने पर निरालम्बन भगवरुप ज्ञानोंकी
प्रत्यक्षता का तो निषेध हो जाएग, किन्तु संशय और विपर्यय ज्ञान की प्रत्यक्षता का निषेध नहीं
हो सकता, क्योंकि यह दोनों अप्रत्यक्ष ज्ञान निविषय नहीं है—पदार्थ (सत्) और इन्द्रिय के संयोग से
ही उत्पन्न होते हैं । शंका-सत्-सम्प्रयोग (सत् पदार्थ में संयोग) इस वर्ण की तो उयों का त्योः
रहने देते हैं, मगर यह कहते हैं कि ‘सम्प्रयोग’ शब्द में जो ‘सत्’ उपसर्ग है, उससे संशय और विपर्यय
ज्ञान का निराकरण हो जाता है । कहा भी है—

‘सत्’ शब्द सम्प्रयोग अर्थ में प्रयुक्त होता है । यहाँ ‘सम्प्रयोग’ शब्द दुष्प्रयोग का निवारण
करने के लिए है । जब शुक्लिका (सीप) के साथ इन्द्रिय का संयोग होता है और रजत की प्रतीक्षा
होती है तो वह प्रयोग (योग) दूषित होने से सम्प्रयोग नहीं दुष्प्रयोग है । क्योंकि संयोग अन्य
के साथ होता है और जाक अन्य पदार्थ का होता है ।

इति; सथापि प्रयोगसम्यक्त्वस्यातीन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षानवगम्यत्वात्कार्यतोऽवगतिर्वदत् व्या । कार्यं च ज्ञानम्, न च तदविशेषितमेव प्रयोगसम्यक्त्वाद्वगमनायालम् । न च तद्विशेषणपरमपरमिहु पदमस्ति । सला सम्प्रयोग इति च वरं निरालम्बनविज्ञाननिवृत्तये 'सति' इति तु सम्भव्यैव यतार्थत्वाद्वनर्थकम् ।

११३—येऽपि “तत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म सत्प्रत्यक्षं यद्विषयं ज्ञानं सेन सम्प्रयोगे इन्द्रियाणां पुरुषस्य बुद्धिजन्म सत्प्रत्यक्षं यद्वन्यविषयं ज्ञानमस्यसम्प्रयोगे भवति न तत्प्रत्यक्षम् ।” [शादरमा० १.१५] इत्येवं तत्सतोर्ध्यरूपयेन लक्षणमनव्याप्तियाहुः, तेषामपि विलष्टकल्पनैव, संशयज्ञानेन व्यभिचारानिवृत्तेः । तत्र हि यद्विषयं ज्ञानं सेन सम्प्रयोग इन्द्रियाणामस्त्वेव । यथा पि चोभयविषयं संशयज्ञानं तथापि तयोरन्यतरेणेन्द्रियं संयुक्तमेव उभयाद्वभित्वाच्च संशयस्य येन संयुक्तं चक्षुस्तद्विषयमपि सञ्ज्ञानं भवत्येवेति नातिव्याप्तिपरिहारः । अव्याप्तिहच्च चाक्षुषज्ञानस्येन्द्रियसम्प्रयोगज्ञवाभावात् । अप्राप्यकारि च चक्षुरित्युक्तप्राप्यम् ।

११४—“श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका प्रत्यक्षम्” इति वृद्धसाङ्गस्याः । अत्र श्रोत्रा-

समाधान-प्रयोग का सम्यक्त्वन अतीन्द्रिय होने से प्रत्यक्ष हारा नहीं जाना जा सकता । कार्य को देख कर ही उसका अनुमान किया जा सकता । प्रयोग का कार्य ज्ञान है और ज्ञान सामान्य से प्रयोग का सम्यक्त्वन जाना नहीं जा सकता (क्योंकि ज्ञान सामान्य सम्प्रयोग से भी उत्पन्न होता है और दुष्प्रयोग से भी ।) उसको विशिष्टता बतलाने वाला कोई पद यहाँ नहीं है । ‘सलां सम्प्रयोगः’ अर्थात् सत् पदार्थों का प्रयोग सम्प्रयोग है, ऐसा समास निरालम्बन ज्ञान की प्रत्यक्षताका निराकरण कर सकता है और वह अर्थ से ‘सति सम्प्रयोगः’ अर्थात् ‘सत् पदार्थ के होने पर सम्प्रयोग’ इसीसे प्रकट हो जाता है, अतएव निरर्थक है ।

११५—जो लोग प्रत्यक्ष के लक्षणमें आए हुए ‘तत्’ और ‘सत्’ इन्होंमें उलझ करके यह अविप्राय निकालते हैं कि जिस वस्तु का ज्ञान हो उसीके साथ इन्द्रिय कर संयोग होने पर होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है । जब इन्द्रिय का संयोग तो किसी अन्य पदार्थ के साथ हो, किसी ज्ञान किसी अन्य ही पदार्थ का हो तब वह प्रत्यक्ष नहीं कहलाता उसका यह कथन वास्तव में विलष्ट कल्पना ही है । ऐसी कल्पना करने पर भी संशय ज्ञान में यह लक्षण चला जाता है । संशय में जिस वस्तुका ज्ञान होता है उसी के साथ इन्द्रियों का संयोग होता है ।

यथा पि संशयज्ञान दोनों वस्तुओं को विषय करता है तथापि दोनों में से किसीएक के साथ तो इन्द्रिय का संयोग होता ही है । संशय दोनों को विषय करता है, अतएव जिस वस्तु के साथ-साथ संयुक्त है, तद्विषयक ज्ञान भी होता ही है । अतएव पूर्वोक्त लक्षण में आनेवाली असिव्याप्ति का हपरिहार नहीं होता, इस के अतिरिक्त उक्त लक्षण में अव्याप्ति दोष भी है क्योंकि असंख्य ज्ञान इन्द्रियसंयोग से उत्पन्न नहीं होता चक्षु अप्राप्यकारी है, यह पहले ही कहा जा चुका है ।

११५—वृद्ध सांख्यों का कथन है—श्रोत्रादि का निर्विकल्पक व्यापार प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है,

दीनमलेतनत्वात्तद्बुद्धेः सुतराभचैतन्यभिति कर्थं प्रमाणत्वम् । चेतनसंसर्गत्तच्छैतन्याभ्युपगमे वरं चित एव प्रामाण्यभ्युपगमन्तुं युक्तम् । न चाविल्पक्त्वे प्रामाण्यभस्तीति यत्किञ्चिद्देतत् ।

११५—“प्रतिविषयाध्यवसायो हृष्टम्”[गां० का० ५]इति प्रत्यक्षलक्षणमितीश्वरकृष्णः । तदप्यनुमानेन व्यभिचारित्वादलक्षणम् । अथ ‘प्रति’ आभिमुख्ये वर्तते सेना—भिमुख्येन विषयाध्यवसायः प्रत्यक्षमित्युच्यते; तदप्यनुमानेन तुह्यम् घटोऽयमितिवदयं पर्वतोऽग्निभानित्याभिमुख्येन प्रतीते । अथ अनुमानादिविलक्षणो अभिमुखोऽध्यवसायः प्रत्यक्षम्; ताहि प्रत्यक्षलक्षणमकरणीयमेव शब्दानुमानलक्षणविलक्षणतयैव तत्सद्धेः ।

११६—ततश्च परकीयलक्षणानां दुष्टत्वादिदमेव विशदः प्रत्यक्षम् इति प्रत्यक्षलक्षणमनवद्यम् ॥ २९ ॥

११७—प्रमाणविषयफलप्रमाणतृ॒ख्येषु चतुर्बु॑ विधिषु तत्त्वं परिसमाध्यत इति विषयादिलक्षणमन्तरेण प्रमाणलक्षणमसम्पूर्णमिति विषयं लक्षयति-

प्रमाणस्य विषयो द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु ॥३०॥

किन्तु श्रीन आदि जब अचेतन हैं उनका व्यापार भी अचेतन ही होगा, अतएव यह प्रमाण कैसे हो सकता है? अगर चेतन के संसर्ग से उसे चेतन मानते हो तो उससे यही अच्छा हो कि जित्त ज्ञान को ही प्रमाण स्वीकार करो । यह पहले कहा जा चुका है कि निविकल्पक ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता । अतएव यह मान्यता यीं ही है ।

११८—ईश्वरकृष्ण नामक सांख्याचार्य कहते हैं—‘प्रतिविषय का अध्यवसाय प्रत्यक्ष कहलाता है’ यह लक्षण अनुमान से व्यभिचरित है अर्थात् अनुमान में भी पाया जाता है (क्योंकि अनुमान भी प्रतिनियत विषय की जानता है) । शंका-‘प्रति’ शब्द अभिमुखता के अर्थ में है । अतएव अभिमुख रूप से— समक्ष रूप से पक्षीर्थी को जी ज्ञान होता है वही प्रत्यक्ष कहलाता है । समाधान-तब भी लक्षण अनुमान में जाता है । जैसे ‘यह घट है’ ऐसा अभिमुख रूप से प्रत्यक्ष होता है । उसी प्रकार यह पर्वत वह निमान हैं यह अनुमान ज्ञान भी अभिमुख रूप से होता है शंका-अनुमान आदि से विलक्षण अभिमुख अध्यवसाय प्रत्यक्ष हैं ऐसा कहने से अनुमान में लक्षण नहीं जाएगा । किंतु कोई दोष नहीं रहेगा । समाधान-ऐसा है तो प्रत्यक्ष का लक्षण कहने की आवश्यकता ही क्या है? अनुमान और आग्रह प्रमाण से विलक्षण होने से ही प्रत्यक्षके लक्षण को सिद्धि हो जाएगी ।

११९—इस प्रकार दूसरों के लक्षण दूषित होने के कारण विशद ज्ञान प्रत्यक्ष है यही लक्षण निर्वाच ठहरता है ॥ २९ ॥

११७—प्रमाण, प्रमाण का विषय, फल और प्रमाण, इन चार चेदों से तत्त्व की परिसमाप्ति होती है । अतएव जब तक प्रमाण का विषय आदि न खतलाया जाए तब सक प्रमाण का लक्षण अद्भूता है । अतएव पहले विषय का निरूपण करते हैं—
(अर्थ-) द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु प्रमाण का विषय है ॥३०॥

११८—प्रत्यक्षस्य प्रकृतत्वात्तस्येव विषयादौ लक्षणितव्ये 'प्रमाणस्य' इति प्रमाणसामान्यग्रहणं प्रत्यक्षवत् प्रमाणान्तराणामपि विषयादिलक्षणमिहैव वक्तुं युक्तमविशेषात्था च लाघवमपि भवतीत्येवमर्थम् । जातिनिर्देशाच्च प्रमाणानां प्रत्यक्षादीनां 'विषयः' गोचरो 'द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु' । द्रवति तांस्तरन् पर्यायान् गच्छति इति द्रव्यं ध्रौद्यलक्षणम् । पूर्वोत्तरविवर्तनवर्त्यन्वयप्रत्ययसमधिगम्यमूर्धवतासामान्यमिति यावत् । परियन्त्युत्प्रदविनश्चधम्मणिः भवन्तीति पर्याया विवर्तः । तच्च ते चात्मा स्वरूपं यस्य तत् द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु, परमार्थसदित्यर्थः, यद्वाचकमुख्यः—“उत्पादव्ययध्रौद्ययुक्तं सत्” [तत्काल ५. २९] इति, पारमार्थमपि “उत्पन्नेह वा विगमेह वा ध्रुवेह वा” इति ।

११९—तत्र 'द्रव्यपर्याय' ग्रहणेन द्रव्यकान्तपर्यायिकान्तवादिपरिकल्पतविषयव्याख्यासः । 'आत्म'ग्रहणेन चात्यन्तव्यतिरिक्तद्रव्यपर्यायवादिकाणादयंगाभ्युपगतविषयनिरासः । यच्छ्रौदीसिद्धसेनः—

११८—यहीं प्रत्यक्ष का निरूपण चल रहा है, अतएव उसी के विषय आदि का निरूपण करना चाहिए, फिर भी यहीं 'प्रमाणस्य' पद का प्रयोग करके प्रमाणसामान्य का विषय बताया है । इसका प्रयोजन एक साथ सब प्रमाणों के फल का निरूपण करना है । सब प्रमाणों का विषय समान है । अनेक उसे एक साथ बतला देने से गम्य में लाघव होता है । अलग-अलग कहने से ग्रथ का निरर्थक विस्तार होगा । सामान्य को अवेक्षा से 'प्रमाणस्य' (प्रमाण का) इस एक वचन का प्रयोग किया है । अतएव प्रत्यक्ष आदि सभी प्रमाणों का फल द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु है, ऐसा समझ लेना चाहिए । जो अमृक-अमृक पर्यायों के प्रति द्रवित होता रहता है अर्थात् विभिन्न पर्यायों को धारण करता हुआ रहता है उसे 'द्रव्य' कहते हैं । द्रव्य का दूसरा नाम 'ध्रौद्य' भी है । पूर्वपर्याय के नष्ट हो जाने और उत्तर पर्याय के उत्पन्न हो जाने पर भी जिसके कारण उस वस्तु में एकाकार प्रतीति होती है, अर्थात् पर्यायों के पलटते रहने पर भी उनमें जो नित्य अंश ज्यों का त्यों बना रहता है, वह अद्वैतासामान्य ही द्रव्य कहलाता है । (जैसे कड़ा तोड़कर कुंडल दूना लेने पर भी, स्वर्ण' वही का बही रहता है । यहीं स्वर्ण' अद्वैतासामान्य या द्रव्य कहलाएगा ।)

जो पलटते रहते हैं—उत्पन्न होते और विनष्ट होते रहते हैं, उन्हें पर्याय कहते हैं । पर्याय का दूसरा नाम 'विवर्त' भी है । यह द्रव्य और पर्याय दोनों वस्तु के स्वरूप है—यह सम्मिलित दोनों ही वस्तु है और ऐसी वस्तु ही वास्तव में 'सत्' कही जा सकती है । याचकमुख्य उपास्कृति ने कहा है—'जो उत्पाद, व्यय और ध्रौद्यमय हो, वही सत् है ।' सर्वज्ञप्रणीत आगम में भी यही कहा है—वस्तु उत्पन्न भी होती रहती है, नष्ट भी होती रहती है और ध्रुव भी रहती है ।'

११९—प्रस्तुत सूत्र में 'द्रव्यपर्याय दोनों के ग्रहण से एकान्त द्रव्य या एकान्त पर्याय ही प्रमाण का विषय है, इस मत का विवेक हो जाता है । 'आत्मक' शब्द के प्रयोग से कणाद और योग मत का निराकरण किया गया है, क्योंकि से द्रव्य और पर्याय का एकान्त भेद स्वीकार करते हैं । श्री सिद्धसेन दिव्याकर ने कहा है—

“दोहि वि न एहि नीर्यं सत्थमुक्तृएण तहवि मिच्छत्तं ।

जं सदिसयप्पहाणत्तणेण अन्नोऽनिरविक्ख” ॥(स्त्र०३४९) ति ॥३०॥

१२०—कुलः पुनर्द्रव्यपर्यायात्मकमेव वस्तु प्रमाणानां विषयो न द्रव्यमात्रं पर्यायमात्रमुभयं वा स्वतन्त्रम्? इत्याह—

अर्थक्रियासामर्थ्यात् ॥३१॥

१२१—‘अर्थस्य’ हानोपादानादिलक्षणस्य ‘क्रिया’ निष्पत्तिस्तत्र ‘सामर्थ्यात्’ द्रव्यपर्यायात्मकस्थैव वस्तुनोऽर्थक्रियासमर्थत्वादित्यर्थः ॥ ३१ ॥

१२२—यदि नामेवं तत् किमित्याह—

तल्लक्षणत्वं द्रव्यमत्तुनः ॥३२॥

१२३—‘तद्’ अर्थक्रियासामर्थ्ये ‘लक्षणम्’ असाधारणं रूपं परस्थ तत् तल्लक्षणं तस्य भावस्तस्थं तस्मात् । कस्य? । ‘वस्तुनः परमार्थसतो रूपस्य । अर्थमर्थः-अर्थक्रियार्थी हि सर्वः प्रमाणमन्वेषते, अपि नामेतःप्रमेयमर्थक्रियाक्षमे विनिश्चित्य कृतार्थो अवेयमिति न व्यसनितया । तथादि प्रमाणविषयोऽर्थोऽर्थक्रियाक्षमो न भवेत्तदा नासी प्रमाणपरीक्षणमाद्रियेत । यदाह—

‘यद्यपि उल्लूक (कणाद) ने अपने शास्त्र में दोनों नयों (द्रव्याधिक-पर्यायाधिक) को स्वीकार क्रिया है तथापि वह मिथ्यात्व है क्योंकि वे दोनों नय अपने-अपने विषय में प्रधान होने से परस्पर निरवेक्ष हैं । तात्पर्य यह है कि औल्लूक वशीन में आत्मा आकाश आदि जिन पदार्थों की नित्य माना है उन्हें एकान्त नित्य ही माना है और जिन्हें अनित्य माना है उन्हें एकान्त अनित्य ही माना । उन्होंने प्रत्येक वस्तुको नित्यानित्यात्मक नहीं माना । अतएव उनका मत भी मिथ्यात्व ही है ।

१२०—द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु ही क्यों प्रमाण का विषय है? एकान्त द्रव्य, एकान्त पर्याय अथवा स्वतन्त्र द्रव्य-पर्याय प्रमाण का विषय क्यों नहीं है? इस प्रश्न का उत्तर—

अर्थ-अर्थक्रिया के सामर्थ्य से (द्रव्य-पर्याय रूप वस्तु ही प्रमाण का विषय है) ॥३१॥

१२१—त्याग करना या ग्रहण करना या उपेक्षा करना यहाँ ‘अर्थ’ का अभिप्राय है । उसकी ‘क्रिया’अर्थात् निष्पत्ति में समर्थ होने से अर्थात् द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु ही अर्थक्रिया में समर्थ होने से द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु प्रमाण का विषय है ॥३१॥

१२२—यदि द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु ही अर्थक्रिया में समर्थ होती है तो इससे क्या हुआ? इस प्रश्न का उत्तर-(अर्थ)-अर्थक्रिया ही वस्तु का लक्षण है ॥३२॥

१२३—परमार्थसत् वस्तु का लक्षण अर्थक्रिया में सामर्थ्य होता है । अर्थात् तो अर्थक्रिया में समर्थ हो अहीं वस्तु कहलाती है, हान-उपादान आदि अर्थक्रिया के अभिलाषी होकर ही सभी लोग प्रमाण की गवेषणा करते हैं जिससे कि अर्थक्रिया में समर्थं परार्थं का निष्पत्ति करने पर सफलता प्राप्त हो सके । व्यसन मात्र से प्रमाण की गवेषणा नहीं करते हैं । ऐसी स्थिति में प्रमाणणोच्चर परार्थं यदि अर्थक्रिया में समर्थं न हो तो प्रमाण की परीक्षा की आवश्यकता ही न हो! कहा भी है—

‘अर्थक्रियाऽसमर्थस्य विचारः कि तदधिनाम् ।

षष्ठस्य रूपबैरुप्ये कामिन्याः कि परीक्षया? ॥” (प्रमाणवा० १.२१९) इति ।

१२४-तत्र न द्रव्यंकरूपोऽर्थोऽर्थक्रियाकारी, स ह्यप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरेकरूपः कथ-
मर्थक्रियां कुर्वते क्रमेणाक्रमेण वा? , अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणां प्रकारान्तरासम्भवात् ।
तत्र न क्रमेण; स हि कालान्तरभाविनीः क्रियाः प्रथमक्रियाकाल एव प्रसहृ कुर्यात्
समर्थस्य कालक्षेपायोगात्, कालक्षेपिणो वाऽसामर्थ्यप्राप्तेः । समर्थोऽपि तत्तत्सहकारि-
माध्याने तं तपार्थं करोतीति चेत्; न तर्हि तस्य सामर्थ्यमपरसहकारिसायेक्षवृत्तित्वात्,
“सायेक्षमसमर्थम्” (पात०महा० ३.१४) इति हि कि नाशीषी? । न तेन सहकारिणोऽये-
श्यन्तेऽपि तु कार्यमेव सहकारिष्टसत्त्वभवत् तानपेक्षत इति चेत्; तत्क स भावोऽस-
मर्थः? । समर्थश्चेत्; कि सहकारिभूतप्रेक्षणदीनानि तान्युपेक्षते न पुनर्जटिति घट-
यति? । ननु समर्थमपि बीजमिलाजलादिसहकारिसहितमेवाऽकुरं करोति नाम्यथा;

‘जो अर्थक्रिया के अभिलाषी हैं, उन्हें अर्थक्रिया में असमर्थ पदार्थ का विचार करने से
क्या लाभ? कामिनी के लिए नयुंसक की सुन्दरता—असुन्दरता का विचार करना बुझा ही है?

(अर्थक्रिया में समर्थ पदार्थ का निश्चय करने के लिए ही प्रमाण की व्येक्षणा की जाती
है ऐसा पदार्थ द्रव्यपर्याय रूपरूप ही है, यह ऊपर कहा जा चुका है। यहाँ उसके अतिरिक्त पर
विचार किया जाता है ।)

१२४-एकान्त द्रव्यरूप अर्थात् सर्वथा नित्य पदार्थ अर्थक्रिया करने से समर्थ नहीं है। एकान्त-
द्रव्यरूप पदार्थ वह कहलाता है जो कभी अपने स्वरूप से च्युत न हो, उत्पन्न न हो और सबा
स्थिर एक रूप रहे। ऐसा पदार्थ किस प्रकार से अर्थक्रिया करेगा, कम से या एक साथ? परस्पर
विशेषों दो विकल्पों के अतिरिक्त तीसरा कोई विकल्प संभव नहीं है। वह कम से अर्थक्रिया
नहीं करेगा, वयोंकि कालान्तर में होने वाली क्रियाओं को प्रथम क्रिया के समय में ही कर सकता
है। वह ऐसा करने के लिए समर्थ है और जो समर्थ होता है वह कालक्षेप नहीं करता। यदि
नित्य पदार्थ कालक्षेप करेगा तो उसमें असमर्थता होनी चाहिए।

इका-नित्य पदार्थ तो एक साथ सब क्रियाओं को करने में समर्थ है, किन्तु जब जिस
क्रिया के बीच सहकारी कारण मिलते हैं, तब उस क्रिया को करता है। समाधान—सहकारी
कारणों की सहायता लेकर यदि वह कार्य करता है तो वह समर्थ नहीं कहला सकता। यदा
आपने यह नहीं सुना है कि दूसरे की अपेक्षा रखने वाला स्वयं असमर्थ होता है।

इका-नित्य पदार्थ को सहकारी कारणों की अपेक्षा नहीं होती, किन्तु सहकारियों के
अभाव में न होता हुआ कार्य ही उनकी अपेक्षा रखता है। समाधान-तो यदि नित्य पदार्थ उन
कारणों को करने में असमर्थ है? यदि वह स्वयं उन्हें करने में समर्थ है तो सहकारी कारणों का
मुँह ताकने वाले उस बेचारे कारणों की उपेक्षा यों करता है? झटपट कर क्यों नहीं देता?

इका-बीज अंकुर की उत्पत्ति में समर्थ होने पर भी पृथ्वी, जल आदि सहायक कारणों
के मिलने पर ही उसे उत्पन्न करता है, अबेला नहीं। इसी प्रकार नित्य पदार्थ समर्थ होकर भी

तत् कि तस्य सहकारिभिः किञ्चिच्चबुपक्रियेत्, न वा?। नो चेत्; स कि पूर्ववर्णोदास्ते। उपक्रियेत् चेत्; स तर्हि तंरूपकारो भिन्नोऽभिन्नो वा क्रियत इति निर्वचनीयम्। अभेदे स एव क्रियते इति लाभमिच्छतो मूलक्षतिरायाता। भेदे स कथं तस्योपकारः? कि न सहृन्धियादेवपि?। तत्सम्बन्धात्स्यायमिति चेत्; उपकार्योपकारयोः कः सम्बन्धः?। न संयोगः; द्रथयोरेव तस्य भावात्। नापि समवायस्तस्य प्रत्यासत्त्विद्विक्षयभित्वात् सर्वत्र सुल्यत्वात् नियतसम्बन्धिसम्बन्धत्वं युवतम्, तत्वे वा तत्कृत उपकारोऽस्याभ्युपगत्यः, तथा च सत्युपकारस्य भेदाभेदकर्तव्या तदवस्थेव। उपकारस्य समवायादभेदे समवाय एव कृतः स्यात्। भेदे पुनरपि समवायस्य विशेषणविशेष्यभावो हेतुरिति चेत्; उपकार्योपकारकभावाभावे तस्यावि प्रतिनियमहेतुस्वाभावात्। उपकारे तु पुनर्भेदाभेदविकल्पद्वारेण तदेवादर्तते। तत्त्वकात्तनित्यो भावः—क्रमेणार्थक्रियां कुरुते।

सहकारी कारणों से युक्त होकर अर्थक्रिया करता है। समाधान-ऐसा है तो सहकारी कारण नित्यपदार्थ में कुछ विशिष्टता (उपकार) उत्पन्न करते हैं या नहीं? यदि नहीं करते अर्थात् सहकारी कारणों के मिलने पर भी नित्य पदार्थ जयों का त्यों हो रहता है तो सहकारियों के मिलने पर भी पूर्ववत् उदासीन जयों नहीं रहता? यदि उपकार करते हैं अर्थात् विशिष्टता उत्पन्न करते हैं तो वह उपकार नित्य पदार्थ का उत्पादन ही कहलाया। (नित्यता की क्षति हो गई) इस प्रकार लाभ की इच्छा करने वाले को मूल पूँजी ही नहीं हो गई।) यदि सहकारिकृत उपकार नित्य पदार्थ से भिन्न होता है तो वह उसका ही जयों कहलाएगा? सहा या विन्ध्य पर्वत का जयों नहीं कहलाए?

शंका-नित्य पदार्थ के साथ सम्बन्ध-होने के कारण वह उपकार उसी का कहलाता है, अन्य का नहीं। समीधान-सो उपकार्य (नित्य पदार्थ) और उपकार में कौन-सा सम्बन्ध है? उसे संयोग संबंध कह नहीं सकते, क्योंकि संयोग दो इच्छों में ही होता है (यहीं पदार्थ इच्छा है किम्बु उपकार इच्छा नहीं किया है।) कदाचित् समवाय सम्बन्ध कहो तो वह एक और सर्वांगाषी होने से सर्वत्र सुल्य है—किसी से निफट और किसी से दूर नहीं है। ऐसी स्थिति में अमुक के साथ ही वह संबंध हो, दूसरे के साथ नहीं, ऐसी व्यवस्था नहीं हो सकती। यदि यह व्यवस्था मान ली जाय तो नियत सम्बन्धियों द्वारा कृत उपकार समवाय का मानना चाहिए। ऐसा स्थिति में उपकार के भेद और अभेद की वह कल्पना जयों की त्यों कायथ रहती है। उपकार का समवाय से अभेद माना जाय तो उपकार की उत्पत्ति का अभिप्राय समवाय की उत्पत्ति होगा। यदि भेद स्वीकार किया जाय तो पुनः वही बाधा खड़ी होनी कि वह उपकार समवाय का ही कैसे माना जाय? किसी दूसरे का जयों न माना जाय? समवाय के नियत सर्वत्र संबंधत्व में विशेषणविशेष्यभाव कारण है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उपकार्य-उपकारकभाव के अभाव में वह भी नियतता का कारण नहीं हो सकता, अगर पुनः वही प्रश्न उपस्थित होता है कि वह उपकार भिन्न है या अभिन्न है? इस प्रकार अनवस्था दोष को प्राप्ति होती है। अतएव यह निश्चित

१२५—नाप्यक्रमेण । न होको भावः सकलकालकलाभाविनीयुगपत् सर्वाः क्रियाः करोतीति प्रातीतिकम् । कुरुतां वा, तथापि हृतीयक्षणे कि कुर्यात्? । करणे वा क्रमपक्षभावो दोषः । अकरणेऽनर्थक्रियाकारित्वादवस्तुत्वप्रसङ्गः— इत्येकान्तनित्यात् क्रमाक्रमाभ्यां व्याप्तार्थक्रिया व्यापकानुपलब्धिबलात् व्यापकनिवृत्ती निवर्तमाना व्याप्तमर्थक्रियाकारित्वं निवर्तयति, तदपि स्वव्याप्त्यां सत्त्वभित्यसन् द्रव्येकान्तः ।

१२६—पर्यायिकान्तरूपोऽपि प्रतिक्षणविनाशी भावो न क्रमेणार्थक्रियासमर्थो देशकृतस्य कालकृतस्य च क्रमस्येवाभावात् । अवस्थितस्येव हि नानादेशकालव्याप्तिदेशक्रमः कालक्रमश्चाभिधीयते । न चैकान्तविनाशिनि सास्ति । यदाहुः—

“यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदेव सः ।

न देशकालयोऽप्याप्तिभावानामिह विद्यते ॥”

१२७—न च सन्तानारेक्षया पूर्वोत्तरक्षणानां क्रमः सम्भवति, सन्तानस्याऽवस्तुत्वात् । वस्तुत्वेऽपि तस्य यदि क्षणिकत्वं न तद्वा क्षणेभ्यः कदिच्छिदोषः । अथाक्षणिकत्वम्; सुस्थितः पर्यायिकान्तवादः! यदाहुः—

१२५-मित्य पदार्थ एक मात्र भी अर्थक्रिया नहीं कर सकता । सम्पूर्ण काल को अंशों विभागों में होनेवाली समस्त क्रियाओं को एक ही पदार्थ एक ही साथ कर लेता है, यह बात प्रतीति के पोष्य नहीं है । थोड़ी देर के लिए मान लें कि वह ऐसा करता है तो फिर दूसरे क्षण में वह क्या करेगा ? कुछ करेगा तो उसका करना क्रम से करना कहलाएगा, (जिसका निराकरण पहले क्रिया जा चुका है ।) अगर कुछ भी नहीं करेगा तो अर्थक्रियाकारी नहीं रहने से अवस्तु हो जाएगा ।

इस प्रकार नित्य पदार्थ में न क्रम बनता है, न अक्रम बनता है । क्रम-अक्रम व्यापक हैं और अर्थक्रिया व्याप्त है । व्यापक के अभाव में व्याप्त भी नहीं रहता अर्थात् क्रम-अक्रम के अभाव में अर्थक्रिया भी घटित नहीं होती और अर्थक्रिया के घटित न होने से सत्त्व भी, उसमें नहीं बन सकता, क्योंकि सत्त्व का व्यापक अर्थक्रियाकारित्व है, अतः जहाँ अर्थक्रियाकारित्व का अभाव है, वहाँ सत्त्व का भी अभाव होगा ।

१२६-क्षण-क्षण में नष्ट होने वाला एकान्त पर्यायरूप पदार्थ भी क्रमसे अर्थक्रिया नहीं कर सकता । उसमें देशकृत या कालकृत क्रम ही नहीं हो सकता तो क्रमसे अर्थक्रिया कैसे कर सकता है? स्थिर रहनेवाले पदार्थ का एक देशसे दूसरे देश में होना देशक्रम और एक काल से दूसरे काल में होना कालक्रम कहलाता है । एकान्ततः क्षणविनश्वर पदार्थ में इन दोनों में से कोई भी क्रम संभव नहीं है । कहा भी ॥

जो पदार्थ जहाँ उत्पन्न होता है वह वहीं रह जाता है और जिस काल में उत्पन्न होता है, उसी काल में रहता है न अन्यत्र जो सकता है, न अन्यत्र रह सकता है । अतएव एकान्त पर्यायवाद में देश और काल की व्याप्ति संभव नहीं है ।

१२७-शांका-सन्तान अर्थात् प्रधाहु की अपेक्षा से वस्तु में क्रम बन सकता है । समाधान नहीं । सन्तान कुछ वस्तु ही नहीं है । उसे वस्तु मानो तो वह क्षणिक है या नित्य? क्षणिक मानने

अथापि नित्यं परमार्थसन्तं सन्ताननामानमुपेषि भावम् ।

उत्तिष्ठ भिक्षो! कलितास्तदाशः सोऽयं समाप्तः क्षणभञ्ज्चादः ॥

[स्थायम् ० प० ४६४] इति ।

१२८—नाथ्यक्षमेण अणिकेऽर्थक्रिया सम्भविति स होको रूपादिक्षणो युगपदनेकान् रसादिक्षणान् जनयन् यद्येकेन स्वभावेन जनयेत्तदा तेषामेकत्वं स्वादेकस्वभावजन्मत्वात् । अथ नानास्वभावेर्जनयति—किञ्चिद्बुपादानभावेन किञ्चित् सहकारित्वेन; तेतहि स्वभावास्तस्यात्मभूता अनात्मभूता वा? । अनात्मभूताइचेत्; स्वभावहानिः । यदि तस्यात्मभूताः; तहि तस्यानेकत्वं स्वभावानां चैकत्वं प्रसज्येत । अथ य एवंकारोपादानभावः स एवान्यत्र सहकारिभाव इति न स्वभावभेद इष्यते; तहि नित्यस्यकरुपस्यापि क्रमेण नानाकार्यकारिणः स्वभावभेदः कार्यसाङ्गार्थं च मा भूत् । अथाक्षमात् क्रमिणामनुत्पत्तेन्वभित्ति चेत्; एकानंशकारणात् युगपदनेककारणसाध्यानेककार्यविरोपर क्षणों से उसमें कोई विशेषता नहीं रहेगी । यदि नित्य कहो तो एकान्त पर्यायिकाव कैसे निष्ठे?

कहा है—‘यदि नित्य और परमार्थ त्रृत्याननामक भाव को स्वीकार करते हो तो हे भिक्षो! तुम्हारी आशाएं फलबली हुईं । यह क्षणभीमांसाद समाप्त हो गया!

१२८-अणिक पदार्थ में युगपत् अर्थक्रिया संगत नहीं हो सकती । एक ही समय तक रहनेवाला रूप यदि एक ही साथ रस, गूद, आदि अनेक पदार्थों को एक ही स्वभाव से उत्पन्न करेगा तो वे रस आदि एक ही हो जाएंगे वयोंकि जो एक स्वभाव से जन्म होते हैं वे एक ही होते हैं ।

बीड़मतानुसार पूर्वक्षण अपने सजातीय उत्तर क्षण का उपादान और विजातीय उत्तरक्षण का निमित्त कारण होता है । बीड़ नित्यवादी को यही दोनों दोष देते हैं ।

शका-रूप, रस, गूद आदि को एक स्वभाव से उत्पन्न नहीं करता बरन् अनेक स्वभावों से उत्पन्न करता है । रूप अपने उत्तरक्षणवत्तीं रूप को उपादान कारण हो कर उत्पन्न करता है और रस आदि विजातीय पदार्थों को निमित्त कारण बन कर । (इसी प्रकार रस आदि भी सजातीय के प्रति उपादान और विजातीय के प्रति निमित्त कारण होते हैं ।) समाधान-ऐसा है तो वे अनेक स्वभाव उस पदार्थ से भिन्न हैं या अभिन्न हैं? भिन्न होने पर वे उसके स्वभाव नहीं हो सकते । अगर अभिन्न माने जाएँ तो अनेकला सानन्द पड़ेगा (और वह निरंश नहीं रहेगा) अथवा एक-निरंश-पदार्थ से अभिन्न होने के कारण स्वभावों से एकता माननी पड़ेगी ।

शका-एक जगह उपादान होमा ही दूसरी जगह निमित्त होता है (बसे रूप का रूप के प्रति उपादान कारण होना ही रसादि के प्रति निमित्त होना माना जाता है), अतएव पदार्थ में स्वभाव-भेद नहीं है । समाधान-तो इसी प्रकार एक स्वभाववाला नित्य पदार्थ यदि क्रम से कार्य करे तो उसमें भी स्वभाव का भेद और कार्यों की संकरता नहीं होनी चाहिए । अगर यह कहा जाय कि अक्रम (क्रमहीन-एकान्तनित्य) से क्रमिक कार्यों की उत्पत्ति संभव नहीं है तो किर तुम्हारे माने हुए एक और निरंश कारण से, एक साथ, अनेक कारणों से साध्य, अनेक कार्य नहीं हो सकते । इस प्रकार अणिक पदार्थ भी अक्रम से कार्यकारी नहीं होने चाहिए ।

धात् क्षणिकानामप्यक्रमेण कार्यकारित्वं मा भूदिति पर्यायिकान्त्रादपि क्रमाक्रमयोव्याप्तियोन्ति चृत्युत्थयेव व्याप्याऽर्थक्रियापि व्यावर्तते । तद्व्याप्तृत्तौ च सत्त्वमपि व्यापकानुपलब्धिवलेनैव निवर्तते इत्यसत् पर्यायिकान्तोऽपि ।

१२९—कालान्तरसत् एवलभित्तिहृष्टाद्यप्युपगमन् चृत्यिक्षादीनि गुणाद्याधाररूपाणि द्रव्याणि, गुणादयस्त्वाधेयत्वात्पर्यायाः । ते च केचित् क्षणिकाः केचिद्बावद्वृथ्यभाविनः केचिद्ब्रित्या इति केवलभित्तरेतरविनिर्लिप्तधर्मिधर्माऽप्युपगमाद्य समिक्षीनविषयवादिनः तथाहि—यदि द्रव्यादत्यन्तविलक्षणं सत्त्वं तदा द्रव्यमसदेव भवेत् । सत्तायोगात् सत्त्वमस्त्येवेति चेत्; असत्ता सत्तायोगेऽपि कुतः सत्त्वम् ?, सत्ता सु निष्फलः सत्तायोगः । स्वरूपसत्त्वं भावानामस्त्येवेति चेत्; तहि किं शिखणिडना सत्तायोगेन? । सत्तायोगात् प्राक् भावो न सन्नाप्यसत्, सत्तासम्बन्धात् सम्भिति चेत्; वाह्मात्रमेतत् सदसद्विलक्षणस्य प्रकारान्तरस्यासम्भवात् । अपि च पदार्थः, सत्ता, योगः' इति न त्रितयं चकास्ति । यदार्थसत्त्योश्च योगो यदि लादात्म्यम्, तदनभ्युपगमबाधितम् । अत एव न संयोगः,

इस प्रकार एकान्त पर्यायवाद में भी व्यापक-क्रम और अक्रम के न अनन्त से उनकी अप्य अर्थक्रिया नहीं बन सकती । और जब अर्थक्रिया नहीं बन सकती तो उसका भी व्याप्य सत्त्व नहीं बन सकता, क्योंकि जहाँ व्यापक नहीं है तां वहाँ व्याप्य भी नहीं होता । अतएव एकान्त पर्यायवाद भी असत् है ।

१३०—वैशेषिकों ने द्रव्य और पर्याय दोनों को स्वीकार किया है । उनके मतानुसार युक्तिवी आदि, जो गुणों के आधार हैं, वे द्रव्य हैं, और गुण आदि पदार्थ आधेय होने से पर्याय हैं । इनमें से कोई कोई क्षणिक है, कोई यावद्वृथ्यभावी अर्थात् जब सक द्रव्य रहता है तब तक रहने वाले हैं और कोई-कोई नित्य हैं । मगर वैशेषिक धर्मी (द्रव्य) और धर्म (पर्याय-गुण) को सर्वथा भिन्न स्वीकार करते हैं, अतएव उनका कथन सम्यक् नहीं है । यथा-यदि सत्ता (सामान्य) द्रव्य से सर्वथा विलक्षण-मित्र है तो द्रव्य असत् होना आहिए ।

शंका—सत्ता का समवाय होने से द्रव्य सत् है । समाधान—द्रव्यादि स्वरूप से असत् है या सत् है ? असत् है तो सत्ता के समवाय से भी वे सत् नहीं हो सकते । और यदि सत् है तो उनमें सत्ता का समवाय मानना निष्फल है ।

शंका—पदार्थों में स्वरूपसत्ता तो होती ही है । समाधान—तो फिर इस विषयडी सत्तासम्बन्ध से क्या लाभ है ?

शंका—सत्ता के समवाय से पहले पदार्थ न सत् होता है, न असत् होता है, सत्ता के सम्बन्ध से सत् होता है । समाधान—यह वस्त्रमात्र है । सत् और असत् से विलक्षण कोई तीसरा प्रकार हो ही नहीं सकता—जो सत् नहीं है वह असत् और जो असत् नहीं है वह सत् होता ही है । इसके अतिरिक्त पदार्थ, सत्ता और समवाय, इन तीन की प्रतीति नहीं होती है । पदार्थ और सत्ता के संबंध को यदि तावस्त्वप संबंध कहा जाय तो वह वैशेषिक से मात्रा ही नहीं है । संयोग संबंध

समवायस्त्वनाभित् इति सर्वं सर्वेण सम्बद्धनीयान्न वा किञ्चित् केनचित् । एवं द्रव्य-
गुणकर्मणां द्रव्यत्वादिभिः, द्रव्यस्य द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषैः, पृथिव्यप्लोजोवायूनां
पृथिव्यत्वादिभिः, आकाशादीनां च द्रव्याणां स्वगुणेणां ग्रथायोगं सर्वंभिधानीयम्,
एकान्तभिन्नानां केनचित् कथञ्चित् सम्बन्धायोगात्, इत्यौलूक्यप्रक्षेप्ति चिष्ठयद्यवस्था
तुःस्था ।

१३०—वनु द्रव्यपर्यायात्मकत्वेऽपि वस्तुनरतदवस्थमेव दौस्थ्यम्; तथाहि—द्रव्य-
पर्याययोरेकान्तिकभेदाभेदपरिहारेण कथञ्चित्तद्वेदाभेदवादः स्याद्वादिभिरुपेयते, त
चासौ युक्तो *विरोधादिदोषात्—विधिप्रतिषेधरूपयोरेकश्च वस्तुःयसम्भवान्तीला—
नीलवत् १ । अथ केनचित्तद्वेषण भेदः केनचिदभेदः; एवं सति भेदस्यान्यदधिकरणम-
भेदस्य चान्यदिति वैयधिकरण्यम् २ । यं चात्मानं पुरोधाय भेदो यं चात्मित्याभेदस्ता-
शी वे त्वयीधार नहीं फरते । वह यथा समवाय संबंध सो वह सर्वद्यापो है । उसके हारा संबंध
होगा तो सभी का सभी के साथ होगा, न होगा तो किसी के साथ नहीं होगा ।

इसी प्रकार द्रव्य का द्रव्यत्व के साथ, गुण का गुणत्व के साथ, कर्म का कर्मत्व के साथ, द्रव्य
का द्रव्य गुण कर्म सामान्य और विशेष के साथ, पृथ्वीका पृथ्वीत्व के साथ, अप् का अप्त्व के साथ,
तेजस् का तेजस्त्व के साथ, वायु का वायुत्व के साथ तथा आकाश आदि द्रव्यों का अपने-अपने गुणों
के साथ संबंध के विषय में यथायोग्य सब कह लेना चाहिए । सारांश यह है कि जो एकान्ततः
मिथ है, उनका किसी के साथ किसी भी प्रकार सम्बन्ध नहीं हो सकता । इस प्रकार वैद्योगिक दर्शन
में भी विषय की व्यवस्था संगत नहीं होती ।

१३०—शंका—वस्तु को द्रव्य-पर्यायात्मक मानने पर भी असंगति तो कायम रहती ही है ।
स्याद्वादी द्रव्य और पर्याय के एकान्त भेद और अभेद का परित्याग करके कथेचित् भेदाभेद रवीकार
करते हैं । किन्तु वह युक्तिसंगत नहीं है । क्योंकि उसमें विरोध (आठ) दोष उपस्थित होते हैं जो
दोष इस प्रकार हैं—

१—विरोध-विधिनिषेध रूप भेद और अभेद का एक वस्तु में रहना असंभव है । जैसे नील
और अनील का रहना ।

२—वैयधिकरण्य-आगर किसी रूप से भेद और किसी रूप से अभेद कहो तो भेद का अधि-
करण मिथ और अभेद का अधिकरण मिथ होगा । यह वैयधिकरण्य दोष है ।

*१—जो अनुग्रहम् से साध्य हो, वह विरोध कहलाता है जैसे—हिम और आतप का । २—विधिनिषेध
आणारों में वृत्ति होना वैयधिकरण्य (वैयधिकरणता) है । ३—अप्रामाणिक अनन्त पदार्थों की कल्पना करते—
करते कहीं अन्त न आना अनवस्था दोष है । ४—एक साथ दोनों की प्राप्ति होना संकर दोष है । ५—परस्पर
विषयनामन व्यतिकर दोष है । ६—निश्चित अनेक कोटियों का ज्ञान संक्षय है । ७—अप्रसितपति—अशान ।
८—प्रमाण का विषय क्या है—यह निश्चित न होना विषयव्यवहार—हासि दोष है ।

व्यात्मानी भिन्नाभिन्नाकथ्यर्थकान्तवादप्रसवितस्तथा च सत्यनवस्था ३ । येन च रूपेण भेदस्तेन भेदश्चाभेदश्च येन चाभेदस्तेनाध्यभेदश्च भेदश्चेति सङ्कुरः ४ । येन रूपेण भेदस्तेनाभेदो येनाभेदस्तेन भेद इति व्यतिकरः ५ । भेदाभेदात्मकत्वे च वस्तुमो विविक्तेनाकारेण निश्चेतुमशब्दतेः संशयः ६ । ततश्चाप्रतिपत्तिः ७ इति न विषयव्यवस्था ८ । नैवम्; प्रतीयमाने वस्तुनि विरोधस्यासम्भवात् । यत्सञ्ज्ञाने यो नोपलभ्यते स तस्य विरोधीति निश्चीयते । उपलभ्यमाने च वस्तुनि को विरोधगन्धादकाशः? । नीलानीलयोरपि यद्येकत्रोपलभ्योऽस्ति तदा नास्ति विरोधः । एकत्र चित्रपटानाम् सौभाग्यसौनीलिनीलयोविरोधानभ्युपगमात्, योगेश्चैकस्य चित्रस्य रूपस्याभ्युपगमात्, एकस्येव च पटादेश्चलाचलरक्तारक्तावृतानावृतादिविरुद्धधर्मणामुपलब्धेः प्रकृते को विरोधशङ्का—वकाशः? । एतेन वैयाधिकरण्यदोषोऽप्यपास्तः; तयोरेकाधिकरणत्वेन प्रागुक्तयुक्तिदिशा

३—अनवस्था जिस स्वरूप से भेद और जिस स्वरूप से अभेद है । वे दोनों स्वरूप भी भिन्नभिन्न मानने पड़ेंगे । नहीं मानेंगे तो एकान्तवाद का प्रसंग हो जायगा । भिन्नाभिन्न मानने पर अनवस्था दोष होगा । क्योंकि प्रत्येक भेदाभेद के लिए नये-नये स्वरूप की कल्पना करनी पड़ेगी ।

४—संकर—जिस स्वभाव से भेद है उसी स्वभाव से भेद और अभेद भी मानना पड़ेगा और जिस स्वभाव से अभेद है उस स्वभाव से अभेद और भेद भी मानना होगा । इस तरह संकर दोष का प्रसंग आता है ।

५—व्यतिकर—जिस स्वरूप से भेद होता, उसी स्वरूप से अभेद भी होगा और जिस स्वरूप से अभेद है उसी स्वरूप से भेद भी होगा । यह व्यतिकर दोष है ।

६—संशय—वस्तु को भेदाभेदात्मक स्वीकार करनेपर पृथक् रूप से निश्चित करना अवश्य हो जायगा अतएव संशय दोष की प्राप्ति होगी ।

७—अप्रतिपत्ति-संशय होने पर ठीक ज्ञान का अभाव होगा ।

८—विषयव्यवस्थाहानि—ज्ञान का अभाव होने से विषय की व्यवस्था नष्ट हो जाएगी ।

समाधान—स्याद्वाद में इन दोषों के लिए कोई अवकाश नहीं है । प्रतीत होने वाली वस्तु में विरोध होना असंभव है । जिस पदार्थ के होने पर जो पदार्थ उपलब्ध न हो, वह उसका विरोधी है, ऐसा समझा जाता है । मगर उपलब्ध होने वाली वस्तु में विरोध की गंध के लिए कहाँ अवकाश है? नील और अनील में विरोध होने का कारण उनकी एकत्र अनुपलब्धि है । यदि ये दोनों एकत्र उपलब्ध होते तो उनमें भी विरोध न होता । और होने एक ही चित्रपटज्ञान में नील और अनील का विरोध स्वीकार नहीं किया है । योगों ने चित्र रूप को एक ही माना है । एक ही वस्त्र आदि में चलसा, अचलसा, रक्तता, अरक्तता, आवृत्ता, अनावृत्ता आदि परस्पर विरोधी धर्म पाये जाते हैं । तो फिर एक ही वस्तु में द्रव्य-पर्यायरूपता मानने में विरोध की झंका के लिए भी कहाँ अवकाश है? विरोध दोष के परिहार से वैयाधिकरण्य दोष का भी परिहार हो जाता है, क्योंकि द्रव्यपर्याय रूपता एक ही वस्तु में पूर्वोक्त युक्तियों के अनुसार

प्रतीते: । यदप्यनवस्थानं दूषणमुपन्यस्तम् , तदप्यनेकान्तवादिमतानभिज्ञेनैव, तमस्तु हि द्रव्यपर्यात्मके वस्तुनि द्रव्यपर्यात्मके भेदः भेदध्वनिना तयोरेवाभिधानात्, द्रव्यरूपेणाभेदः इति द्रव्यमेवाभेदः एकानेकात्मकत्वाद्वस्तुनः । यौ च सञ्चुरव्यतिकरौ तौ सेवकज्ञाननिदर्शनेन सामान्यविशेषहृष्टान्तेन च परिहृतौ । अथ तत्र तथाप्रतिभासः समाधानम्; परस्यापि तदेवास्तु प्रतिभासस्यापक्षपातित्वात् । निर्णये चार्थे संशयोऽपि न युक्तः, तस्य सकम्पप्रतिपत्तिरूपत्वादकम्पप्रतिपत्तौ दुर्घटत्वात् । प्रतिपत्त्वे च वस्तुन्यप्रतिपत्तिरिति साहसम् । उपलब्ध्यभिधानादनुषलभोडपि न सिद्धस्ततो नाभावः इति हृष्टेष्टाविशद्वं द्रव्यपर्यात्मकं वस्तित्वति ॥३२॥

१३१—ननु द्रव्यपर्यात्मकत्वेऽपि वस्तुनः कथमर्थक्रिया नाम ?। सा हि क्रमा-
(एक ही विज्ञान में अनेक आकारों की प्रतीति आदि के समान) प्रतीत होती है ।

अनेकान्तवाद से अनवस्था वोष वही कहता है जो उससे अनभिज्ञ है । अनेकान्तवादियों का यह तो यह है कि द्रव्यपर्यात्मक वस्तु में 'यह द्रव्य है, यह पर्याय है' इस प्रकार भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा कथन होने से 'द्रव्य-पर्याय' यही भेद है और द्रव्य रूप से अभेद है अर्थात् जब वस्तु को द्रव्य रूप में प्रहृण किया जाता है तो अभेद होता है । इस प्रकार वस्तु एक और अनेक रूप है । (सर्वथा भेदाभेद न होने से अनवस्था को अवकाश नहीं है ।

संकर और व्यतिकर नामक जो दोष बतलाए हैं, उनका परिहार 'मेवकज्ञान' और 'सामान्य-विशेष'अर्थात् अपर-सामान्य से हो जाता है । कदाचित् ऐसा कहा जाय कि मेवकज्ञान आदि में तो अनेकाकारों का प्रतिभास होता है तो यहाँ भी यही समाधान समझना चाहिए, अर्थात् जैसे एक मेवकज्ञान में अनेक आकारों की प्रतीति होने से दोष नहीं है, उसी प्रकार यहाँ अनेकान्तवाद में भी एक वस्तु में अनेक धर्मों की प्रतीति होती है, अलएव दोष नहीं है । क्योंकि प्रतिभास पक्षपाती नहीं होता ।

निर्णये वस्तु में संशय कहना भी अयुक्त है । संशय खलायमान प्रतिपत्तिरूप होता है, अतएव जहाँ निश्चल प्रतिपत्ति हो वहाँ उसके लिए अवकाश नहीं है ।

जो वस्तु प्रतिपक्ष (विज्ञान-प्रमाणसिद्ध) है, उसमें अप्रतिपत्ति दोष बतलाना साहस का ही काम है ।

उपलब्धि के अभिधौत से अनुपलब्धि भी सिद्ध नहीं होती, अतएव विषय-व्यवस्था का अनाव नहीं होता । इस प्रकार वस्तु द्रव्य-पर्यायस्वरूप है, यह तथ्य प्रत्यक्ष और अनुमान से अविद्युत है ॥३२॥

१३२—शंका—वस्तु द्रव्यपर्यायमय हो तो भी उससे अर्थक्रिया कैसे हो सकती है ? अर्थ-
१ पर्वतों वर्णों वाला रल । रमेश्वर आदि अपर सामान्य, सामान्य-विशेष कहलाते हैं । गोजातीय संस्कृत परार्थों में रहने से गोत्व सामान्य है और विजातीय पठारों से व्यानुल होने के कारण विशेष भी है ।

अभ्यास्यां व्याप्ता द्रव्यपर्यायिकान्तबद्धयात्मकाद्यि व्यावर्त्ताम् । ज्ञावं हि बद्धतुमुभ-
यात्मा भावो न क्रमेणार्थक्रियां कर्तुं समर्थः, समर्थस्य क्षेपायोगात् । न च सहका-
र्यपेक्षा युक्ता, द्रव्यस्याविकार्यत्वेन सहकारिकृतोपकारनिरपेक्षत्वात् । पर्यायाणां च
अणिकत्वेन पूर्वपिरकार्यकालाप्रतीक्षणात् । नायक्रमेण, युगषद्वि सर्वकार्याणि कृत्वा
पुनरकुर्वतोऽनर्थक्रियाकारित्वात्सञ्चयम्, कृत्वतः क्रमपक्षभावो दोषः । द्रव्यपर्यायिवा-
दयोइच यो दोषः स उभयवादेऽपि समानः—

“प्रत्येकं यो भवेद्दोषो द्वयोभवि कथं न सः?” इति वचनादित्याह—

पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थितिलक्षणपरिणामेना—
स्यार्थक्रियोपपतिः ॥३३॥

१३२—‘पूर्वोत्तरयोः’ ‘आकारयोः’ विवर्तयोर्यथासङ्गुचेन यो ‘परिहारस्वीकारो’
ताभ्यां स्थितिः सैव ‘लक्षणम्’ यस्य स चासौ परिणामश्च, तेन ‘अस्य’ द्रव्यपर्याया-
त्मकस्यार्थक्रियोपपत्तिः ।

क्रिया क्रम और अक्रम (यौगपद्म) के साथ व्याप्त हैं । वह जैसे एकान्त द्रव्यात्मक और एकान्त
पर्यायात्मक पदार्थ में घटित नहीं होती, उसी प्रकार द्रव्यपर्यायात्मक पदार्थ में भी नहीं घटित
होना चाहिए । कहा जा सकता है कि उपयात्मक पदार्थ क्रम से अर्थक्रिया नहीं कर सकता, क्योंकि
क्रम से करने में कालक्षेप होता है और समर्थ जो होता है, वह कालक्षेप नहीं करता । अगर
सहकारी कारणों की अपेक्षा रखने के कारण क्रम से कार्य करता हो तो भी ठीक नहीं, क्योंकि द्रव्य
में किसी प्रकार का विकार नहीं हो सकता, अतएव उसे सहायक कारणों द्वारा हीने वाले उप-
कार की अपेक्षा नहीं होती और पर्याय अणिक होते हैं, अतएव वे भी आगे-पीछे के कार्यकाल
की प्रतीक्षा नहीं कर सकते ।

द्रव्य-पर्यायात्मक पदार्थ अक्रम से (एक साथ) भी अर्थक्रिया नहीं कर सकता, क्योंकि एक
साथ सब क्रियाएँ कर लेगा तो दूसरे आदि स्थयों में कुछ नहीं करेगा और ऐसी स्थिति में
अर्थक्रियाकारी न होने से असत् हो जाएगा । फिर भी क्रिया करेगा तो पक्ष के दोषों का प्रसंग होगा ।

एकान्त द्रव्यपक्ष (नित्यवाद) में और एकान्त पर्यायपक्ष (अनित्यवाद-क्षणिकघट) में जो
जो दोष आते हैं, वे उपयवाद में समान हैं । क्योंकि ‘एक-एक पक्ष में आने वाले दोष उपय-
पक्ष में कैसे नहीं होंगे?’ अद्यत्य होंगे । इस शंका का समाधान करते हैं—

अर्थ-पूर्व पर्याय का परित्याग, उत्तर पर्याय का उत्पाद और स्थिति अर्थात् ध्रीव्यस्वरूप परि-
ज्ञान से द्रव्य-पर्यायात्मक पदार्थ में अर्थक्रिया संगत होती है ॥३३॥

१३२—द्रव्य-पर्यायात्मक पदार्थ अपने पूर्व-पूर्व के पर्याय को त्यागता रहता है और नवीन
नवीन पर्याय को धारण करता रहता है और द्रव्य रूप से वह ध्रुव भी रहता है । यह उत्पाद
पर्याय और ध्रीव्य ही उसका परिणाम कहलाता है । इस परिणाम के कारण पदार्थ अर्थक्रिया
करता है ।

१३३—अर्थमर्थः—न द्रव्यरूपं न पर्यायरूपं वस्तु, येन तत्त्वत्परभावी दोषः स्यात्, किन्तु स्थित्युत्पादव्याप्तिमकं शब्दलं जात्यन्तरमेव वस्तु । तेन तत्त्वसहकारि-सन्निधाने क्रमेण युगपद्धा तां तामर्थक्रियां कुर्वतः सहकारिकृतां चोपकारपरम्परामुप-जीवतो भिन्नाभिन्नोपकारादिनोदनानुमोदनाप्रमुदितात्मनः उभयपक्षभाविदोषशङ्का-कलङ्काऽकान्विशीकरण्य भावस्य न व्याप्तिकानुपलब्धिबलेनार्थक्रियायाः, नापि तदव्याप्त-सत्त्वस्य निवृत्तिरिति सिद्धं द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु प्रमाणस्य विषयः ॥३३॥

१३४—फलमाह-

फलमर्थप्रकाशः ॥३४॥

१३५—‘प्रमाणस्य’ इति वर्तते, प्रमाणस्य ‘फलम्’ ‘अर्थप्रकाशः’ अर्थसंबोधनम् अर्थार्थी हि सर्वः प्रमातेत्यर्थसंबोधनमेव फलं युक्तम् । नन्वेवं प्रमाणमेव फलत्वेनोक्तं स्यात्, ओमिति चेत् तस्मि प्रमाणफलयोरभेदः स्यात् । ततः किं स्यात्? प्रमाणफल-योरेवये सदसत्यक्षभावी दोषः स्यात्, नासतः करणत्वं न सतः फलत्वम् । सत्यम् अस्त्ययं दोषो जन्मनि न व्यवस्थायाम् । यदाहुः—

१३६—अभिग्राय यह है कि अनेकान्त मत में वस्तु न केवल द्रव्यात्मक है, न केवल पर्याया-त्मक है और न परस्पर भिन्न द्रव्य-पर्यायात्मक है । अनेकान्तपक्ष इन तीनों एकान्त पक्षों से विलक्षण है । अतएव इन पक्षों में आने वाले दोष अनेकान्तपक्ष में लागू नहीं हो सकते । वस्तु वास्तव में स्थिति, उत्पत्ति और व्यय से युक्त एक पृथक्-जातिरूप है । अतएव वह विभिन्न सहकारी कारणों का सम्प्रदान हेतु पर कम से या युगपत् जाना प्रकार की अर्थक्रियाओं को करती है, सहकारी कारणों द्वारा किये जाने वाले उपकारों की सहायता लेती है । कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिग्राय उन उपकारों से उपर्यन्ते सामर्थ्य आता है । अतएव दोनों एकान्त पक्षों में आने वाले दोषों की आदानका के कलंक से वह मुक्त है । इस प्रकार की वस्तु से कम और यौगिकत्व स्वयं व्यापक की अनुपलब्धि के कारण अर्थक्रिया का और अर्थक्रिया के व्याप्ति सम्बन्ध का अभाव नहीं होता है ।

इस प्रकार द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु ही प्रमाण का विषय है, यह सिद्ध हुआ ॥३३॥

१३४—प्रमाण का फल—(अर्थ)—प्रमाण का फल अर्थ का प्रकाश होता है ॥३४॥

१३५—‘प्रमाण’ की अनुवृत्ति है, अतः प्रमाण का फल अर्थ का ज्ञान होता है । सभी प्रमाणात्मक-क्रिया में समर्थ वस्तु की ही जानने के इच्छुक होते हैं अतएव ऐसे परार्थ का ज्ञान ही प्रमाण का फल होता चाहिए । शंका-ज्ञान ही प्रमाण है और ज्ञान को ही फल माना है, यह तो प्रमाण को ही फल मानता कहलाया । समाधान-हीं, कहलाया । शंका-तो प्रमाण और फल में भेद नहीं रहा । समाधान-नहीं रहा तो क्या होगया?

शंका-सदसत्यपक्षभावी दोष हो गया । यदि प्रमाण असत् होगा तो वह कार्य-फल का करण नहीं हो सकेगा और यदि सत् माना जाएगा तो उसे फल कार्य नहीं कहा जा सकता । समाधान-ठीक है, उत्पत्ति में यह दोष होता है, व्यवस्था में नहीं । कहा भी है-

“नासतो हेतुता नापि सतो हेतोः फलात्मता ।

इति जन्मनि दोषः स्याद् व्यवस्था तु न दोषभाग् ॥” इति ॥३४॥

१३६—व्यवस्थामेव दर्शयति-

कर्मस्था क्रिया ॥३५॥

१३७—कर्मान्त्मुखो ज्ञानव्यापारः फलम् ॥३५॥

१३८—प्रमाणं किमित्याह-

कर्तृस्था प्रमाणम् ॥३६॥

१३९—कर्तृव्यापारमुलिखन् बोधः प्रमाणम् ॥३६॥

१४०—कथमस्य प्रमाणत्वम् ?। करणं हि तत् साधकतम् च करणमुच्यते ।
अव्यवहितफलं च तदित्याह-

तरयां सत्यामर्थप्रकाशसिद्धेः ॥३७॥

१४१—‘तस्याम्, इति कर्तृस्थायां प्रमाणरूपायां क्रियायां ‘सत्याम्’ ‘अर्थप्रकाशस्य’ फलस्य ‘सिद्धेः’ व्यवस्थापनात् । एकज्ञानगतत्वेन प्रमाणफलयोरभेदो, व्यवस्था-

‘जो असत् अर्थात् अविद्यमान होता है, वह करण नहीं हो सकता और सत् होता है वह कार्य नहीं हो सकता । तात्पर्य यह है कि यदि प्रमाण और फल अभिन्न हैं तो यह प्रबन्ध-उत्पत्ति होता है कि प्रमाण सत् माना जाय या असत् ? यदि सत् है तो उससे अभिन्न होने के कारण फल को भी सत् मानना पड़ेगा । जब फल भी सत् है तो प्रमाण से उसकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? और यदि प्रमाण स्वयं असत् है तो फल में उसे करण नहीं कहा जा सकता । अतः यह दोष उत्पत्ति में होता है, व्यवस्था भेदे यह दोष काम् नहीं होता’ ॥३४॥

१३६—व्यवस्था का उपदर्शन—(सूत्रार्थ)—कर्म में स्थित क्रिया कहलाती है ॥३५॥

१३७—कर्म की ओर उल्मुख ज्ञान-व्यापार फल कहलाता है

१३८—प्रमाण क्या है ? (सूत्रार्थ)—कर्ता में स्थित क्रिया प्रमाण है ।

१३९—कर्ता के व्यापार का उल्लेख करता हुआ बोध प्रमाण कहलाता है ।

१४०—यह प्रमाण क्यों है ? इसका उत्तर यह है कि वह करण है और करण साधकतम होता है । बिना कालव्यवधान के तत्काल उससे कार्य को उत्पत्ति होती है । यही बात आगे कहते हैं—

(सूत्रार्थ)—कर्तृस्थ क्रिया के होने पर अर्थप्रकाश की सिद्धि होती है ॥३७॥

१४१—प्रमाणरूप कर्तृस्थ क्रिया के होने पर अर्थप्रकाश की सिद्धि होती है । इस प्रकार प्रमाण और फल एक ही ज्ञानगत होने से अभिन्न हैं, किन्तु व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक के भेद से भिन्न भी हैं । तात्पर्य यह है कि क्रिया कर्म और कर्ता दोनों में रहती है । यही अपि क्रिया कर्म में रहने से फल है और कर्ता में रहने से प्रमाण है । किन्तु अस्तुतः क्रिया एक है और वही प्रमाण तथा फल है । उस अपेक्षा से प्रमाण और फल में अमेव होने पर भी प्रमाण व्यवस्थापक

प्यव्यवस्थापकभावात् भेद इति भेदाभेदरूपः स्याद्वादमधाधितमनुपत्तिं प्रमाणफल-
भाव इतीदमखिलप्रमाणसाधारणमव्यवहितं फलमुक्तम् ॥३७॥

१४२—अव्यवहितमेव फलान्तरमाह-

अज्ञाननिवृत्तिर्वा ॥३८॥

१४३—प्रमाणप्रवृत्तेः पूर्वं प्रमानुविवक्षिते विषये यत् 'अज्ञानम्' तस्य निवृत्तिः'
फलमित्यन्ये । यदाहुः-

‘प्रमाणस्य फलं साक्षादज्ञानविनिदर्तनम् ।

केवलस्य सुखोपेक्षे शेषस्यादानहानधीः ॥”[न्याया २८]इति ॥३८॥

१४४—व्यवहितमाह-

अवग्रहादीनां वा क्रमोपजनधर्माणां पूर्वं पूर्वं प्रमाण- सुखानुकारं फलम् ॥३९॥

१४५—अवग्रहेहाबायधारणाद्भूतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानानां क्रमेणोपजायमानानां
यथात् पूर्वं तत्तत्प्रमाणं पद्यद्वृत्तरं तत्तत्फलरूपं प्रतिपलव्यम् । अवग्रहपरिणामवान् ह्यात्मा
ईहारूपफलतया परिणमति इतीहाफलापेक्षया अवग्रहः प्रमाणम् । ततोऽपीहा प्रमाण-
भवायः फलम् । पुनर्बायः प्रमाणं धारणा फलम् । ईहाधारणयोज्ञनिषेदानान्तरात्
ज्ञानरूपतोन्नेया । ततो धारणा प्रमाणं स्मृतिः फलम् । ततोऽपि स्मृतिः प्रमाणं प्रत्य-
और फल व्यवस्थाप्य हैं, इस अपेक्षा से दोनों में भेद भी है । अतएव प्रमाण और फल में भेदभाव
रूप स्याद्वाद लागू होता है । यह सभी प्रमाणों का सामान्य साक्षात् फल कहा गया है ॥३९॥

१४२—दूसरा साक्षात् फल—(सूचार्थ) अथवा—अज्ञान की निवृत्ति फल है ॥३८॥

१४३—प्रमाण की प्रवृत्ति होने से पहले प्रमाना को किसी विषय में जो अज्ञान होता है,
उसका दूर हो जाना प्रमाण का फल है । यहा भी है-

‘प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान का निवारण ही जाना है । एवस्वर फल केवलज्ञान
का सुख और उपेक्षाभाव होना है और शेष प्रमाणों का ग्रहणद्वितीयता स्थाय द्वितीय होना है’ ॥३८

व्यवहित का निरूपण—(सूचार्थ) क्रम से उत्पन्न के स्वभाव वाले अवग्रह आदि में से पूर्व-पूर्व
के प्रमाण और उत्तर-उत्तर वाले फल हैं ॥३९॥

१४५—अवग्रह ईहा, अबाय, धारणा स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, झह (तर्क) और अनुमान यह ज्ञान क्रम
से उत्पन्न होते हैं, अत्रात् पहले अवग्रह, फिर ईहा, फिर अबाय आदि होते हैं । इनमें पहले-पहले
वाला ज्ञान प्रमाण और आगे-आगे वाला उसका फल है । जो आत्मा पहले अवग्रहपर्याय से युक्त
होता है, वही ईहारूप फल से युक्त होता है । अतएव अवग्रह प्रमाण और ईहा उसका फल है,
तत्पञ्चात् ईहा प्रमाण और अबाय उसका फल है, पुनः अबाय प्रमाण और धारणा उसका फल
है, फिर धारणा प्रमाण और स्मृति उसका फल है, इसी प्रकार स्मृति प्रमाण और प्रत्यभिज्ञान

भिज्ञानं फलम् । ततोऽपि प्रत्यभिज्ञा प्रमाणमूहः फलम् । ततोऽप्युहः प्रमाणमनुमानं कलमिति प्रमाणफलविभाग इति ॥३९॥

१४६-फलान्तरमाह-

हानादिबुद्धयो वा ॥४०॥

१४७-हानोपादानोपेक्षाबुद्धयो वा प्रमाणस्य फलम् । फलबहुत्वप्रतिपादनं सर्वे-यां फलत्वेन न विरोधो वैशक्षिकत्वात् फलस्येति प्रविपादनार्थम् ॥४०॥

१४८-एकान्तभिन्नाभिन्नफलवादिभतपरीक्षार्थमाह-

प्रमाणाद्विन्नाभिन्नम् ॥४१॥

१४९-करणरूपत्वात् क्रियारूपस्त्राच्च प्रमाणफलयोर्भेदः । अभेदे प्रमाणफल-भेदव्यवहारानुपपत्तेः प्रमाणमेव वा फलमेव वा भवेत् । अप्रमाणाद्व्यावृत्या प्रमाण-व्यवहारः, अफलाद्व्यावृत्या च फलव्यवहारो भविष्यतीति चेत्; नैवम्; एवं सति प्रमाणान्तराद्व्यावृत्याऽप्रमाणव्यवहारः, फलान्तराद्व्यावृत्याऽफलव्यवहारोऽप्यस्तु, विजातीयादिव उजातीयादपि व्यावृत्तत्वाद्वस्तुनः ।

उसका फल है, फिर प्रत्यभिज्ञान प्रमाण और उह उसका फल है और उह प्रमाण तथा अनुमान उसका फल है । इस प्रकार प्रमाण और उसके फल का विभाग समझ लेना चाहिए ॥३९॥

१४६-अन्य फल बतलाते हैं (सूत्रार्थ)-अथवा हानबुद्धि आदि फल हैं ॥४०॥

१४७-अथवा हानबुद्धि-त्याग करने की बुद्धि, अहुण करने की बुद्धि और उपेक्षा बुद्धि प्रेमाण का फल है । यहाँ अनेक फलों का जो प्रतिपादन किया है, वह इसलिए कि इन सब के फल होने में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि फल प्रमाणता की इच्छा के अनुसार होता है ॥४०॥

१४८-प्रथम से फल को एकान्त भिन्न या एकान्त अभिन्न कहने वाले भत की पदीका-(सूत्रार्थ- प्रमाण का फल प्रमाण से भिन्न और अभिन्न है ॥४१॥

१४९-प्रमाण करण है और फल क्रिया है, अतएव दोनों में भिन्नता भी है । एकान्त अभेद भावा जाय तो 'प्रमाण और फल' इस प्रकार के भेद का व्यवहार नहीं हो सकेगा । या तो प्रमाण ही होगा या अकेला फल ही ।

शंका--दोनों में अभिन्नता होने पर भी अप्रमाण की व्यावृत्ति से प्रमाण का और अफल की व्यावृत्ति से फल का व्यवहार हो सकता है .*

राधाधान-यह चान्यता ठीक नहीं । प्रत्येक वस्तु जैसे विजातीय पदार्थों से भिन्न होती है, उसी प्रकार सजातीयों से भी भिन्न होती है । अतएव जैसे अप्रमाण से व्यावृत्त होने से 'प्रमाण की' कल्पना करते हो, उसी प्रकार प्रमाणान्तर (दूसरे प्रमाण) से व्यावृत्त होने के कारण भी

*(यह बीड़ों की मान्यता है । बीड़ अन्यव्यावृत्ति को प्रब्ध का अर्थ मानते हैं । उनके मतानुसार 'यो का अर्थ गलवालवाला चीपांया पशु नहीं किन्तु जो 'अगो' से भिन्न हो, वह यो' है । इसी प्रकार जो अप्रमाण न ही सी प्रमाण और अफल न ही सो फल, ऐसा व्यवहार एक ही वस्तु में माना जाता है ।)

१५०—तथा, तस्येवात्मनः प्रमाणाकारेण परिणतिस्तस्यैव फलरूपतया परिणाम इत्येकाद्यमहारोक्षया प्रमाणफलरूपेरभेदः । भेदे त्यात्मान्तरवत्तदनुपपत्तिः । अथ यत्रैवात्मनि प्रमाणं समवेतं फलमपि तत्रैव समवेतमिति समवायलक्षणया प्रत्यासस्या प्रमाणफलव्यवस्थितिरिति नात्मान्तरे तत्प्रसङ्गः इति चेत्; न; समवायस्य नित्यत्वाद् व्याप्तिकत्वान्तिरितात्मवत्सर्वात्मस्वप्यविशेषान्न ततो नियतप्रमातृसम्बन्धप्रतिनियमः तत् सिद्धमेतत् प्रमाणात्मकलं कथचिच्छिद्वन्नमभिन्नं चेति ॥ ४१ ॥

१५१—प्रमातारं लक्ष्यति-

स्वपराभासी परिणाम्यात्मा प्रमाता ॥४२॥

१५२—स्वम् आत्मानं परं चार्थमाभासयितुं शीलं यस्य स 'स्वपराभासी' स्वोन्मुखतयाऽर्थोन्मुखतया चावभासनात् घटमहं जानामीति कर्मकर्तृक्षियाणां प्रतीतेः 'अप्रमाण' की कल्पना करनी पड़ेगी । इसी प्रकार फलान्तर से व्यावृत्त होने के कारण फल को भी 'अफल' मानना पड़ेगा । अतएव प्रमाण और फल में भेद मानना चाहिए ।

१५०—तथा, उसी आत्मा का प्रमाण के रूप में परिणमन होता है और उसी आत्मा का फल के रूप में परिणाम होता है । इस प्रकार एक ही प्रमाता की अपेक्षा से प्रमाण और फल में अन्वेद भी है ।

(बैशोधिकमत के अनुसार) प्रमाण और फल का सर्वथा भेद माना जाय तो जैसे देवदत्त की आत्मा में उत्पन्न हीने वाला फल जिनदस का नहीं कहलाता, उसी प्रकार वह देवदत्त का भी नहीं कहलाएगा । (क्योंकि वह जिनदस की तरह देवदत्त से भी अभिन्न है ।) अतः प्रमाण-फल की कोई व्यवस्था नहीं होगी ।

शंका—जिस आत्मा में प्रमाण समवाय संबंध से रहता है, उसी आत्मा में फल का भी समवाय होता है; अतएव समवाय सम्बन्ध से प्रमाण और उसके फल की व्यवस्था हो जाती है । वह फल किसी दूसरी आत्मा का नहीं हो सकता, क्योंकि दूसरी आत्मा में वह समवाय संबंध से नहीं रहता है । समाधान—समवाय संबंध से ऐसी व्यवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि समवाय को आपने नित्य और सर्वव्यापी माना है । वह किसी भी एक आत्मा के समान सभी आत्माओं में समान है, अतएव कोई फल अनुक आत्मा का ही है, यह निमय उससे बन नहीं सकता । अतएव यह सिद्ध हुआ कि प्रमाण का फल उपमाण से भिन्न है और अभिन्न भी है ॥ ४२ ॥

१५१—प्रमाता का लक्षण—

(सुत्रार्थ—स्व और पर को जानने वाला तथा परिणमनशील आत्मा प्रमाता है ॥४२॥)

१५२—जिसका स्वभाव अपने स्वरूप को तथा पर-प्रवार्थ को जानना है, वह 'स्वपराभासी' कहलाता है । जान स्वोन्मुख-अपनी और शुका हुआ और अर्थोन्मुख प्रतीत होता है । 'मैं घट को जानता हूँ' इस प्रकार की जो प्रतीत होती है, उसमें कर्म (घट) कर्ता (मैं-अहम्) और क्षिया (जानता हूँ), इन सबका बोध होता है । इनमें से किसी भी एक के बोध का निषेध करने में

अन्यतरप्रतीत्यपलापे प्रमाणाभावात् । न च परप्रकाशकत्वेन विरोधः प्रदीपत् । नहि प्रदीपः स्वप्रकाशे परमपेक्षते । अनेनैकान्तस्वाभासिपराभासिवादिभत्तिरासः । स्वप्राभास्येव 'आत्मा प्रमाता' ।

१५३—तथा, परिणाम उक्तलक्षणः स विद्यते यस्य स 'परिणामी' । कूटस्थनित्ये ह्यात्मनि हर्षविषादसुखदुःखभोगादयो विवर्तः प्रबृत्तिनिवृत्तिधरणी न वर्तेरन् । एकान्तनाशिनि च कृतनाशाकृताभ्यागमी स्याताम् ,स्मृतिप्रत्यभिज्ञाननिहितप्रत्युत्तमागणप्रभृतयश्च प्रतिप्राणिप्रतीता व्यवहारा विशीर्णेरन् । परिणामिनि तृत्यादव्ययधौर्यधर्मिण्यात्मनि सर्वमुपपद्धते । यदाहुः—

"यथाहे: कुण्डलावस्था व्यपीति तदनन्तरम् ।

सम्भवत्यार्जवस्था सर्वत्वं त्वनुवर्तते ॥

तथैव नित्यचैतन्यस्थलप्रस्यात्मनोऽहं ए ॥

निःशेषरूपविगमः सर्वस्यानुगमोऽपि वा ॥

कोई प्रमाण-हेतु नहीं है । अर्थात् आहन जैसे घट और 'म' इप कर्ता को जानता है, उसी प्रकार 'जानता हूँ' इस क्रिया को भी जानता है । यहाँ जानने को जानना ही स्वप्रकाश या स्वसंवेदन कहलाता है । स्वप्रकाशत्व के साथ परप्रकाशकत्व का कोई विरोध नहीं है । दोषक स्वप्रकाशक होने के साथ परप्रकाशक भी है । उसे प्रकाशित करने के लिए दूसरे दोषक की अपेक्षा नहीं होती । इस कथन से आत्मा एकान्ततः स्वाभावी ही है अथवा पराभावी ही है इन दोनों मतों का निरास है जाता है । इस प्रकार स्वप्न्यरवस्थासी आत्मा प्रमाता है ।

१५३- परिणाम का लक्षण पहले कहा जा चका है—उत्पाद, व्यय और धौर्यमयता; वह जिसमें पाया जाय उसे परिणामी कहते हैं । आत्मा परिणामी है । यदि उसे कूटस्थनित्य माना जाय तो उसमें हर्ष विषाद, दुःख तथा दुःख का भोग आदि पर्याप्ति और प्रबृत्ति-निवृत्ति आदि शर्म घटित नहीं होते । इसके विपरीत यदि एकान्त अविनिश्चर मानें तो किये हुए कर्मों के फल का भोग नहीं करने का और अकृत कर्मों के फलयोग का प्रसंग आएगा । अर्थात् आत्मा को एकान्त अश्चर मानें तो कर्म करते ही उसका विनाश हो जाएगा और ऐसी स्थिति में वह उसका फल नहीं भोग सकेगा । तत्प्रच्छात् उस कर्म का जो फल भोगेगा, वह कोई दूसरा ही आत्मा होगा जिसने वह कर्म नहीं किया था । उपके अतिरिक्त स्परण, प्रत्यभिज्ञान का तथा रक्षणी हुई वस्तु की बाद में तलाश करने आदि व्यवहारों का भी, जो प्रत्येक प्राणी को प्रतीत हो रहे हैं, अमाव हो जायेगा । यदि आत्मा को परिणामी अर्थात् उत्पाद-व्यय-धौर्य रूप (कर्मचित् नित्यानित्य) धारा लिया जाय तो उल्लिखित सभी बातें संगत हो जाती हैं । कहा भी है—

'जैसे सर्व को कुण्डलावस्था मिटती है, तदनन्तर सरलता (सोधायत) अवस्था उत्पन्न होती है और सर्वत्व दोनों अवस्थाओं में ज्यें का त्यों कायम रहता है—

इसी प्रकार नित्य चैतन्यरवरूप आत्मा के रस्पूर्ण हृद का न तो विनाश होता है और न वह पूरा का कायम रहता है ।

कि त्वस्य विनिवर्तने सुखदुःखादिलक्षणाः ।
अवस्थास्ताश्च जायन्ते चैतन्यं त्वनुवर्तते ॥
स्यातामत्यन्तनाशो हि कृतनाशाकृतागमौ ।
सुखदुःखादिभोगश्च नैव स्यादेकरूपिणः ॥
न च कर्तृत्वभोवसृत्वे पुंसोऽवस्थां समाधिते ।

ततोऽवस्थावतस्तत्त्वात् कर्तृवाप्नोति तत्कलम् ॥” [तत्त्वम् ० का ० १२३-१२७]

इति अनेनैकान्तनित्यानित्यवादव्युदासः । ‘आत्मा’ इत्यनात्मवादिनो व्युदस्यति । काय-
प्रमाणता त्वात्मनः प्रकृतानुपयोगान्तोऽतेति सुस्थितं प्रमातृलक्षणम् ॥४२॥

इत्याचार्यभीष्मचन्द्रविरचिताद्यः प्रमाणमीमांसायास्तद्वृत्तेश्च
प्रथमस्थाध्यागस्य प्रथममाहितकम्

किन्तु आत्मा की सुख-दुःख आदि अवस्थाएँ नष्ट होती रहती हैं और उत्पन्न होती रहती हैं; लगर चैतन्य ज्यों का स्थों स्थिर बना रहता है।

आत्मा को एकान्त विनाशशील मान लिया जाय तो कृतकर्मप्रणाश (किये कर्म का फल न भोगना) और अकृतकर्मणम् (दिनां किये कर्मों का फल भोगना) खोजों का प्रसंग होता है। परं आत्मा को एकान्त नित्य माना जाय तो सुख-दुःख आदि विविध प्रकार के पथज्यों का होना संघर्ष नहीं है।

कर्तृत्व और भोवतृत्व आत्मा में नहीं होते, उसकी अवस्थाओं में होते हैं, यह कल्पना संगत नहीं; क्योंकि अवस्थाओं से अवस्थावान् भिन्न नहीं है। दोनों में कथचित् अभेद है। असाध्य कर्म का कर्ता ही उसका फल भोगता है।

इस कथन के द्वारा आत्मा के एकान्त नित्यत्व और एकान्त अनित्यत्व का निराकरण किया गया है। ‘आत्मा’ शब्द के प्रयोग से अनात्मवाद का विरोध किया गया है। आत्मा शारीरपरिमित है, यह कर्त प्रकृत में उपयोगी न होने से नहीं कही गई है।

यह प्रमाण की लक्षण सिद्ध हुआ ॥४२॥

इस प्रकार आचार्य श्री हेमचन्द्रद्वारा विरचित प्रमाणमीमांसा और उसकी वृत्तिके प्रथम अध्याय का प्रथम आहितक पूर्ण हुआ।

॥ अथ द्वितीयमाहिनकम् ॥

१-इहोद्विष्टे प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणे प्रमाणद्वये लक्षितं प्रत्यक्षम् । इदानीं परोक्ष-
लक्षणमाह-

अविशदः परोक्षम् ॥१॥

२-सामान्यलक्षणानुबादेन विशेषलक्षणविधानात् 'सम्यगर्थनिर्णयः' इत्यनुबृत्तेते
तेनाविशदः सम्यगर्थनिर्णयः परोक्षप्रमाणमिति ॥१॥

३-विभागमाह-

स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानुमानागमास्तद्विवधयः ॥२॥

४-'तद्' इति परोक्षस्य परामर्शत्तेन परोक्षस्येते प्रकारा न तु स्वतन्त्राणि
प्रमाणान्तराणि प्रकान्तप्रमाणसम्बुद्धविधातप्रसङ्गात् ।

परोक्ष प्रमाण-

१-प्रत्यक्ष और परोक्ष, हम दो प्रयाणी का नामेलेख किया गया था, उसमें से प्रत्यक्ष
का लक्षण बतलाया जा सका है, अब परोक्ष प्रमाण का स्वरूप कहते हैं-

परोक्ष का स्वरूप - सूचार्थ-अविशद सम्यगर्थनिर्णय परोक्ष है ॥१॥

२- सामान्य लक्षण की अनुबृति करके ही विशेष लक्षण का विधान किया जाता है, अस-
द्वय 'सम्यगर्थनिर्णय' इस पद की यही अनुबृति है। इस कारण यदार्थ को जो सम्यक् निर्णय
अविशद हो अर्थात् जिस जान में 'इदम्'रूप का प्रतिभास न हो अथवा जिसकी उत्पत्ति में सूतरे
प्रमाण की अपेक्षा हो एह परोक्ष प्रमाण कहलाता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष की तरह परोक्ष
प्रमाण मी सम्यक् निर्णयरूप होता है, किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण विशद होता है जब कि परोक्ष में
विज्ञादसा नहीं होती, यही दोनों के स्वरूप में अन्तर है ॥१॥

३-परोक्ष के भेद-(सूचार्थ)-स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, ऊह, अनुमान और आगम, यह परोक्ष
प्रमाण के पाँच भेद हैं ॥२॥

४-सूच में गृहीत 'तत्' शब्द से 'परोक्ष' का ग्रहण किया गया है। इससे यह सिद्ध किया
जाता है कि स्मृति आदि परोक्ष के ही प्रकार हैं—स्वतन्त्र प्रमाण नहीं हैं। इन्हें स्वतन्त्र प्रमाण
मान लिया जाय तो प्रमाण के दो भेद कहे हैं, उसमें बाधा होगी।

५—ननु स्वतन्त्राण्येव स्मृत्यादीनि प्रमाणानि कि नोच्यन्ते? , किमनेन इविद्
मण्डकभक्षणन्यायेन? । मैथं वोचः, परोक्षलक्षणसङ्गृहीतानि परोक्षप्रमाणान्म विभेद-
वतीनि; यथेष्व हि प्रत्यक्षलक्षणसङ्गृहीतानीन्द्रियज्ञान-मानस-स्वसंबेदन-योगिज्ञानानि
सौगतानां न प्रत्यक्षादतिरिच्यन्ते, तथेष्व हि परोक्षलक्षणाक्षिप्तानि स्मृत्यादीनि न
मूलप्रमाणसङ्घापरिपन्थीनीति । स्मृत्यादीनां पञ्चानां छन्दः ॥५॥

६—तत्र स्मृतिं लक्षयति-

वासनोद्बोधहेतुका तदित्याकारा स्मृतिः ॥३॥

७—‘वासना संस्कारस्तस्या: ‘उद्बोधः’ प्रबोधस्तद्वेतुका तद्विवरणन्धना’

“कालभसंखं संखं च धारणा होइ नायब्बा”[विशेषा ०गा० २३३]

इति वासनाचिवरकालस्थायिन्यपि वासनाऽनुद्वृद्धा न स्मृतिहेतुः, आवरणक्षयोपशाम—
सहशरदर्शनादिसामग्रीलब्धप्रबोधा तु स्मृतिं जनयतीति ‘वासनोद्बोधहेतुका’ इत्युक्तम् ।
अस्या उल्लेखमाह ‘तदित्याकारा’ सामान्येष्वतौ नपुंसकनिर्देशस्तेन स घटः, तसा पटी
तत् कुण्डलमित्युल्लेखवत्ते मतिः स्मृतिः ।

५—शंका—स्मृति आदि को स्वतंत्र ही प्रमाण क्यों नहीं कहते? इस द्विषष्ठमण्डकभक्षण
न्याय को चरितार्थ करने से क्या लाभ? अर्थात् सबको गहुमगहु—सेलभेल क्यों करते हैं? समाधान—ऐसा न कहो। जो प्रमाण परोक्ष के लक्षण में अन्तर्गत हो जाते हैं, वे परोक्ष से पृथक्
नहीं हो सकते। जैसे बौद्धमत के अनुसार इन्द्रियज्ञान, मानसज्ञान, स्वसंबेदन और योगिज्ञान—
प्रत्यक्ष के लक्षण में संगृहीत होने से प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं हैं, इसी प्रकार स्मृति आदि परोक्ष के
लक्षण में अन्तर्गत हो जाते हैं। अतएव प्रमाण के भूल दो भेदों में ये बाधक नहीं हैं। स्मृति
आदि पाँचों पदों में छन्द समाप्त है ॥२॥

६—स्मृति का स्वरूप—(सूत्रार्थ)—वासना की जागृति जिसमें कारण हो और ‘वह’ ऐसा
जिसका आकार हो, वह ज्ञान स्मृति है ॥३॥

७—स्मृतिज्ञान वासना अर्थात् धारणानामक संस्कार से उत्पन्न होता है । विशेषावश्यक—
स्वाध्य में कहा है—‘धारणा असंख्यात या संख्यात वाली तक रहती है’ इस कथन के अनुसार
विशेषावश्यक तक स्वाध्यी रहने वाली वासना भी यवि जागृत न हो तो उससे स्मृति की उत्पत्तिनहीं
हो सकती । आवरण के क्षयोपशाम तथा सहश वदार्थ के वर्णन आदि कारणों से जब वासना उत्प-
न्न होती है, तभी वह स्मृति को उत्पन्न करती है । अतएव उसे वासना की जागृति से उत्पन्न
होने वाली कहा है । ‘तत्’ अर्थात् ‘वह’ ऐसा स्मृति ज्ञान का आकार होता है । सामान्य की
विवक्षा से ‘तत्’ इस नपुंसकलिंग का प्रयोग किया गया है । उससे ‘वह घट’ ‘वह पटी’ और ‘वह
कुण्डल’ इस प्रकार का उल्लेख करने वाली सब बुद्धियों को स्मृति समाना चाहिए ।

८—सा च प्रमाणम् अविसंबादित्वात् स्वयं निहितप्रत्यन्व्यार्थणादिव्यवहाराणां
वर्णनात् । अन्यनुभूयमानस्य विवरत्याभावत्प्रिरङ्गवद् । स्मृतिः कथं प्रमाणम् ? ।
नैवम् अनुभूतेत् येन सालम्बनत्वोपपत्तेः, अन्यथा प्रत्यक्षस्याप्यनुभूतार्थविषयत्वादप्रा-
माण्यं प्रसज्येत् । स्वविषयावभासनं स्मृतेरप्यविशिष्टम् । विनष्टो विषयः कथं स्मृते-
जनकः ?, स्थाचौर्थजन्यत्वान्न प्रमाण्यस्या इति चेत्; हत् कि प्रमाणान्तरेऽप्यर्थजन्य-
त्वमविसंबादहेतुरिति विप्रलब्धोऽसि? । मैथं मुहुः, यथेव हि प्रदीपः स्वसामभीबलल-
ब्धजन्मा घटादिभिरजनितोऽपि तान् प्रकाशयति तथेवावरणक्षयोपशमसव्यपेक्षेन्द्रिया-
निन्द्रियबलदध्यजन्म संवेदनं विषयमदभासयति । “मामनुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणम्
नाकारणं विषयः” इति तु प्रलापमात्रम्, योगिज्ञानस्यातीतानागतार्थगोचररय तदंज-
न्यस्यापि प्रामाण्यं प्रति विप्रतिपत्तेरभावात् । किंच, स्मृतेरप्रामाण्येऽनुभानाय वत्तो

८—स्मृति प्रमाण है, क्योंकि वह अविसंबादक है अर्थात् सफल क्रियाजनक है । उसके
अविसंबादक होने का कारण यह है कि स्वयं रक्खी हुई वस्तु की स्मृति के आधार पर तलाश
करने आदि व्यवहारों में कोई गड़बड़ नहीं होती ।

शंका—स्मृति का विषय अनुभूयमान---वर्तमान में अनुभव किया जाता हुआ-नहीं होता
(पूर्वानुभूत पदार्थ को ही स्मृति जानती है जिसकी कोई सत्ता नहीं रहती) अतएव वह निर्विषय
होने के कारण किसे प्रमाण हो सकती है ? समाधान--ऐसा न कहिए । स्मृति का विषय अनुभूत
पदार्थ हेता है, अतएव वह निर्विषय नहीं-सविषय ही है । अनुभूत विषय होने पर भी यदि
स्मृति को निर्विषय कह कर अप्रसाण मानते हो तो प्रत्यक्ष सी जब अनुभूत पदार्थ को विषय
करता है तब अप्रमाण हो जाता चाहिए । कदाचित् कहो कि अपने विषयों को जानने के कारण
प्रत्यक्ष तो प्रमाण ही है, तो यहो बात स्मृति के विषय में भी समझ लेनी चाहिए ।

शंका—जो विषय संबंध नहीं हो चुका है, वह स्मृति का जनक किसे हो सकता है ? अतएव
अर्थजन्य न होने के कारण स्मृति प्रमाण नहीं है । समाधान-क्या इस ध्येये में हो कि पदार्थ से
उत्पन्न होने के कारण ज्ञान अविसंबादक (और प्रमाण) होता है ! आपको इस भ्रम में नहीं
रहना चाहिए । दीपक लेल, बत्ती आदि अपने कारणों से उत्पन्न होता है, घट आदि से
उत्पन्न नहीं होता, फिर भी धड़ आदि को प्रकाशित करता है । इसी प्रकार व्यावरणक्षयोपशम-
सापेक्ष इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान (अर्थजनित न होने पर भी)
पदार्थ को प्रकाशित करता है ।

‘अन्यथ और अतिरिक्त के विभाव कारणकारणाव नहीं होता और जो ज्ञान का कारण नहीं
होता वह ज्ञान का विषय सी नहीं होता’ द्वीढ़ों का यह कथन प्रलापमात्र है । योगियों का ज्ञान
भूतकालीन (विनष्ट) और भविष्यत्कालीन (अनुग्रह) पदार्थों को जानता है, यद्यपि उनसे
उत्पन्न नहीं होता; फिर भी उसकी प्रमाणता के संबंध में कोई विवाद नहीं है । स्मृति को यदि
प्रमाण नहीं माना जाएगा तो अनुमान की प्रमाणता का भी परिवर्तन करना पड़ेगा । व्यापित

जलाञ्जलिः, तथा व्याप्तेरविवयीकरणे तद्बुत्पानायोगात् ; लिङ्ग-प्रहण-सम्बन्धस्मरण-पूर्वकमनुमानमिति हि सर्ववादिसिद्धम् । ततश्च स्मृतिः प्रमाणम्, अनुमानप्रामाण्यान्यथानुपपत्तेरिति सिद्धम् ॥३॥

९—अथ प्रत्यभिज्ञानं लक्षणति-

दर्शनस्मरणस्य तदेवेदं तत्संदर्शं तदविलक्षणं तत्प्रति-
योगीत्यादिसंकलनं प्रत्यभिज्ञानम् ॥४॥

१०—‘दर्शनम्’ प्रत्यक्षम्, ‘स्मरणम्’ स्मृतिस्ताम्यां सम्भवो यस्य तत्तथा दर्शन-स्मरणकरणकं सङ्कलनाज्ञानं ‘प्रत्यभिज्ञानम्’ । तस्योल्लेखमाह—‘तदेवेदम्, सामान्यमिदैश्चेत नपुंसकर्त्वम्, स एवायं घटः, संबोधं पटी, तदेवेदं कुण्डमिति । ‘तत्सहृष्टः’ गोप-हृष्टो गवयः, ‘तद्विलक्षणः’ गोविलक्षणो महिषः, ‘तत्प्रतियोगि’ इवमस्मादल्पं महत् दूरमासनं वेत्यादि । ‘आदि’ ग्रहणात्-

“रोमशो दन्तुरः इयामो वामनः पृथुलोचनः ।

यस्तत्र चिपिटद्वाणस्तं चैत्रमवधारये ॥” [न्यायम् प० १४३]

का स्मरण होने पर ही अनुमान उत्पन्न होता है, परि व्याप्ति का स्मरण नहीं है तो उसके आधार पर उत्पन्न होने वाला अनुमान भी कैसे प्रमाण हो सकेगा ? यह सिद्धान्त सर्व वादियों को मान्य है कि साधन के ग्रहण से और अविनामाव (व्याप्ति) के स्मरण से ही अनुमान की उत्पत्ति होती है । इससे सिद्ध है कि स्मृति प्रमाण है, अन्यथा अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता ॥५॥

१०—प्रत्यभिज्ञान का लक्षण - (सूत्रार्थ)- प्रत्यक्ष और स्मरण से उत्पन्न होने वाला, ‘यह वही है, यह उसके सहश वही है, यह उससे विलक्षण है यह उससे घोड़ा, बहुत, निकट या दूर है’ इत्यादि जोड़ रूप ज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहलाता है ॥५॥

१०—प्रत्यक्ष और स्मरण से उत्पन्न होने वाला संकलनज्ञान (जोड़ रूप ज्ञान प्रत्यभिज्ञान) है ।* इसका आकार यों होता है—यह वही है, जैसे यह वही घट है, यह वही पटी है, यह वही कुण्डल है, गो के सहश गवई (एफ-नी गाय) होता है । गो से विलक्षण महिष होता है, यह इससे अल्प है, यह इससे महान् है,, यह इससे दूर या समीय है, इत्यादि । सूत्रमें ग्रहण किये हुए ‘इत्यादी’ शब्द से अन्य अनेक प्रकार के संकलनज्ञानों को भी प्रत्यभिज्ञान प्रकट किया गया है जैसे—

(क) जिसके शरीर में बहुत रोम हों, लम्बे दाँत हों, जो इयामवर्ण हो, बीमा हो, बड़ी-बड़ी झोखों वाला चपटी जाक वाला हो, उसे ‘चैत्र’ समझना ।

* १—कभी कभी अकेले दर्शन से और अकेले स्मरण से भी संकलनज्ञान उत्पन्न हो आता है, जैसे, ‘यह इससे चिन्ह है, या वह उससे चिन्ह है ।’ यहाँ पहला अकेले प्रत्यक्ष से और दूसरा अकेले स्मरण से उत्पन्न होता है ।

पथोम्बुधेदी हंसः स्यात्पृष्ठादैर्घ्यमरः स्मृतः ।
सप्तपर्णस्तु विष्णुद्विषेयो विषमच्छदः ॥
पृथक्षणिं भवेद्रत्नं भेदकालयं पृथुस्तनी ।
युवतिरचेकशृङ्गोऽपि गणकः परिकीर्तिः ॥”

इत्येवमादिशब्दशब्दणात्थाविधानेव चैत्रहंसादीनवलोक्य तथा सत्यापयति यदा, तदा तदपि संकलनाज्ञानमुक्तम्, दर्शनस्मरणसम्भवत्वाविशेषात् । यथा वा औदीच्येन क्रमेस्तकं निन्वतोक्तम् ‘धिक्करभमतिदीर्घवक्षग्रीष्मं प्रलम्बोष्ठं कठोरसीक्षणकष्टकाशिनं कुत्सितावयवस्त्रिवेशमयशार्दं पश्चानाम्’ इति । तदुपश्चुत्य दाक्षिणात्य उत्तरापर्थं गतस्ताहं वस्तुपलभ्य ‘नूनमयमर्थोऽस्य करभशब्दस्य’ इति (धदर्षति) तदपि दर्शनस्मरणकारणकस्त्वात् सञ्ज्ञालनाज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् ।

११—येषां तु साहृदयविषयमुपमानालयं प्रमाणान्तरं तेषां विलक्षण्यादिविषयं

प्रमाणान्तरमनुष्ठयेत् । यदाहुः—

- (स) हंस दूध-पानी को अलग कर देता है ।
- (ग) अमर छह पंखों वाला होता है ।
- (घ) विषमच्छेद सप्तपर्ण (सात पंखों वाला) कहलाता है ।
- (ङ) पाँच बर्णों वाला रत्न भेदक कहलाता है ।
- (ज) युवति पृथुस्तनी होती है ।
- (छ) गँडा एक सिंग वाला होता है ।

इस प्रकार के बाक्यों को सुनने के अनन्तर कोई मनुष्य चेसे ही चैत्र-या हंस आदि को देख कर जब उन वाक्यों की सचाई का अनुमत करता है, अर्थात् ऐसा ज्ञानता है कि यही वह चैत्र, हंस, अमर आदि हैं, तो यह भी संकलन ज्ञान है, क्योंकि इस प्रकार के ज्ञान दर्शन और स्मरण से उत्पन्न होते हैं । इन ज्ञानों में पूर्वशुत वाक्य का स्मरण तथा उस वस्तु का प्रत्यक्ष दर्शन निमिस्त होता है ।

किसी उत्तरप्रदेशीय द्यक्ति ने ऊंट की निन्दा करते हुए कहा—‘धिक्कार है ऐसे ऊंट को जिसकी गर्भन खूब लम्बी और टेढ़ीमेढ़ी होती है, ओढ़ लम्बे होते हैं, जो कठोर एवं सीखे कौटों का मक्षण करता है, बेहुदे अवयवों वाला और यशुओं में निकूष्ट होता है ।’ यह सुन कर कोई दाक्षिणात्य उत्तरप्रदेश में गया । वहाँ इस प्रकार के वशु को देख कर उसने ज्ञाना—ऊंट शब्द का वाक्य-अर्थ यह है । यह ज्ञान भी दर्शन और स्मरणहेतुक होने से संकलनज्ञान-प्रत्यक्षज्ञान है ।

१२—जिन लंयायिकों के मत में सहजाता को जानने वाला उपमाननामक पृथक् प्रमाण ज्ञान गया है, उन्हें विलक्षणता आदि को जानने वाला दूसरा कोई प्रमाण मानना पड़ेगा । कहा भी है—

“उपमानं प्रसिद्धार्थसाधन्यत् साध्यसाधनम् ।

तद्विधम्यति प्रमाणं कि स्यात् संजिप्रतिषादनम् ॥”[लघीय०३, १०]

“इदमल्पं महद् द्वरमास्त्रं प्राशु नेति वा ।

व्यपेक्षातः समक्षेऽर्थे विकल्पः साधनात्तरम् ॥”[लघीय०३, १२] इति ।

१२—अथ साध्यभ्यमुपलक्षणं योगविभागो वा करिष्यत इति चेत्; तद्विकृशलः
सूत्रकारः स्यात्, सूत्रस्य लक्षणरहितत्वात् । यदाहुः—

“अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारबद्विषयतोमुखम् ।

अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥”

अस्तोभमनविषयम् ।

१३—ननु ‘तत्’ इति स्मरणम् ‘इदम्’ इति प्रत्यक्षमिति ज्ञानद्वयमेव, न तात्पा-
मन्यत् प्रत्यभिज्ञानार्थं प्रमाणयुत्पद्यामः । नैतद्युक्तम्, स्मरणप्रत्यक्षार्थां प्रत्यभिज्ञा-
विषयस्यार्थस्य ग्रहीतुमशब्दयत्वात् । पूर्वापराकरेकधुरीणं हि द्रव्यं प्रत्यभिज्ञानस्य
विषयः । न च तत् स्मरणस्य योज्ञरस्तस्यानुभूतविषयत्वात् । यदाहुः—

पूर्वप्रमितमात्रे हि जायते स इति स्मृतिः ।

स एवायमितीयं तु प्रत्यभिज्ञाऽतिरेकिणी ॥”[तत्त्वसंक्षेप ४५३]

‘प्रसिद्ध पदार्थकी सहजता से किसी अप्रसिद्ध पदार्थको जानना यदि उपमानप्रमाण है तो प्रसिद्ध
पदार्थ के वैधम्य (विलक्षणता) से अप्रसिद्ध पदार्थ को जानने वाला कौन-सा प्रमाण कहलाएगा ?
‘इसके अतिरिक्त ‘यह इससे अल्प है, यह इससे महत् है यह इस से दूर है, यह इससे लम्बा है,
यह इससे लम्बा नहीं है, इस प्रकार के जो सापेक्ष जान होते हैं, इन्हें भी पूर्वक प्रमाण सामना
होगा ।’

१२—शंका—साधन्यं तो नाममात्र है, उससे वैधम्य का भी गहण हो जाता है । अथवा
उपमानके दो भेद किये जा सकते हैं—साधन्य-उपमान और वैधम्य-उपमान । ऐसा करने से पूर्वोक्त
दोष नहीं रहेगा । समाधान-ऐसा करने से आपके सूत्रकार अकुशल कहलाएँगे, वयोंकि उनका
सूत्र सूत्र के लक्षण से रहित होगा । कहा भी है—

‘जो अल्प अक्षर वाला हो, असंदिग्ध हो, सारयुक्त हो, सर्वतोमुखी हो तथा अधिक अशर्तों से
रहित हो, उसी को सूत्रदेता निर्वोष सूत्र कहते हैं ।’

१३—शंका—‘तत्’ (यह) यह स्मरण है और ‘इदम्’ (यह) प्रत्यक्ष है । ये दो जान हैं ।
इनसे अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञाननामक कोई प्रमाण मालूप नहीं देता । समाधान—यह कथन पूर्वित-
पूक्त नहीं है । प्रत्यभिज्ञान का जो विषय है, उसे स्मरण और प्रत्यक्ष नहीं जान सकते । पूर्व
और उत्तरकालीन पर्यायों में अवस्थित राजेवाला द्रव्य एकत्व-प्रत्यभिज्ञान का विषय है । इस
प्रत्यक्ष को स्मरण लो जान नहीं सकता, वयोंकि वह पूर्वानुभूत वस्तु को ही विषय कर सकता है ।
कहा भी है—‘स्मृति पूर्व जान वस्तु में ‘वह’ इस रूप में उत्पन्न होती है । प्रत्यभिज्ञान उससे निष्टि है,
वयोंकि वह ‘यह वही है’ इस प्रकार (दोनों अवस्थाओं में रहे एकत्व को) जानता है ।’

नापि प्रत्यक्षस्य गोचरः, तस्य वर्तमानविवर्तमात्रवृत्तित्वात् । न च दर्शनस्मरणाभ्यासन्यद् ज्ञानं नास्ति, दर्शनस्मरणोल्लकालभाविनो ज्ञानान्तरस्यानुभूतेः । न चानुभूयमानस्यापलापो युक्तः अतिप्रसङ्गात् ।

१४-ननु प्रत्यक्षमेवेवं प्रत्यभिज्ञानम् इत्येके । नैवम् तस्य सन्निहितवार्तमानिकार्थविषयत्वात् ।

“सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्णाते चक्षुरादिना” (इलोकवा० सूक्ष्मश्लो० ८४) इति मा स्म विस्मरः । ततो नातीतवर्तमानयोरेकत्वमध्यक्षज्ञानगोचरः । अथ स्मरणसहकृतमिन्द्रियं तदेकत्वविषयं प्रत्यक्षमुपजनयतोति प्रत्यक्षरूपतास्य गीयते इति चेत् । न, स्वविषयविनियमितमूर्तेरिन्द्रियस्य विषयान्तरे सहकारिशतसमवधानेऽप्यप्रवृत्तेः । नहि परिमलस्मरणसहायम् गि चक्षुरिन्द्रियमविषये गन्धादी प्रवर्तते । अविषयश्चातीतवर्तमानावस्थाद्याप्येकं द्रव्यमिन्द्रियाणाम् । नाथदृष्टसहकारिसहितमिन्द्रियमेकत्वविषयमिति वक्तुं युक्तम् । उक्तादेव हेतोः । किंच, अदृष्टसद्यपेक्षादेवात्मनस्तद्विज्ञानं भवतीति वरं वप्तुं युक्तम् । दृश्यते हि दृश्यविद्यादिसंस्कृतद्वात्मनो विषयान्तरेऽपि विशिष्टज्ञानोत्पत्तिः । ननु यथाऽज्ञानादिसंस्कृतं चक्षुः सातिशायं भवति तथा स्मरणसह-

प्रत्यभिज्ञान का विषय प्रत्यक्ष के द्वारा भी नहीं जाना जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष सिर्फ वर्तमान पर्याय से ही ध्यायार करता है । दर्शन और स्मरण से भिन्न कोई तीसरा ज्ञान नहीं होता’ यह तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि स्मरण के पदचात् होने वाला ज्ञानान्तर अनुभवसिद्ध है । जो अनुभवसिद्ध है उसका अपलाप करना उचित नहीं । ऐसा करने से सब गड़बड़ हो जाएगा ।

१४-वैशेषिक आदि का कहना है कि प्रत्यभिज्ञान तो प्रत्यक्ष ही है, किन्तु यह कहना उचित नहीं है । प्रत्यक्ष इन्द्रिय-सम्बद्ध और वर्तमानकालीन पदार्थ को ही जानता है । ‘चक्षु आदि इन्द्रियाँ सम्बद्ध और वर्तमान को ही प्रहण करती हैं’ इस विद्यान को विस्मरण मत करो । अतएव अतीत और वर्तमान में रहा हुआ-एकत्व प्रत्यक्ष का गोचर नहीं हो सकता ।

शंकास्मरण की सहायता पाकर इन्द्रिय एकता को विषय करने वाले प्रत्यक्ष को उत्पन्न कर देतो है, इस कारण हीम प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं । समाधान-इन्द्रिय का स्वरूप अपने विषयके जानने तक ही सीमित है । संकटों सहायक मिल जाने पर भी उसकी विषयान्तर में प्रवृत्ति नहीं ही सकती सुगंध के स्मरण की सहायता पाकर चक्षु इन्द्रिय गंध आदि को नहीं जान सकती, अतीत और वर्तमान अवस्थाओं में रहा हुआ एक द्रव्य इन्द्रियों का विषय नहीं है, अतएव वे उसे कैसे जान सकती हैं ?

यह कहना ठीक है कि अदृश्य की सहायता से आत्मा को ही एकत्वविषयका ज्ञान उत्पन्न होता है । स्वप्न तथा विद्या रूप संस्कार वाले आत्मा को विषयान्तर का भी विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, यह बात देखी जाती है ।

शंका-जैसे अंजन आदि के संयोग से चक्षु सातिशय (विशिष्ट) बन जाती है, उसी प्रकार

कुत्तमेकत्वविषयं अविष्यति । नैवम् इन्द्रियस्य स्वविषयान्तिलङ्घनेनैवातिशयोपलब्धेः, तद्विषयान्तरग्रहणरूपेण । यदाहृ भद्रः—

यश्चाप्यतिशयो हृष्टः स स्वार्थान्तिलङ्घनात् ।

दूरसूक्ष्मादिहृष्टौ स्यात् न रूपे श्रोत्रवृत्तिः ॥” [इलोकवा० सूत २ श्लो० १४]

इति । तत् स्थितमेतत् विषयभेदात्प्रत्यक्षावन्यत्परोक्षान्तर्गतं प्रत्यभिज्ञानमिति ।

१५—न चैतदप्रमाणम् विसंबादाभादात् । कथचिद्विसंबादादप्रामाण्ये प्रत्यक्षस्यापि तथा प्रसङ्गे दुनिवारः । प्रत्यभिज्ञानपरिच्छिष्ठस्य चात्मादीनामेकत्वस्याभावे बन्धमोक्षव्यवस्था लोपपद्यते । एकस्येव हि बद्धत्वे मुक्तत्वे च बद्धो दुःखिभात्मानं जानन् मुक्तिसुखार्थी प्रयतेत । भेदे त्वत्य एव दुःख्यन्य एव सुखीति कः किमधं वा प्रयतेत? । तस्मात्सकलस्य हृष्टाद्वृष्टव्यवहारस्यैकत्वमूलत्वादेकत्वस्य च प्रत्यभिज्ञायत्तजीवितत्वाद्भूवति प्रत्यभिज्ञा प्रमाणमिति ॥४॥

१६—अथोहस्य लक्षणमाह—

उपलभ्मानुपलभ्मानिमित्तं व्याप्तिज्ञानम् ऊहः ॥५॥

स्मरण की सहायता से एकत्व को जानने लगेगी । समर्थान—नहीं । इन्द्रिय में जो अतिशय (वैशिष्ट्य) देखा जाता है, वह अपने विषय को उल्लंघन न करके देखा जाता है । विषयान्तर को ग्रहण करने के रूप में कोई अतिशय नहीं हो सकता । भद्र ने कहा है—

‘इन्द्रिय में जहाँ कहीं भी अतिशय देखा गया है, वह अपने विषय का अतिकरण न करके ही देखा गया है । अक्षु में दूर तक या सूक्ष्म वस्तु को देखने का अतिशय हो सकता है, परन्तु रूप में श्रोत्रेन्द्रिय का व्यापार तो संभव नहीं हो सकता ।’

१५—प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण हो, सो बात भी नहीं है । क्योंकि उसके विषय में विसंबाद नहीं होता । किसी सरह विसंबाद होने से उसे सर्वत्र अप्रमाण माना जाय तो प्रत्यक्ष भी अप्रमाण हो जाएगा । (क्योंकि कहीं-कहीं प्रत्यक्षहृष्ट परार्थ में भी विसंबाद हो जाता है ।) प्रत्यभिज्ञान हारा प्रतीत होने वाली आत्मा आदि की एकता को ही स्वीकार न किया जाय तो बन्ध और भोक्ता की व्यवस्था नहीं बन सकेगी । जो बद्ध होता है वही मुक्त होता है, ऐसा मानने पर ही यह संगत हो सकता है कि बद्ध जीव अपने आपको दुखी जान कर, मुक्ति-सुख का अभिलाषी हो कर उसके लिये प्रयत्न करता है । यदि पूर्वोत्तर पर्याय में व्याप्त एकत्व न माना जाय तो यह मानना होगा कि बद्ध कोई अन्य होता है और मुक्त कोई अन्य होता है । ऐसी स्थिति में कौन किसी लिए प्रयत्न करेगा । समस्त हृष्ट व्यवहारों का आधार द्विव्यगत एकत्व है और यह एकत्व प्रत्यभिज्ञान के अधीन है । अतएव प्रत्यभिज्ञा प्रमाण है ॥४॥

१६—कहु का लक्षण—

सुआर्थ—उपलभ्म और अनुपलभ्म के निमित्त से होने वाला व्याप्तिज्ञान ऊह(तर्क) कहलाता है ॥५॥

१७—‘उपलस्थः’ प्रमाणभात्रमन्न गृह्णते न प्रत्यक्षमेव अनुमेयस्थापि साधनस्य सम्भवात् प्रत्यक्षवदनुमेयेवयि व्याप्तेरविरोधात् । ‘व्याप्तिः’ वक्ष्यमाणा तस्या ‘ज्ञानम्’ तद्ग्राही निर्णयविशेष ‘ऊहः’ ।

१८—न चायं व्याप्तिग्रहः प्रत्यक्षादेवेति वक्तव्यम् । नहि प्रत्यक्षं यावान् किंच-
द धूमः स देशान्तरे कालान्तरे वा पावकस्येव कार्यं नार्थन्तरस्येतीयतो व्यापारान्
कर्तुं समर्थः सञ्चिहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वाच्च ।

१९—नास्यनुभानात्, तस्यापि व्याप्तिग्रहणकाले योगीव प्रमाणा सम्भवात् इत्ये-
वं भूतभारास्मर्थत्वात् । सामर्थ्येऽपि प्रकृतमेवानुभानं व्याप्तिग्राहकम् अनुभानान्तरं
या? । तत्र प्रकृतानुभानात् व्याप्तिप्रतिपत्तावितरेतराश्रयः । व्याप्ती हि प्रतिपश्याया-
मनुभानमात्मानमासादयति, तदात्मलाभे च व्याप्तिप्रतिपत्तिरिति । अनुभानान्तरात्
व्याप्तिप्रतिपत्तावत्वस्था तस्यापि गृहीतव्याप्तिकस्येव प्रकृतानुभानव्याप्तिग्राहकत्वात् ।

२०—यहीं उपलब्ध शब्द से प्रमाणभात्र कर ग्रहण करना चाहिए, जैसे प्रत्यक्ष का नहीं ।
साधन प्रत्यक्षगम्य हो नहीं होता, अनुभानगम्य भी हो सकता है । प्रत्यक्ष की तरह अनुमेय
षट्कार्यों में भी व्याप्ति का विरोध नहीं है । व्याप्ति का लक्षण आगे कहा जाएगा, उसका विश्वव्या-
सम्बद्ध विषय से ही उत्पन्न होता है और आगे-पीछे का विचार करना उसका काम नहीं है ।

२१—व्याप्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष से ही हो जाता है । ऐसा नहीं कहा जा सकता, देशान्तर
और कालान्तर में अर्थात् तीनों लोकों और तीनों कालों में जो कोई भी धूम है वह सब अन्ति
का ही कार्य है । किसी अन्य का नहीं; इतना व्यापार प्रत्यक्ष नहीं कर सकता । वह तो इन्द्रि-
यसम्बद्ध विषय से ही उत्पन्न होता है और आगे-पीछे का विचार करना उसका काम नहीं है ।

२२—अनुभान से भी व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो सकता । व्याप्ति को प्रहृण करने समय
प्रमाणा योगी के समान हो जाता है अर्थात् त्रिलोक और त्रिकाल संबंधी अविनाशात्र को जानता
है । परन्तु अनुभान में इस प्रकार का सामर्थ्य नहीं है । कदाचित् इतना द्विद्वा सामर्थ्यं अनुभान
में मात्र लिया जाय तो प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रकृत अनुभान ही व्याप्ति का ग्राहक होगा
या दूसरा कोई अनुभान? प्रकृत अनुभानसे व्याप्ति का ग्रहण माना जाय तो अन्योन्याश्रय दोष
आता है व्याप्ति का ग्रहण हो जाने पर अनुभान उत्पन्न हो सकता है और अनुभान के उत्पन्न
होने पर उससे व्याप्ति का ग्रहण हो सकता है । (व्याप्ति ग्रहण के द्विना अनुभान संभव नहीं
है और क्योंकि अनुभान से ही व्याप्ति ग्रहण होता है, अतएव अनुभान के बिना व्याप्तिग्रहण
होना संभव नहीं है ।) अगर दूसरे अनुभान से व्याप्तिग्रहण स्वीकार किया जाय तो अनवस्था
दोष होता है । क्योंकि दूसरा अनुभान भी व्याप्तिग्रहण होने पर ही हो सकेगा और वहीं व्याप्ति
ग्रहण करने के लिये किर तीसरे अनुभान की आवश्यकता होगी । (तोसरा अनुभान भी व्याप्तिग्र-
हणपूर्वक ही होगा और वहीं उसके ग्रहण के लिए चौथे अनुभवत की आवश्यकता पड़ेगी । इस
प्रकार की कल्पना का कहीं अन्त नहीं आएगा ।

तद्व्याप्तिग्रहण यदि स्वत एव, तदा पूर्वेण किमपराद्धं येनानुमानात्तरं मृग्यते । अनुमानात्तरेण चेत् ; तद्हि युगसहस्रेष्ठपि व्याप्तिग्रहणासम्भवः ।

२०—ननु यदि निविकल्पकं प्रत्यक्षमविचारकम् तद्हि तत्पृष्ठभावी विकल्पो व्याप्तिं प्रहीण्यतीति चेत् ; नेतत्, निविकल्पकेन व्याप्तेश्च ग्रहणे विकल्पेन ग्रहीतुमशब्दय-स्वात् निविकल्पकगृहीतार्थविषयत्वाद्विकल्पस्य । अथ निविकल्पकविषयनिरपेक्षोऽर्थ-स्तरगोचरो विकल्पः ; स तद्हि प्रमाणमप्रमाणं वा? । प्रमाणत्वे प्रत्यक्षानुमानातिरिक्तं प्रमाणात्तरं लितिश्चित्तव्यम् । अप्रामाण्ये तु ततो व्याप्तिग्रहणश्रद्धा षण्डात्तनयदोहदः । एतेन—‘अनुपलम्भात् कारणव्यापकानुपलम्भाच्च कार्यकारणव्याप्यव्यापकभावावगमः’ इति प्रत्युक्तम्, अनुपलम्भस्य प्रत्यक्षविशेषत्वेन कारणव्यापकानुपलम्भयोद्द्व लिङ्ग-त्वेन तज्जनितस्य तस्यानुमानत्वात्, प्रत्यक्षानुमानात्मा च व्याप्तिग्रहणे दोषस्याभिहितत्वात् ।

२१—वैशेषिकास्तु प्रत्यक्षफलेनोहायोहृत्विकल्पज्ञानेन व्याप्तिग्रतिपत्तिरित्याहुः । अगर दूसरे अनुमान से व्याप्ति का ग्रहण स्वतः स्वीकार करो तो पहले अनुमान ने क्या अपशाध किया है कि अहाँ भी स्वतः व्याप्तिग्रहण न स्वीकार किया जाय? अनुमानात्तरों की कल्पना करने पर हजारों युग बीत जाने पर भी कभी व्याप्ति का ग्रहण नहीं हो सकेगा ।

२०—शंका—यदि निविकल्पक प्रत्यक्ष अविचारक है (इस कारण व्याप्ति को नहीं ग्रहण कर सकता तो न सही), प्रत्यक्ष के पश्चात् होने वाला विकल्पज्ञान व्याप्ति को ग्रहण कर लेगा । समाधान—जब निविकल्पक प्रत्यक्ष व्याप्ति को ग्रहण नहीं कर सकता तो विकल्प भी नहीं कर सकता, क्योंकि निविकल्पक के द्वारा गृहीत विषय में ही विकल्प की प्रवृत्ति होती है ।

शंका—विकल्प निविकल्पक के विषय की अपेक्षा नहीं रखता और उसके द्वारा न जाने हुए अर्थ को भी विषय करता है । समाधान—तो वह विकल्प प्रमाण है या अप्रमाण? यदि प्रमाण है तो उसे प्रत्यक्ष और अनुमान से अलग ही प्रमाण मानना चाहिए । (वही अलग प्रमाण कह कहलाता है) । यदि विकल्प अप्रमाण है तो उसके व्याप्तिग्रहण की श्रद्धा करना हिंडे से सन्तानोत्पत्ति की इच्छा करने के समान है ।

दूर्विक्त विषयविदेशसे इस अभिमत का भी निराकरण हो जाता है कि—‘अनुपलम्भ से कारणानुपलम्भ से तथा व्यापकानुपलम्भ से कार्यकारणसाद और व्याप्यव्यापकभाव का ज्ञान ही जाता है’ । क्योंकि अनुपलम्भ एक प्रकार का प्रत्यक्ष है तथा कारणानुपलम्भ और व्यापकानुपलम्भ लिंग-साधनरूप हैं । इनसे जो ज्ञान उत्पन्न होगा वह अनुमान ही कहलाएगा । और प्रत्यक्ष तथा अनुमान से व्याप्ति ग्रहण मानने में जो दोष आते हैं, वे पहले ही कहे जा सकते हैं ।

२१—वैशेषिकों ने प्रत्यक्ष के फल ऊहायोहरूप विकल्प ज्ञान से व्याप्ति की सिद्धि बताई है,

तेषामप्यध्यक्षफलस्य प्रत्यक्षानुमानयोरन्यतरत्वे व्याप्तिरविषयोकरणम्, तदन्यत्वे च प्रमाणान्तरत्वप्रसक्तिः । अथ व्याप्तिविकल्पस्य फलत्वात् प्रमाणत्वमनुयोक्तुं युक्तम्; त, एतत्फलस्यानुमानलक्षणफलहेतुतया प्रमाणत्वाविरोधात् सञ्चिकर्षफलस्य विशेषण-ज्ञानस्येव विशेष्यज्ञानाणेत्येति ।

२२—यौगास्तु तर्कसहितात् प्रत्यक्षादेव व्याप्तिग्रह इत्याहुः । तेषामपि यदि न केवलात् प्रत्यक्षाद् व्याप्तिग्रहः किन्तु तर्कसहकृतात् तर्हि तर्कदिव व्याप्तिग्रहोऽस्तु । किमस्य तपस्त्विनो यशोमार्जनेन, प्रत्यक्षस्य वा तर्कप्रसादलब्धव्याप्तिग्रहापलापकृत-ज्ञात्यारोपेणेति? । अथ तर्कः प्रमाणं न भवतीति न ततो व्याप्तिग्रहणमिष्यते । कुतः पुनरस्य न प्रमाणत्वम्, अव्यभिचारस्तावदिहापि प्रमाणान्तरसाधारणोऽस्त्येव? । व्याप्तिलक्षणेन विषयेण विषयस्त्वमपि न नास्ति । तस्मात् प्रमाणान्तरायृहीत्याप्तिग्रहणप्रवणः प्रमाणान्तरमूहः ॥५३॥

२३—व्याप्ति लक्षणति—

एस्तु प्रत्यक्ष का फल प्रत्यक्ष (यह घट है, इत्यादि) या अनुमान (यहाँ अस्ति होना आहिए क्योंकि धूम है, इत्यादि) इन दोनों में से कोई भी एक मानने पर सार्वत्रिक-वैकालिक व्याप्ति नहीं ही नहीं सकती, कारण प्रत्यक्ष का विषय इतना व्यापक नहीं होता । और प्रत्यक्ष तथा अनुमान से भिन्न फल मानने पर अन्य प्रमाण मानने का प्रसंग आयेगा । यदि 'व्याप्तिविकल्प को फल होने के कारण प्रमाण कहना युक्त नहीं होगा' ऐसा कहा जाय तो वह अयुक्त होगा, क्योंकि अनुमान-रूप फल का कारण होने से प्रत्यक्ष के फल को प्रमाण मानने में कोई विरोध नहीं आता । जैसे विशेष्य ज्ञान की अपेक्षा से सञ्चिकर्ष के विशेषण ज्ञान को भी प्रमाण माना गया है ।

२२—यौग तर्कसहित प्रत्यक्ष से ही व्याप्ति का ग्रहण मानते हैं । उनके मतानुसार यदि अकेले प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता किन्तु तर्कसहित से ही होता है तो उन्हें तर्क से ही व्याप्ति का ग्रहण मानना आहिए । बेखारे तर्क के यश को मष्ट करने से क्या लाभ? तर्क के प्रसाद से व्याप्ति का ग्रहण करनेका अपलाप करने की कृतज्ञता प्रत्यक्ष में आरोपित करने से भी क्या लाभ है?

शंका—तर्क प्रमाण नहीं है, इस कारण उससे व्याप्ति ग्रहण होना न कह कर प्रत्यक्ष से व्याप्तिग्रहण होना कहते हैं । समाधान—तर्क प्रमाण क्यों नहीं है? जैसे अन्य प्रमाणों में व्यभिचार का अभाव होता है, वैसा इसमें भी है । व्याप्ति उसका विषय है, अतएव वह निर्विषय भी नहीं है । इसप्रकार किसी भी प्रमाणान्तर से न ग्रहण की जाने वाली व्याप्ति को ग्रहण करने वाला अह प्रमाण ही है ॥५४॥

२३—व्याप्ति का लक्षण—

व्याप्तिव्यापकस्य व्याप्ये सति भाव एव व्याप्यर्थ वा तत्रैव भावः ॥६॥

२४—‘व्याप्तिः’ इति यो व्याप्तिलिङ् वश्च व्याप्त्यते तयोरुभयोर्धर्मैः । तत्र यदा व्यापकधर्मतया विवक्ष्यते तदा व्यापकस्य गम्यस्य ‘व्याप्ये’ धर्मैः ‘सति’ यत्र धर्मिणि व्याप्यमस्ति तत्र सर्वत्र ‘भाव’ एव व्यापकस्य स्वगतो धर्मो व्याप्तिःः ततश्च व्याप्यभावायेकाया व्याप्यस्यैव व्याप्तलाप्रतीतिः । तत्वेवमवधार्यते-व्यापकस्यैव व्याप्ये सति भाव इति, हेत्वभावप्रसङ्गात् अव्यापकस्यापि मूर्त्तव्यादेस्तत्र भावात् । नापि व्याप्ये सत्येवेत्यवधार्यते, प्रयत्नानन्तरोयकस्वादेरहेतुत्वापत्तेः, साधारणश्च हेतुः स्वाधि-त्यत्वस्य प्रमेयेष्वैव भावात् ।

सूक्ष्रार्थ—व्यापक का व्याप्य के होने पर होना ही, अथवा व्याप्य का व्यापक के होने पर ही होना व्याप्ति है ॥६॥

२५—जो व्याप्त करता है (जैसे अग्नि आदि) और जो व्याप्त होता है (जैसे धूम आदि) व्याप्ति उन दोनों का धर्म है । जब व्यापक के धर्म के रूप में व्याप्ति की विवक्षा की जाती है तब व्याप्ति का स्वरूप होता है—व्यापक का (अग्नि आदि साध्य का) व्याप्य (धूमादि) के होने पर होना ही । अर्थात् व्याप्य के होने पर व्यापक का सद्भाव अवश्य होना व्याप्ति है, जैसे धूम के होने पर अग्नि का अवश्य होना । इससे व्याप्यभाव की अपेक्षा से व्याप्य की ही व्याप्तता की प्रतीति होती है ।

व्याप्य के होने पर व्यापक का होना ही, ऐसा अवधारण किया गया है, इसके बदले ‘व्याप्य के होने पर व्यापक का ही होना’ ऐसा अवधारण नहीं किया गया है । यदि ऐसा अवधारण किया होता तो हेतु के अभाव का प्रसंग हो जाता । इसके अतिरिक्त व्यापक का ही होना’ ऐसा अवधारण करने से जो व्यापक नहीं उन सब का अभाव हो जाता, जब कि ‘मूर्त्तव्यादि अव्यापक भी वहाँ होते हैं ।

‘व्याप्य’ के होने पर ही व्यापकका ‘होना’ ऐसा अवधारण भी नहीं किया गया है । ऐसा करते तो ‘प्रयत्नानन्तरोयकस्वै’ आदि अहेतु ही जाते और जो साधारण अनेकान्तिक हेत्वाभास है वह भी हेतु ही जाता, क्योंकि नित्यता प्रमेय पदार्थों में ही होती है ।

सात्पर्य—यहाँ अवधारण के तीन रूप बतलाए गए हैं, यथा—

- (१) व्याप्य के होने पर व्यापक का होना ही ।
- (२) व्याप्य के होने पर व्यापक का ही होना ।
- (३) व्याप्य के होने पर ही व्यापक का होना ।

इन तीन रूपों में से प्रथम रूप स्वीकार किया गया है, शेष दो रूपों को दूषित होने के कारण अस्वीकार किया गया है ।

२५—यदा तु व्याप्यधर्मतया व्याधित्विवक्ष्यते तदा 'व्याप्यस्य च' गमकस्य 'तत्रैव' व्यापके गम्ये सति यत्र धर्मिणि व्यापकोऽस्ति तत्रैव 'भावः' न तदभावेऽपि व्याप्तिरिति । अत्रापि नैवमवधार्यते-व्याप्यस्यैव तत्र भाव इति, हेत्वभावप्रसङ्गादव्याप्यस्यापि तत्र भावात् । नापि-व्याप्यस्य तत्र भाव एवेति, स पक्षेकदेशदृत्तेरहेतुत्वशाप्तेः साधारणस्य च हेतुत्वं स्यात्, प्रमेयत्वस्य नित्येऽवबद्धंभावादिति ।

२६—व्याप्यव्यापकधर्मतासङ्गीतनं तु व्याप्तेऽभयत्र तुल्यधर्मतयैकाकारा प्रतीतिमा भूदिति प्रदर्शनार्थम् । तथाहि-पूर्वत्रायोगव्यवच्छेदेनावधारणम् उत्तरान्ययोगव्यवच्छेदेनेति कुत उभयत्रैकाकारता व्याप्तेः? : लदुकलम् ॥

“लिङ्गे लिङ्गी भवस्येव लिङ्गन्येवेतरत् पुनः ।

नियमस्य विषयसिऽसम्बन्धो लिङ्गलिङ्गनोः ॥” इति ॥६॥

२७—अथ कमप्राप्तमनुमानं लक्षयति-

साधनात्माध्यविज्ञानम् अनुमानम् ॥७॥

२५—जब व्याधि की विवक्षा व्याप्य-धर्म के रूप में की जाती है तब उसका रूप यों होता है—‘व्याप्य (गमक-हेतु) का व्यापक के होने पर ही होना ।’ अर्थात् जिस पर्वत आदि घर्मों में व्यापक है वहीं व्याप्य का (धूम का) होना, व्यापक के अभाव में न होना ।

यहीं भी व्यापक के होने पर व्याप्य का ही होना’ऐसा अवधारण नहीं किया गया है; क्योंकि ऐसा अवधारण करने से हेतु के अभाव का प्रसंग हो जाता है; पर्वतादि में अव्याप्य (अविन) का भी अस्तित्व होता है । ‘जहाँ व्यापक है वहीं व्याप्य का होना ही’ इस प्रकार का अवधारण भी नहीं किया जाता है । ऐसा करने से जो हेतु सप्तम के एक देश में रहता है वह हेतु नहीं कहलाएगा और साधारण अनेकान्तिक हेत्वभास भी हेतु हो जाएगा, क्योंकि प्रमेयत्व नित्य पदार्थों में होता ही है ।

२६—व्याधि व्याप्य और व्यापक दोनों का धर्म है, ऐसा कहने का अभिप्राय यह है कि वह साध्य और साधन-दोनों में बराबर एक रूप से प्रतीत न हो । वह जब व्याप्य के धर्म रूप में विवक्षित होती है तो ‘अयोगव्यवच्छेद रूप में अवधारण होता है, और जब व्यापक के धर्म के रूप में विवक्षित की जाती है तो अन्ययोगव्यवच्छेद रूप में अवधारण होता है । अतएव दोनों जगह उसका आकार-स्वरूप-एक-सा नहीं हो सकता है । कहा भी है—

‘साधन के होने पर साध्य होता ही है, मगर साध्य के होने पर साधन होता भी है और नहीं भी होता है ।’ इस नियम का विषयसि होने पर साध्य-साधन का सम्बन्ध नहीं बन सकता॥६॥

२७—अनुमान का लक्षण—(सूत्रार्थ)—साधन से साध्य का ज्ञान होना अनुमान है ॥७॥

‘होता ही’ यह अयोगव्यवच्छेद है, क्योंकि यहीं अभाव का निषेध किया गया है ।

द्व्यापक के होने पर ही होना, यहीं व्यापक से अन्य-अव्यापक के होने पर होने का निषेध किया गया है ।

२८—साधनं साध्यं च वक्ष्यमाणलक्षणम् । हष्टादुपदिष्टाद्वा 'साधनात्' यत् 'साध्यस्य' विज्ञानम् सम्यगर्थनिर्णयात्मकं लदनुभीयतेऽनेनेति 'अनुमानम्' लिङ्गप्रहण-सम्बन्धस्मरणयोः पश्चात् परिच्छेदनम् ॥७॥

तत् द्विधा स्वार्थं परार्थं च ॥८॥

२९-'तत्' अनुमानं द्विप्रकारं स्वार्थ-परार्थभेदात् । स्वव्यापोहनिवर्तनक्षमम् 'स्वार्थम्' । परव्यापोहनिवर्तनक्षमम् 'परार्थम्' ॥८॥

३०-तत्र स्वार्थं लक्षयति-

स्वार्थं स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणात् साधनात्

साध्यज्ञानम् ॥९॥

३१—साध्यं विनाभवनं साध्याविनाभावः, स्वेनात्मना निश्चितः साध्याविनाभाव एवैकं लक्षणं यस्य तत् 'स्वनिश्चितसाध्याविनाभावैकलक्षणम्' तस्मातथाविधात् 'साधनात्' लिङ्गात् 'साध्यस्य' लिङ्गानो 'ज्ञानम्' 'स्वार्थम्' अनुमानम् । इह च त योग्यतया लिङ्गे परोक्षार्थप्रतिपत्तेरज्ञम्, यथा बीजमंकुरस्य, अष्टष्टाद्यूमाद्यनेत्राला विज्ञानम् ॥९॥

२८—साधन और साध्य कर स्वरूप आगे कहा जाएगा । स्वर्य देखे हुए या दूसरे के कहे हुए साधन से साध्य का जो सम्यगर्थनिर्णयिक ज्ञान होता है वह अनुमान है । जिससे अनुमिति की जाय वह अनुमान है, अर्थात् साधन के प्रहण और अविनाभाव के स्मरण के पश्चात् होने वाला विज्ञान ॥७॥

अनुमान के भेद—सूत्रार्थ—अनुमान दो प्रकार का है—स्वार्थ और परार्थ ॥८॥

२९—अनुमान के दो भेद हैं—स्वार्थनिमान और परार्थनिमान । जो निज के अज्ञान की निवृत्तिकरने में समर्थ हो वह स्वार्थनिमान कहलाता है और ओ परकीय अज्ञान का निवारण करे वह परार्थनिमान । अर्थात् धूम को देख कर स्थृतं अग्नि को ज्ञान लेना स्वार्थनिमान और दूसरे को अग्नि का अस्ति करने के लिए स्वार्थनिमान को शब्दों द्वारा प्रकट करता परार्थनिमान है ॥८॥

३०—स्वार्थनिमान का स्वरूप—सूत्रार्थ—अपने द्वारा निश्चित किये हुए अविनाभाव रूप एक लक्षणयाले साधन से साध्य का ज्ञान होना स्वार्थनिमान है ॥९॥

३१—साध्यं के विना न होना 'साध्याविनाभाव' कहलाता है । यह साध्याविनाभाव अब स्वर्य के द्वारा निश्चित किया गया हो तो स्वनिश्चितसाध्याविनाभाव है । यही साधन का एक मात्र लक्षण है । ऐसे साधन से साध्य का ज्ञान होना स्वार्थनिमान कहलाता है । जैसे बीज अपनी योग्यता के कारण अंकुर का उत्पादक होता है (हम उसे देखें या न देखें), इस प्रकार साधन योग्यता मात्र से साध्य का अनुमापक नहीं होता, ऐसा होता तो अष्टष्ट धूम से भी अग्नि का

रत्तिपत्तेः; नापि स्वनिश्च (स्वविष) यजानापेक्षं यथा प्रदीपो घटादेः, दृष्टादप्यनिश्चतादिनाभावादप्रतिपत्तेः । तस्मात्पशेक्षार्थनान्तरीयकतया निश्चयनमेव लिङ्गस्य व्यापार इति 'निश्चत' प्रहणम् ।

३२—ननु चासिद्विरुद्धान्तकान्तिकहेत्वाभासनिराकरणार्थं हेतोः पक्षधर्मस्त्वम्, सप्तके सत्त्वम्, विषक्षाद् व्याकुलितिरिति अंलक्षण्यमाचक्षते भिक्षवः । तथाहि-अनुमेये धर्मिणि लिङ्गस्य सत्त्वमेव निश्चितमित्येकं रूपम् । अत्र सत्त्ववच्चनेनासिद्धं चाक्षुष्ट्वादि निरस्तम् । एतकारेण एकीकरेणासिद्धो निरस्तो यथा अनित्यानि पृथिव्यादीनि भूतानि गन्धवस्त्वात् । अत्र पक्षोकृतेषु पृथिव्यादिषु चतुर्थं भूतेषु पृथिव्यामेव गन्धवस्त्वम् । सत्त्ववच्चसत्त्वं पद्मान्तकुत्तेनैककारेणासाधारणो धर्मो निरस्तः । यदि ह्यनुमेय एव सत्त्वमित्युच्येत आद्यत्वमेव हेतुः स्यात् । निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धासिद्धः सदो अनुभान होने लगता ।

यह भी नहीं है कि साधन को जान लेने साम्र से ही वह साध्य का जान करा दे, जैसे कि दीपक घट आदि का जापक हो जाता है । वर्णोंकि साधन के विखाई देने पर भी यदि अविनाभाव निश्चित न हो तो उसको साध्य का जान होना संभव नहीं है । अतएव जहाँ साधन का जान होना आवश्यक है, वहीं यह भी आवश्यक है कि परोक्ष पदार्थ (साध्य)के साथ उसका अविनाभाव निश्चित होना चाहिए । यही सूचित करने के लिए सूत्र में 'निश्चत' पद का प्रयोग किया गया है ।

३२—शक्ता-असिद्ध-विरुद्ध और अन्तकान्तिक हेत्वाभासों का निराकरण करने के लिए बोल्डो ने हेतु के तीन लक्षण स्वीकार किये हैं— (१) पक्षधर्मस्त्व (२) परपक्षसत्त्व और (३) विपक्षव्यावृत्ति । (१) पक्षधर्मस्त्व—'पक्ष-अनुमेयदर्थों (पदतादि) में हेतु का सत्त्व ही निश्चित होना' यह पहला लक्षण है । यहाँ 'सत्त्व' शब्द का प्रयोग करके 'चाक्षुष्ट्व' आदि असिद्ध हेतुओं की हेतुता का निराकरण किया गया है । 'सत्त्व ही' यहाँ 'ही' (एककार) का प्रयोग करके पक्षीकरेणासिद्ध (जो पक्षके एक देश में रहे और एक देश में न रहे ऐसे असिद्ध हेतु) का निषेध किया गया है; जैसे-पृथ्वी आदि भूत अनित्य हैं, वर्णोंकि गन्धवस्त्व है । यहाँ पृथ्वी आदि चारों भूत पक्ष हैं किन्तु गन्धवस्त्व हेतु सिफे पृथ्वी में पाया जाता है । असः यह पक्षीकरेणासिद्ध हेत्वाभास है । ऐसे हेतुओं का निषेध करने के लिए यह कहा गया है कि 'पक्ष में सत्त्व ही' होना चाहिए ।

'सत्त्व' शब्द के पठ्यात् 'ही' का प्रयोग करके यह सूचित किया है कि जो हेतु असाधारण होता है अर्थात् पक्ष के अतिरिक्त सप्तक में नहीं पाया जाता वह भी हेतु नहीं हो सकता । यदि 'ही' का प्रयोग सत्त्व के पूर्व में किया होता अर्थात् 'पक्ष में ही सत्त्व' ऐसा कहा होता तो रक्षावण-ही हेतु होता । 'निश्चित पक्ष' के प्रयोग से समस्त संदिग्धासिद्ध हेतुओं का निराकरण किया गया है ।

१—शब्द नित्य है, क्यों कि वह चाक्षुष्ट्व है; प्रहाँ चाक्षुष्ट्व हेतु असिद्ध है, क्योंकि पक्ष (शब्द)में उसकी सत्ता नहीं है । २—शब्द नित्य है, क्योंकि वह श्रावण है, वहाँ 'थाक्षण्ट्व' हेतु है ।

निरस्तः । सपक्षे एव सत्त्वं निश्चितमिति द्वितीयं रूपम् । इहापि सत्त्वग्रहणेन विरुद्धो निरस्तः । स हि नास्ति सपक्षे । एवकारेण साधारणानेकान्तिकः, स हि न सपक्षे एव बर्तते कि तु विपक्षेऽपि । सत्त्वग्रहणात् पूर्वमवधारणकरणेन सपक्षाव्यापिनोऽपि प्रयत्नानन्तरीयकत्वदेहेतुत्वमूक्तम्, पश्चादवधारणे हि अयमर्थः स्यात्-सपक्षे सत्त्वमेव यस्य स हेतुरिति प्रयत्नानन्तरीयकत्वं न हेतुः स्यत् । निश्चितवच्चनेन सन्दिग्धात्मयोऽनेकान्तिको निरस्तः यथा सर्वज्ञः कश्चिद्वत्तुत्थात्, वक्तृत्वं हि सपक्षे सर्वज्ञे सन्दिग्धम् । विपक्षे त्वसत्त्वमेव निश्चितमिति तृतीयं रूपम् । तत्रासत्त्वग्रहणेन विरुद्धस्य निरासः । विरुद्धो हि विपक्षेऽस्ति । एवकारेण साधारणस्य विपक्षैकदेशबृत्तेनिरासः, प्रयत्नानन्तरीयकत्वे हि साध्येऽनित्यत्वं विपक्षैकदेशो विद्युदाद्यवस्ति, आकाशादौ नास्ति । ततो नियमेनास्य निरासोऽसत्त्वशब्दात् । पूर्वस्मिन्नावधारणे हि अयमर्थः

(२) सपक्षसत्त्व—‘सपक्षे एव सत्त्वं निश्चितं अर्थात् सपक्ष में ही सत्त्व निश्चित होना’ यह हेतु का दूसरा लक्षण है । यहाँ भी ‘सत्त्व’ के ग्रहण से विरुद्ध हेतु का निराकरण किया गया है क्योंकि विरुद्ध हेतु सपक्ष में नहीं रहता । ‘ही’ (एव) का प्रयोग करके साधारण अनेकान्तिक हेतु का निषेध किया गया है, क्योंकि वह ‘सपक्ष में ही’ नहीं रहता वरन् विपक्ष में भी रहता है । ‘सत्त्व’ शब्द से पूर्व में ‘ही’ का प्रयोग करके यह प्रकट किया गया है कि सपक्ष में व्याप्त होकर न रहने वाले अर्थात् सपक्ष के एक देश में रहने वाले हेतु भी सम्भक् हेतु हीते हैं अर्थात् यह आवश्यक नहीं कि हेतु सपक्ष में एक की तरह सर्वत्र व्याप्त ही होना चाहिए । यदि ‘सत्त्व’ के प्रयोगात् अवधारण करते तो ‘सपक्षे सत्त्वमेव’ अर्थात् सपक्ष में सत्त्व ही होना हेतु का लक्षण है, ऐसा अर्थ होता । इस प्रकार कहने से ‘प्रयत्नानन्तरीयकत्व’ हेतु न रहता, क्योंकि वह सपक्ष के एक देश में ही रहता है । ‘निश्चित’ शब्द के प्रयोग से सन्दिग्धात्मय अनेकान्तिक हेतु का निराकरण किया गया है । अमेरिकी पुस्तक लंबज्ञ है, क्योंकि वह खलता है, यहाँ वक्तृत्व हेतु सपक्ष सर्वज्ञ में संदिग्ध है, निश्चित नहीं है ।

(३) विपक्षासत्त्व—विपक्ष में असत्त्व ही निश्चित होना, यह तीसरा लक्षण है । यहाँ ‘असत्त्व’ शब्द के प्रयोग से विरुद्ध हेतु का निराकरण किया गया है, क्योंकि विरुद्ध हेतु कर विपक्ष में असत्त्व नहीं होता—सत्त्व होता है । ‘ही’ (एव) के प्रयोग से विपक्ष के एक देश में रहने वाले साधारण अनेकान्तिक हेतु का निषेध किया गया है । २-प्रयत्नानन्तरीयकत्व साध्य में प्रयुक्त अनित्यत्व हेतु विपक्ष के एक देश विद्युत् आदि में रहता है, आकाश आदि में नहीं रहता । अतएव ‘असत्त्व ही होना’ कहने से उल्का निषेध ही जाता है ।

यदि असत्त्व से पूर्व अवधारण किया होता तो ऐसा अर्थ निकलता-

१-शब्द नित्य है, क्योंकि वह प्रमेय है, यहाँ ‘प्रमेयत्व’ हेतु पक्ष, सपक्ष और विपक्ष में सर्वथा रहता है, अतएव साधारण अनेकान्तिक है । २-शब्द प्रयत्नजन्य है, क्योंकि अनित्य है । यहाँ अनित्यत्व हेतु है ।

स्वात्-विषय एवं यो नास्ति स हेतुः, तथा च प्रथमानन्तरीयकत्वं सप्तशेषिः नास्ति ततो न हेतुः स्यात्ततः पूर्वं न कृतम् । निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धविषयावृत्तिकोऽनै-कान्तिको निरस्तः । तदेवं त्रैरूप्यमेव हेतोरसिद्धादिदोषपरिहारकमिति तदेवाभ्युप-गच्छ युक्तमिति किमेकलक्षणकर्त्त्वेनेति?

३३—तदयुक्तम्, अविनाभावनियमनिश्चयादेव दोषत्रयपरिहारोपपत्तेः । अविना-भावो हृन्यथानुपयन्त्वम् । तच्चासिद्धस्व विशद्ग्रस्थ व्यभिकारिणो वा न सम्भवति । त्रैरूप्ये सु सत्यप्यविनाभावावै हेतोरगमकात्पद्मानात्, यथा स इयाभो मैत्रतनयत्वात् इतरमेत्रपुत्रविदित्यत्र । अथ विषयान्तियमवली व्यावृत्तिरत्तत्र न हृश्यते ततो न गम-कत्वम्; तहि तस्या एवाविनाभावरूपत्वादितररूपसद्गवेऽपि तदभावै हेतोः स्वसा-घ्यसिद्धि प्रति गमकत्वानिष्टी संब प्रधानं लक्षणमस्तु । तत्सद्गवेऽपररूपद्वयनिरपे-क्षतया गमकत्वोपयतेऽच, यथा सन्त्यद्वैतवादिनोऽपि प्रमाणानि इष्टानिष्टसाधनदूष-णान्यथानुपयपत्तेः । न यत्र पक्षधर्मत्वं सप्तशो सत्त्वं चास्ति, केवलभविनाभावमात्रेण विषय में ही जो न हो वह हेतु है ।^१ ऐसी स्थिति में प्रथमानन्तरीयकत्व हेतु सप्तशो सी नहीं रहता है, अतः वह हेतु न हो सकता । यदर वह हेतु है, अतएव सत्त्व से पूर्व में अवधारण नहीं किया गया है । निश्चितशास्त्र के प्रहण से १८विषयविषयावृत्तिक अनेकान्तिक हेतु का निरा-करण किया गया है ।

३४—समाधान-बीड़ों का यह कहना अवृत्तत है । अविनाभाव नियम के निश्चय से ही असि-द्धता, विशद्गता और अनेकान्तिकता। इन तीनों दोषों का परिहार हो जाता है । असिद्ध, विशद्ग और अनेकान्तिक हेतुओं भें अन्यथानुपयत्ति (अविनाभाव) नहीं हो सकती । (असिद्धता आव तीन दोषों को हटाने के लिए तीन लक्षणों को कालण) करना बूथा है क्योंकि अविनाभाव से ही ये दोष हट जाते हैं । अलिक उपत त्रैरूप्य के होने पर भी जहाँ अविनाभाव नहीं होता, वहाँ हेतु गमक नहीं होता । उदाहरणार्थ अर्थस्थ मेत्रपुत्र इयाम है, क्योंकि वह मेत्रपुत्र है, अन्य मेत्रपुत्रों के समान । यहाँ आपके माने तीनों रूप विश्वासान हैं, फिर भी यह हेतु गमक नहीं है ।

शंका-यहाँ नियमतः विषयक्षमावृत्ति न होने के कारण यह अनुमान गमक नहीं है । समा-घ्यान-नियमतः विषयक्षमावृत्ति ही तो अविनाभाव है । औंव दो लक्षणों (पक्षधर्मत्व और सत्त्व) के होने पर भी यदि विषयक्षमावृत्ति के अवाव में हेतु अर्थे सात्यका गमक नहीं होता तो विषयक्षमावृत्ति को ही हेतु का प्रधान लक्षण मानना चाहिए । यहाँ विषयक्षमावृत्ति होती है वहाँ औंव दो लक्षण न हों तो भी हेतु गमक हो जाता है । उदाहरणार्थ- अद्वैतवादी के गति में भी प्रमाण है, वर्णोंकि प्रमाणों के अवाव में वह इष्ट का साधन और अनिष्ट का निषेध नहीं कर सकता ।^२ यहाँ न पक्षधर्मता है और न सप्तशमस्ता है, फिर भी आविनाभाव के बल से हेतु गमक होता ही है ।

^१-यह पुरुष असर्वज्ञ है, ये कि दक्षता है : यहाँ दक्षताव ऐतु विषय-सर्वज्ञ में भी रह सकता है ।

गमकत्वोपपत्तिः । ननु पक्षधर्मताऽभावे हेतुः प्रासादः काकस्य काष्ठण्डदित्यादयोऽपि हेतवः प्रसज्ज्येरन् । नैवम्, अविनाभावबलेन्द्रापक्षधर्मणामपि गमकत्वाभ्युपगमात् । न चेह सोऽस्ति । ततोऽविनाभाव एव हेतोः प्रधानं लक्षणमभ्युपगमत्वम्, सति तस्मिन्सत्यपि त्रैलक्षण्ये हेतोर्गमकत्वदर्शनात् । न तु त्रैरूप्यं हेतुलक्षणम् अव्यापकत्वात् । तथा च सर्वं क्षणिकं सत्वादित्यत्र मूढाभिविक्ते साधने सौगतेः सपक्षेऽसतोऽपि हेतोः सत्त्वस्य गमकत्वमिष्टत एव तदुक्तम्-

“अन्यथाऽनुपपश्चत्वं यत्र तत्र अयोग्य किम्? ।

नन्यथाऽनुपपश्चत्वं यत्र तत्र अयोग्य किम्? ॥” इति ।

३४—एतेन पञ्चलक्षणकत्वमपि नैर्याप्यिकोक्तं प्रत्युक्तम्, तस्यात्यविनाभावप्रपञ्चत्वात् । सथाहि-त्रैरूप्यं पूर्वोक्तम् अवाधितविषयत्वम्, असत् प्रतिपक्षत्वं चेति पञ्चलक्षणिः । तत्र प्रत्यक्षागमवाधितकर्मन्तिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वं बाधितविषयत्वं यथाऽनुष्णस्तेजोवयवी कृतकत्वात् घटत्वत् । आहुणेन सुरा पैया (द्रव) द्रव्यत्वात् शीरकत् इति ।

शंका—पक्षधर्मता के अभाव में अर्थात् हेतु के पक्ष में न रहने पर भी यदि वह गमक हो जाय तो—‘यह प्रासाद धबल है, क्योंकि काक काला हैं.’ इस प्रकार के हेतु भी गमक हो जाएँगे । (यहाँ काक का कालायन हेतु है और यह हेतु पक्ष-प्रासाद-में नहीं है । अतः हेतु गमक नहीं होता । यदि पक्षधर्मता के अभाव में भी हेतु को गमक माना जाएगा तो यह हेतु भी गमक हो जाएगा ।)

समाधान पक्षधर्मता न होने पर भी अविनाभाव के होने पर ही हेतु गमक होता है । इस अनुमान में अविनाभाव नहीं है, इस कारण यह गमक नहीं है अतएव अविनाभाव को ही हेतु का प्रधान लक्षण स्वीकार करना आहित् । अगर अविनाभाव होया तो त्रैरूप्य के न होने पर भी हेतु गमक हो जाएगा । इस के अतिरिक्त हेतु का त्रैरूप्य लक्षण अव्यापक होने के कारण संशय नहीं ही सकता । औदूर्दों का प्रधान अनुमान है—‘सर्वं पदार्थं क्षणिक है, क्योंकि सत् अर्थी-स् अर्थक्रियाकारी है ।’ इस अनुमान में सपक्षस्त्व नहीं है (क्योंकि सर्वं पदार्थों को पक्ष बना लिया गया है) फिर भी ये हेतु को गमक मानते हैं । कहा भी है—

‘जहाँ अन्यथाऽनुपपत्ति है, वहाँ त्रिलक्षण का प्रयोजन ही क्या है? (वह व्यर्थ है क्योंकि अन्यथाऽनुपपत्ति के ही बल से हेतु गमक हो जाएगा ।) और जहाँ अन्यथाऽनुपपत्ति नहीं है, वहाँ भी त्रिलक्षण से क्या लाभ? (त्रिलक्षण के होने पर भी अन्यथाऽनुपपत्ति के अभाव में हेतु गमक नहीं हो सकता ।)

३४—नैर्याप्यिक हेतु के पाँच लक्षण मानसे हैं—पूर्वोक्त तीन और अवाधितविषयत्व तथा असत् प्रतिपक्षत्व । यह पाँच लक्षण हैं । औदूर्दमत को निराकरण से इसका भी निराकरण हो जाता है । प्रत्यक्ष या आगम प्रसाद से बाधित साध्य के अनन्तर हेतु का प्रयोग करना बाधितविषयत्व है । जैसे-अव्ययवी रूप अग्नि उष्ण नहीं है, क्योंकि वह कृतक है, कृतक उष्ण नहीं होता, जैसे घट । (यहाँ अग्नि की अनुष्णता साध्य स्पर्शनेन्द्रियप्रत्यक्ष से बाधित है । अतएव कृतकत्व हेतु प्रत्यक्षबाधितविषय कहलाया ।) उष्ण को सुरा देय है । इयोकि बहु द्रव (तरल) है, जैसे शीर ।

तन्निषेधादब्राधितविषयत्वम् । प्रतिपक्षहेतुबाधितत्वं सत्प्रतिपक्षत्वं यथाऽनित्यः शब्दो-
नित्यधर्मनिपलब्धेः । अत्र प्रतिपक्षहेतुः—नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मनिपलब्धेरिति । तन्निष-
ेधादसत्प्रतिपक्षत्वम् । तत्र बाधितविषयस्य सत्प्रतिपक्षस्य चाविनाभावादविना-
भावेनैव रूपद्वयमपि सहगृहीतम् । एवाहु—“नाधाविनाभावयोविरोधात्”[द्वृ०परि० ४]
इति । अपि च, सबलक्षणलक्षितपक्षविषयत्वाभावात् तद्वेषेणैव दोषद्वयमिदं चरिता-
र्थं किं पुनर्वचनेत्? । तत् स्थितमेतत् साध्याविनाभावैकलक्षणादिति ॥१॥

३५—तत्राविनाभावं लक्षयति—

सहक्रपभाविनोः सहक्रपभावानियमोऽविनाभावः ॥१०॥

३६—‘सहभाविनोः’ एकसामन्यधीनयोः फलिदिगतयो रूपरसयोः व्याप्यव्याप्त-
कयोश्च शिशापात्वबृक्षत्वयोः, ‘क्रपभाविनोः’ कृत्तिकोदयशकटोदययोः, कार्यकारणयो-
यहाँ साध्य (सुरा का पेयत्व) आगम से बाधित है । अतएव इवत्व हेतु आगमबाधित विषय
है (है) जिस हेतु में यह दोनों न हों वह अबाधित विषय कहलाता है । जो हेतु अपने विरोधि
तूपरे हेतु से बाधित हो वह सत्प्रतिपक्ष कहलाता है । यदा-शब्द अनित्य है, क्योंकि उसमें
नित्यता की उपलब्धि नहीं होती । इसका विरोधी हेतु यह है-‘शब्द नित्य है, क्योंकि उसमें
अनित्यता की उपलब्धि नहीं होती’ इस हेतु से प्रथम हेतु बाधित हो जाने के कारण सत्प्रतिपक्ष
कहलाता है । जिस हेतु में यह दोष न हो वह असत्प्रतिपक्ष है । किन्तु जो हेतु बाधितविषय या
सत्प्रतिपक्ष होता है उसमें आविनाभाव हो ही नहीं सकता । अतएव आविनाभाव को हेतु का
लक्षण स्वीकार करने से ही इस दोनों लक्षणों का ग्रहण हो जाता है । कहा भी है-‘बाधा और
आविनाभाव का विरोध है ।’ अर्थात् जहाँ किसी प्रकार का हेतु दोष है, वहाँ आविनाभाव नहीं
हो सकता और जहाँ आविनाभाव है वहाँ कोई भी हेतु दोष नहीं हो सकता । “इसके अतिरिक्त-
हमने पक्ष का जो लक्षण एकहा है वह यहाँ घटित नहीं होता । अतएव पक्ष के दोषों से ही यह
दोनों दोष अन्तर्गत हो जाते हैं । ऐसी स्थिति में इन्हें अलग कहने की क्या आवश्यकता है?
सात्पर्य यह है कि साध्य का प्रत्यक्षादि से बाधित होना पक्ष का दोष है । पक्ष के दोष से अनु-
मान दूषित हो जाता है । अतएव इन्हें अलग हेतु दोष मानना पुनर्दक्षित मात्र है । इस प्रकार
साध्य के साथ आविनाभाव होना ही हेतु का एक मात्र लक्षण है । ऐसे हेतु से साध्य का जान
होना अनुमान है ॥१॥

३५—आविनाभाव का लक्षण—

सुन्नार्थ-सहभावियों का सहभावनियम और क्रपभावियों का क्रपभावनियम आविनाभाव
कहलाता है ॥१०॥

३६—एक ही सामग्री के अधीन, फलादि में रहे हुए रूप और इस अर्थात् सहचर तथा
व्याप्त और व्यापक संबंधबाले शिशापात्व और बृक्षत्व सहभावी हैं । कृत्तिकं दय और शकटोदय

१—ऐसिए इसी आहिनक का शूष्र १३-१५ वै ।

इच्छा धूमधूमधृदजयोर्यथा सङ्गुर्च यः 'सहकमभावनियमः'—सहभाविनोः सहभावनियमः कमभाविनोः कमभावनियमः, साध्यसाधनयोरिति प्रकरणाललभ्यते सः अविनाभावः ॥१०॥

३७—अथेवंविधोऽविनाभावो निश्चितः साध्यप्रतिपत्यङ्गमित्युक्तम् । तन्निश्चयः कुतः प्रभाणात्? । न तावत् प्रत्यक्षात्, तस्येन्द्रियकस्य सन्निहितविषयविनियममितव्यापारत्वात् । मनस्तु यद्यपि सर्वविषयं तथापीन्द्रियगृहीतार्थगोचरत्वेनैव तस्य प्रवृत्तिः । अन्यथान्धि-वधिराद्यभावप्रसङ्गः । सर्वविषयता तु सकलेन्द्रियगोचरार्थविषयत्वेनैवोच्यते, न स्वातन्त्र्येण । योगिप्रत्यक्षेण त्वविनाभावयहणेऽनुमेयार्थप्रतिपत्तिरेव ततोऽस्तु, किं तपस्त्विनाऽनुमानेन? । अनुमानास्त्वविनाभावनिश्चयेऽनवस्थेतराध्यदोषप्रसङ्ग उक्त एव । न च प्रभाणान्तरमेवंविषयविषयगृहणप्रबणमस्तीत्याह—

ऊहात् तन्निश्चयः ॥११॥

३८—'ऊहात् तकदुष्टतलकणात्तस्याविनाभावस्य 'निश्चयः' ॥११॥

जैसे पूर्वचर-उत्तरचर, तथा धूम और अविन जैसे काष्ठ-कारण कमभावी कहलाते हैं। इनमें से सहभावी पदार्थों का सहभावनियम और कमभावी पदार्थों का कमभावनियम अविनाभाव कहलाता है। प्रकरण से साध्य और साधन का सह-कमभावनियम समझना चाहिए ॥१०॥

३७-प्रश्न इस प्रकार का अविनाभाव जब निश्चित हो तो ही साध्य के जान का कारण होता है, ऐसा कहा गया है। अब प्रश्न यह है कि अविनाभाव का निश्चय किस प्रभाण से होता है? प्रत्यक्ष प्रभाण उसका निश्चायक नहीं हो सकते योंकि इन्द्रियज्ञ प्रायक सन्निहित विषय तक ही सीमित हैं। मन यद्यपि सर्व पदार्थों को विषय करता है तथापि इन्द्रियों द्वारा गृहीत पदार्थों में ही उसकी प्रवृत्ति होती है। अगर भन इन्द्रिय-अगृहीत पदार्थों को भी जानता तो कोई अन्याया नहिरा आदि न होता-मनमें ही रूप एवं शब्द का ज्ञान हो जाता। फिर जी मन को जो सर्वविषयक कहा है, उसका अभिप्राय यहो है कि यह सभी इन्द्रियों के विषय को जान सकता है; यह अभिप्राय नहीं है कि वह स्वतन्त्र-इन्द्रियनिरपेक्ष रूप से भी जानता है। अगर योगिप्रत्यक्ष से अविनाभाव का प्रहृण माना जाय तो उससे तो अनुमेय पदार्थ ही साक्षात् जाना जा सकता है। वहाँ बेचारे अनुमान की क्या आवश्यकता है?

अनुमान प्रमाण से अविनाभाव का निश्चय होना माना जाय तो अवश्यक और इतरेतराध्यदोषों का प्रसंग होता है। यह पहले ही (सूत्र ५ में) कहा जा चुका है। प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिनिवृत अन्य कोई प्रभाण नहीं हैं जो इस प्रकार के विषय को प्रहृण करने में समर्थ हो सके। इस प्रबन्ध का उत्तर आगे के सूत्र में दिया गया है।

सूत्रार्थ—ऊह अर्थात् तर्क नामक प्रभाण से अविनाभाव का निश्चय होता है ॥११॥

३८—ऊह प्रभाण का लक्षण पहले ही बतलाया जा चुका है। उसी से अविनाभाव-व्याप्तिका निश्चय होता है ॥११॥

३९—लक्षितं परीक्षितं च साधनम् । इदानीं तत् विभजति—
स्वभावः कारणं कार्यमेकार्थसमवायि विरोधि
चेति पञ्चधा साधनम् ॥१२॥

४०—स्वभावादीनि चत्वारि विधेः साधनानि, विरोधि तु निषेधस्येति पञ्चवि-
धम् साधनम् । 'स्वभावः' यथा शब्दनित्यत्वे साध्ये कृतकर्त्वं आवणत्वं च ।

४१—तनु आवणत्वस्यासाधारणत्वात् कर्त्तव्याप्तिसिद्धिः? । विषयं बाधकप्र-
माणबलात् सत्त्वस्येदेति द्रूपः । न चैव सत्त्वमेव हेतुः तद्विशेषस्योत्पत्तिमत्त्व-कृत-
कर्त्व-प्रयत्नानन्तरीयकर्त्व-प्रत्ययभेदभेदित्वादेव हेतुत्वापत्तेः । किञ्चित्किमिदमसाधारणत्वं

३९—साधन का लक्षण और परीक्षण किया जा चुका । अब उसके भेदों की व्याप्तिसामाजी जाती
है—सूक्ष्मार्थ-स्वभाव, कारण, कार्य एकार्थसमवायी और विरोधी, यह पाँच प्रकार का साधन है ॥१२॥

४०—स्वभाव आदि चार साधन विधि के साधक हैं और विरोधी साधन निषेध का साधक
है । इस प्रकार साधन के पाँच प्रकार हैं । इन के स्थान परिवर्तन निम्नलिखित हैं—

(१) स्वभाव हेतु—शब्द की अनिस्थिता सिद्ध करने में 'कृतकर्त्व' या 'आवणत्व' हेतु
स्वभाव-साधन है ।

४१—शंका--'आवणत्व' हेतु असाधारण है—पक्ष के अतिरिक्त अन्यत्र (स्वप्नमें) नहीं पाया
जाता; अतएव उसकी साध्य के साथ व्याप्ति कैसे सिद्ध हो सकेगी?

समाधान—अनित्यत्व से विपरीत नित्यत्व में बाधक प्रमाण विद्यमान है । उस बाधक
प्रमाण के बल से ही व्याप्ति सिद्ध हो जाती है । तात्पर्य यह है कि शब्द उच्चारण से पहले
आव्य नहीं था, उच्चारण करते ही आव्य हो गया । नित्य में इस प्रकार अवस्थान्तर संभव नहीं
है । इस बाधक प्रमाण के बल से 'आवणत्व' हेतु को 'अनित्यत्व' साध्य के साथ व्याप्ति सिद्ध
होती है । स्वयं बोलों का माना हुआ 'सत्त्व' हेतु भी सप्तक में नहीं रहता; फिर भी वे क्षणि-
कर्त्व के साथ उसको व्याप्ति स्वीकार करते हैं । केवल 'सत्त्व' ही एक मात्र ऐसा हेतु है जो
असाधारण होकर भी गमक हो सकता है; ऐसी बात नहीं है । अन्यथा सत्त्व के विशेष जो
उत्पत्तिमत्त्व, कृतकर्त्व, प्रयत्नानन्तरीयकर्त्व और प्रत्ययभेदभेदित्व आदि हेतु हैं, वे सब अहेतु हो
जाएंगे । इसके अतिरिक्त असाधारण हेतु किसे कहते ही? यदि तिफे पक्ष में ही रहना हेतु को
असाधारणता है तो सब पदार्थों की क्षणिकता सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त आप का 'सत्त्व' हेतु

१—शब्द अनित्य है, क्योंकि वह कृतम् है, अथवा—स्पोकि वह आवण है । यहीं कृतकर्त्व और आवणत्व
स्वभाव नामक माध्यन है । २—सब पदार्थ क्षणिक हैं, स्पोकि सत् है । यहीं सत्त्व हेतु भी पक्ष के अतिरिक्त अन्यत्र
महीं पाया जाता । ३—सत्त्व का अर्थ अर्थकिपा कार्यत्व है, अर्थात् आवणत्व जी एक प्रकार का सत्त्व हो है ।
इसी प्रकार हेतुओं के लिए यथायोग्य समझ रहा चाहिए ।

नाम?। यदि पक्ष एवं वर्तमानत्वम् ; तत् सर्वस्मिन् क्षणिके साथ्ये सत्त्वस्यापि समानम् । साध्यधर्मवतः पक्षस्यापि सपक्षता चेत् ; इह कः प्रवृष्टः?। पक्षादन्यस्येव सपक्षत्वे लोहलेख्यं वज्रं पार्थिवत्वात् पार्थिवदित्यश्च पार्थिवत्स्यविलोहलेख्यस्य वज्रे गमयेत् । अन्यथानुपपत्तेरभावान्वेति चेत् ; इदमेव तहि हेतुलक्षणमस्तु । अपक्षधर्मस्यापि साध्यन्तत्वपत्तिरिति चेत् ; अस्तु यद्यविनाभावोऽस्ति शकटोदये कृत्तिकोदयस्य, सर्वज्ञसद्गुर्वे संवादिन उपदेशस्य गमकत्वदर्शनात् । काकस्य काण्ड्यं न प्राप्तादे धावल्यं विनानुपपद्यमानमित्यनेकान्तादगमकम् । तथा, घटे चाक्षुषत्वं शब्देऽनित्यतां विनाप्युपद्यमानमिति । तद्व श्रावणत्वादिरसाधारणोऽप्यनित्यतां व्यभिचरति । ननु कृतकस्याच्छब्दस्यनित्यत्वे साध्ये पर्यायवद् द्रव्योऽप्यनित्यता प्राप्नोति । नैवम् पर्यायामेवानित्यतायाः साध्यत्वात्, अनुकृतमपीच्छाविषयीकृतं साध्यं भवतीति कि इम प्रस्तु-

भी असाधारण होना चाहिए । अगर वहाँ साध्य धर्म वाले पक्ष को ही संपक्ष मान लेते हो तो वहाँ भी ऐसा मान लेने में क्या होता है? यदि ऐसा कहते हो कि सपअ, पअ से निज ही होना चाहिए तो 'वज्र लोहलेख्य है, क्योंकि वह पार्थिव है, जैसे काण्ड' । यहाँ पार्थिवत्व हेतु वज्र में लोहलेख्यता का गमक होना चाहिए (क्योंकि यहाँ पअ से निज संपक्ष विद्यनान है) । यदि कहो कि पार्थिवत्व के साथ लोहलेख्यता का अविनाभाव नहीं है, इस कारण वह गमक नहीं है तो किर अविनाभाव को ही हेतु का लक्षण स्वीकार करना चाहिए । सपक्षसत्त्व हो या न हो)

इकायदि अविनाभाव को ही हेतु का लक्षण मान लिया जाय और सपक्षसत्त्व न होने पर भी हेतु गमक हो जाय तो पक्ष धर्मता के विना भी हेतु गमक होने लगेगा । समाधान—यदि अविनाभाव दिक्षमान हो तो भले गमक हो जाय पक्ष धर्मता के विना भी शकटोदय साध्य में कृतिकोदय हेतु गमक होता है और सर्वज्ञ के सद्भाव में संवादक उपदेश गमक देखा जाता है (यद्यपि यहाँ पक्षधर्मता नहीं है) । 'प्राप्ताद धर्वः है, क्योंकि कौवा काला है,' यहाँ हेतु अविनाभावी है अर्थात् काक की कृष्णता की प्राप्ताद की धबलता के साथ व्याप्ति निश्चित नहीं है । इसी कारण अनेकान्तिक होने से यह हेतु गमक नहीं होता है ।

इसी प्रकार 'साध्य अनित्य है, क्योंकि घट चाक्षुष है' पह हेतु भी पक्षधर्मता के अभाव के कारण अगमक नहीं है, किन्तु अविनाभाव के अभाव के कारण अगमक है । घट में चाक्षुषता शब्द में अनित्यता के विना भी हो सकती है । तात्पर्य यह है कि हेतु भले समक्ष यह पक्ष में न रहता हो, किन्तु यदि साध्य के साथ उसका अविनाभाव निश्चित है तो वह गमक हो ही जाता है । प्रस्तुत में 'श्रावणत्वं' हेतु असाधारण अर्थात् समक्ष में न रहता हुआ भी अनित्यत्व का अविनाभावी है ।

(—एक मुद्दत्वं पश्चात् शकट नक्षत्र का उदय होगा, क्योंकि अभी कृतिका का उदय है ।

२—कोई मुहूर्ष सर्वज्ञ है, क्योंकि उद्योगिष ज्ञान में संवाद की अन्यथानुपस्थिति है ।

सति भवान् ? । ननु कृतकत्वानित्यत्वयोस्तादात्म्ये साधनवत् साध्यस्य सिद्धत्वम्, साध्य-
वच्च साधनस्य साध्यत्वं प्रसज्जति । सत्यमेतत्, किं तु मोहनिवर्तनार्थः प्रयोगः । यदाह-

“सादेरपि न सान्तत्वं व्यापोहाद्योऽधिगच्छति ।

साध्यसाधनतैङ्गस्य लं प्रति स्यात्तद दोषभाक् ॥”

४२—‘कारण’ यथा बाष्पभावेन मशकवर्तिरूपतया वा सन्दिह्यमाने धूमेऽग्निः, विशिष्टमेघोभ्यतिर्वा वृष्टी । कथमयमाबालगोपालाविपालाङ्गनादिप्रसिद्धोऽपि नोप-
लब्धः सूक्ष्मदशिनापि न्यायवादिना ? । कारणविशेषदर्शनाद्वि सर्वः कार्यार्थी प्रवर्तते ।
तु तु विशेषो ज्ञातव्यो योऽव्यभिचारी । कारणत्वनिश्चयादेव प्रवृत्तिरिति चेत्;
अस्त्वसौ लिङ्गविशेषनिश्चयः प्रत्यक्षकृतः, फले तु भाविति नानुमानादन्यश्चिबन्धन-
भूतपश्यामः । वबचिद् व्यभिचारात् सर्वस्य हेतोरहेतुत्वे कार्यस्यापि तथा प्रसङ्गः ।
बाष्पादेरकार्यत्वान्नेति चेत्; अत्रापि यत् यतो न भवति न तत् तस्य कारणमित्यदोषः ।

शंका—ननु कृतकत्वाद्युदरयान्तिर्वते इत्यादि । शब्द कृतक होने से यदि अनित्य सिद्ध
किया जाय तो पर्याय के समैन व्रत्य में भी अनित्यता प्राप्त होगी । समाधान—नहीं, क्योंकि पर्यायों
की अनित्यता ही साध्य है । शब्द हारा न कहने पर भी जो इष्ट होता है, वही साध्य होता है,
यह बात आप कैसे भूल जाते हैं ? शंका—कृतकत्व और अनित्यत्व में यदि तावात्म्य संबंध है
(और कृतकत्व साधन तथा अनित्यत्व साध्य है) तो साधन के समान साध्य भी सिद्ध होना
चाहिए और साध्य के समान साधन भी असिद्ध होना चाहिए । समाधान—ठीक है; तथापि भ्रम
को दूर करने के लिए ऐसा अनुमानप्रयोग किया जाता है । कहा भी है—

जो व्यापोह के कारण सादि अर्थात् कृतक वस्तु की भी अनित्यता स्वीकार नहीं करता,
उसके लिये एक ही धर्म को साध्य और साधन बना लेना भी दोषात्पद नहीं है ।

४२—(२)—कारण हेतु—कहीं—कहीं कारण भी हेतु होता है । जैसे किसी को धूम में व्याष्प
या मजाकों को बालों का सदेह हो रहा हो तो वहीं धूम का निश्चय करने में अग्नि हेतु होता है।
अथवा वृष्टि के अनुमान में विशिष्ट भेदों को उद्धति हेतु होती है । विशिष्ट मेदों को चढ़ा देख
कर वर्षा का अनुमान तो बालक, गोपालक, गड़रिया और स्त्रियों में भी प्रसिद्ध है । फिर सूक्ष्मदशीं
न्यायवादी (बौद्ध-धर्मकीर्ति) इसे क्यों नहीं समझ पाते ? कारणविशेष अर्थात् अविकल कारण
को देख कर सभी कार्यार्थी प्रवृत्ति करते हैं । हाँ, ‘विशेष’ वही समझना चाहिए जो अव्यभिचारी
हो अर्थात् जिसकी विद्यमानता में कार्य को उत्पत्ति अवश्य ही हो । शंका—कारणता के निश्चय से
हो प्रवृत्ति होती है । समाधान—कारणविशेष का निश्चय प्रत्यक्ष से भले ही हो जाय, किन्तु अविष्य
में होने वाले फल (कार्य) का निश्चय तो अनुमान के अतिरिक्त किसी से हो नहीं सकता । कहीं—
कहीं कारण के होने पर भी कार्य नहीं होता ऐसे व्यभिचार को देख कर यदि सभी करणों का अहेतु
आना जाय तो कार्य भी अहेतु हो जायेगा । अगर कहा जाय कि कार्य कारण से कभी व्यभिचारित
नहीं होता, और धूम के रूप में समझ लिये जाने वाले व्याष्प आदि जो व्यभिचारी देखे जाते हैं
वे वास्तव में कार्य ही नहीं हैं तो यही तर्क कारणहेतु के विषय में भी स्वीकार करना चाहिए ।

यथैव किञ्चित् कारणमुद्दिश्य किञ्चित्कार्यम्, तथैव किञ्चित् कार्यमुद्दिश्य किञ्चित्कारणम् । यद्वेबाजनकं प्रति न कार्यत्वम्, तद्वेबाजन्यं प्रति न कारणत्वमिति नान् योः कश्चिद्द्विशेषः । अपि च रसादेकसामग्रजनुमानेन रूपानुमानमिच्छता न्यायवादिनोष्टमेव कारणस्य हेतुत्वम् । यदाहु—

“एक्सामग्न्यधीनस्य रूपादेरसतो गतिः ।

हेतुव्याप्तिनुभवेन धूमेन्धनविकारवत् ॥” [प्रभाग चा० १.१०] इति ।

४३—न च वयमपि यस्य कस्यचित् कारणस्य हेतुत्वं द्वूमः । अपि तु यस्य न मन्त्रादिना शक्तिप्रतिबन्धो न वा कारणान्तरवैकल्यम् । तत् कुतो विज्ञायत इति चेत्; अस्ति तावद्विगुणादितरस्य विशेषः । तत्परिज्ञनं तु प्रायः पांशुरपादानामप्यस्ति । यदाहुः—

जो कार्य जिस कारण के होने पर भी न हो, वह वास्तव में उस कार्य का कारण ही नहीं कहा जा सकता । ऐसे किसी कारण के प्रति ही कोई कार्य कहलाता है वैसे ही किसी कार्य के प्रति ही कोई कारण कहलाता है । ऐसे अजनक की अपेक्षा कार्यत्व नहीं माना जाता, उसी प्रकार अजन्य के प्रति कारणत्व भी नहीं माना जाता । तात्पर्य यह है कि जो वस्तु नियमपूर्वक जिस कारण से उत्पन्न होती है, वही उसकर कार्य कहलाती है । अदि उस कारण के होने पर भी वह वस्तु उत्पन्न न हो तो वह उसका कार्य नहीं कहलाती । इसी प्रकार कारण वही है जो अवश्यमेव कार्य को उत्पन्न करे । यदि उसके होने पर भी कार्य की उत्पत्ति न हो तो उसे कारण ही नहीं कहा जा सकता । इस दृष्टि से कार्य हेतु और कारण हेतु में कोई अन्तर नहीं है—दोनों ही अवश्यमिच्छिरित हैं । इसके अतिरिक्त एक बात भी है । वैद्य वर्तमानकालीन रस से उसकी उत्पादक सामग्री का अनुमान करते हैं । वह सामग्री पूर्वक्षणवर्ती रस और रूपादिक हैं, व्योंकि पूर्वक्षणवर्ती रस वर्तमानकालीन रस से उत्पादन कारण और रूपादि सहकारी कारण होते हैं । यह सभी मिलकर सामग्री कहलाते हैं । यह वर्तमानकालीन रस से पूर्वक्षणवर्ती रस रूप आदि का अनुमान करना कार्य से कारण का अनुमान है । तत्पद्वात् ये पूर्वक्षणवर्ती रूप से वर्तकालीन रूप का अनुमान करते हैं । अर्थात् पूर्वक्षणवर्ती रूप ने निभित्त कारण हो कर जब वर्तमानकालीन रस को उत्पन्न किया है तो उपादान कारण होकर वर्तमानकालीन रूप को भी उत्पन्न किया होगा, इसप्रकार कारण से कार्य का भी अनुमान करते हैं । अतएव उन्हें कारण को भी हेतु स्वीकार करना चाहिए । कहा भी है—‘एक सामग्री के अधीन रूप आदि का रस से ज्ञान होता है । हेतु के धर्म के अनुमान से धूम और इन्द्रियनविकार के समान ।’

४३—हम भी जिस किसी कारण को हेतु नहीं कहते, किन्तु जहाँ मंत्रादि के द्वारा कारण की शक्ति में प्रतिबन्ध (रुक्षावट) न किया गया हो और दूसरे सहकारी कारणों की विकलता (अपुर्णता) न हो, वही कारण को हेतु मानते हैं (व्योंकि ऐसा समर्थ हेतु कार्य को उत्पन्न किये जिन्होंने रह नहीं सकता) शंका—मगर यह कैसे जाना जाय कि कारण का सामर्थ्य प्रतिबद्ध नहीं है और कारणान्तर की विकलता नहीं है? समर्थान—विगुण कारण से संगुण कारण में अन्तर होता ही है । उस अन्तर को गंधार हल्दियां ही समझ लेते हैं । कहा भी है—

गम्भीरगजितारम्भनिभिन्नगिरिगद्वराः ।

स्वङ्गतडिललतासङ्गपिशद्गोतुद्गविग्रहाः ॥” [च्यायम् ० पृ० १२९]

‘रोलम्बगवलव्यालतमालमलिनस्त्विष्ठः ।

वृष्टिव्यभिचरन्तीह नैवंप्राप्याः पथोमुच्चः ॥” [च्याय. म. १२९] इति ।

४४—‘कार्यम्’ यथा वृष्टौ विशिष्टनदीपूरः, कुशानौ धूमः, चेतन्ये प्राणादिः ।

पूरस्य विशिष्टत्वे कर्थं विजायत इति चेत्; उक्तमन्त्र नैयायिकः । यदाहुः—

“आवर्तवर्तनाशालिविशालकलुषोदकः ।

कल्लोलविकटासफालस्फुटफेनक्षटाङ्गितः ॥

वहद्वहलशेवालफलशाद्वलसद्कुलः ।

नदीपूरविशेषोऽपि शक्यते न न वेदितुम्? ॥” (च्यायम् ० पृ० १३०)

इति धूमप्राणादीनामपि कार्यत्वनिदत्तयो न दुष्करः । यदाहुः—

“कार्यं धूमो हुतशुजः कार्यद्वर्षानुबृत्तिः ।

स भवस्तदभावेऽपि हेतुमत्तां विलङ्घयेत् ॥” (प्रमाणवा० १.३५)

‘जो मेघ अपनी गंभीरगजेना से पर्वत को गुफाओं को खेद डालते हैं, जिनमें अमरमती हुई विजली होती है और उसके कारण जिन में से ये पीड़ापत आता है जो ऊँचे होते हैं और जिनका अर्थ अमर, अथल (भैंस का सींग) सर्प, और तमाल के समान मलीन होता है, प्राप्यः इस प्रकार के मेघों के होने पर अवश्य वृष्टि होती है ।’

(३) कार्यहेतु—जैसे वर्षा के अनुमान में विशिष्ट नदीपूर, अग्नि के अनुमान में धूम, चेतन्य के अस्तित्व में प्राणादि हेतु एकार्यहेतु है ।

शंका—पूर की विशिष्टता कंसे जानी जा सकती? समाधान—नैयायिकों ने इस सम्बन्ध में ऐसा कहा है—यदि नदी का जल आवर्तों से युक्त, विशाल और मलीन हो, हिलोरों की अवर्द्धस्त टक्करों से रुपष्ट विलादी देने वाले फेनों की धरा में युक्त हो, अहते हुए सेवार, फल और धासफूल आदि से व्याप्त हो, तो वह विशिष्ट नदीपूर है । ऐसा विशिष्ट नदीपूर जाना न जा सकता हो, ऐसी बात नहीं है ।

धूम अग्नि का कार्य है और प्राणादि चेतन्य के कार्य हैं, इस तथ्य का निर्णय करना भी कठिन नहीं है । कहा भी है—

धूम, अग्नि का कार्य है, क्योंकि उसमें कार्य का धर्म पाया जाता है—वह कारण (अग्नि) के होने पर ही होता है और उसके अभाव में नहीं होता है । यदि धूम अग्नि के अभाव में हो तो वह अपने अग्निकार्यत्व का उल्लंघन करे अर्थात् अग्नि का कार्य ही न हो ।

१—ऊपर कहीं वर्षा हुई है, क्योंकि नदी में विशिष्ट पूर आ रहा है, पर्वत में अग्नि है, क्योंकि धूम विलादी देता है, यह जारी चेतन्यवान् है, क्योंकि इवासौचित्यवास आदि है ।

४५-कारणभावेऽपि कार्यस्य भावे अहेतुत्वमन्यहेतुत्वं वा भवेत् । अहेतुत्वे सदा सत्त्वमसत्त्वं वा भवेत् । अन्यहेतुत्वे हृष्टादन्यतोऽपि भवतो न हृष्टजन्यता अन्याभावेऽपि हृष्टाद्गुवतो नान्यहेतुकत्वमित्यहेतुकत्वं स्थात् । तत्र चोक्तम्—“यस्त्वन्यतोऽपि भवन्मुखलब्धो न तस्य धूमत्वं हेतुभेदात् । कारणं च वल्लिधूमस्य इत्युक्तम् ।”अपि च-अग्निस्वभावः शक्तस्य भूर्ढी यद्यग्निरेव सः ।

अथानग्निस्वभावोऽसौ धूमस्तत्र कथं भवेत् ॥”(प्रमाणवा० १.३७) इति ।

४६—सथा चेतनां दिनानुपपद्मामानः कार्य प्राणादिरनुमापयति तां आवणत्वमिवानित्यताम् विषयेये बाधकवशात्सत्वस्येवास्यापि व्याप्तिसिद्धेरित्युक्तप्रायम् । तप्तप्राणादिरसाधारणोऽपि चेतनां व्यभिचरति ।

४७—किञ्च नान्ययो हेतो रूपं तदभावे हेत्वाभासाभावात् । विषक्ष एव सन् विरुद्धः, विषक्षेऽपि-अनेकान्तिकः, सर्वज्ञत्वे साध्ये वक्तुत्वस्यापि व्यतिरेकाभाव एव हेत्वाभासस्वे निमित्तम्, नान्ययसन्वेह इति न्यायवादिनायि व्यतिरेकाभावादेव हेत्वाभावः ।

४८—कारण के अभाव में भी कार्य होता है तो या तो वह निर्हेतुक समझा जाएगा या अन्य हेतुक । यदि वह निर्हेतुक है तो उसको सर्वत्र सल्लाया सर्वेष असत्ता होनी चाहिए । यदि वह अन्यहेतुक है तो हृष्ट कारण जन्य नहीं होगा और अन्य कारण के अभाव में हृष्ट कारण से जनित होगा तो अन्य कारण भी नहीं रहेगा । इस प्रकार अनियत हेतुक होने से उसे निर्हेतुक ही मानना पड़ेगा । कहा भी है—‘जिसकी उत्पत्ति अन्य कारण से भी होती देखी जाती है, वह वस्तुतः धूम ही नहीं है, वर्षों के उसका कारण दूसरा है । धूम का कारण तो अग्नि है । अर्थात् यह निश्चय है कि धूम का उद्भव अग्नि से ही होता है, ऐसी स्थिति में जो अग्नि के सिवाय किसी अन्य कारण से उत्पत्ति होता है उत्तर धूम ही नहीं समझना चाहिए । और भी कहा है—

इन्द्रसूर्या यदि अग्निस्वभाव है तो वह अग्नि ही है । और यदि वह अग्निरूप नहीं है तो वही तो कैसे हो सकता है ?

४८—इसके प्रकार चेतना के विना नहीं होने वाला प्राणादि कार्य (इवासोऽवृद्ध्वासादि) चेतना का अनुमापक होता है जैसे आवणत्व हेतु अनियतता का अनुमापक होता है । यह तो पहले कह ही चुके हैं कि विषय ये बाधक प्रमाण होने से प्राणादि हेतु की सत्त्व हेतु के समान व्याप्ति सिद्ध होती है । अतएव प्राणादि हेतु असाधारण अर्थात् सप्तसत्त्व से रहित होने पर भी चेतना से व्यभिचरित नहीं है ।

४९—इसके असिरिकत अन्वय हेतु का स्वरूप नहीं है, वर्षोंकि अन्वय के अभाव में भी कोई हेतु हेत्वाभास अहो होता । जो हेतु विषक्ष में ही रहता है, वह विरुद्ध कहलाता है, जो विषक्ष में भी (और सप्तक में भी) रहता है, वह अनेकान्तिक होता है । सर्वज्ञत्व साध्य में वक्तुत्व हेतु भी हेत्वाभास है सो व्यतिरेक के अभाव के कारण है अन्वय में सन्वेह होने से नहीं । न्यायवादी (धर्मकीर्ति) ने भी व्यतिरेक के न बनने से भी हेत्वाभास कहे हैं । किसी असाधारण हेतु के विषय में

भासावुक्तौ । असाधारणोऽपि यदि साध्याभावेऽसशिति निश्चीयेत् तदा प्रकारात्मतरा भावात्साध्यमुपस्थापयन्नानेकान्तिकः स्यात् । अपि च यद्यन्वयो रूपं स्यात् तदा यथा विष्णुकदेशवृत्तेः कथचिच्चदव्यतिरेकादगमकत्वम्, एवं सपक्षेकदेशवृत्तेऽपि स्यात् कथचिच्चदनन्वयात् । यदाह-

“रूपं यद्यन्वयो हेतोव्यतिरेकवदिव्यते ।
“साइक्षोऽप्यो न साधारणव्यभयो यथा ॥”

सपक्ष एव सत्त्वमन्वयो न सपक्षे सत्त्वमेवेति चेत्; अस्तु, स तु व्यतिरेक एवेत्यस्मन्मतमेवाङ्गीकृतं स्यात् । व्ययमपि हि प्रत्यपीपदाभ्य अन्यथानुपपत्येकलक्षणो हेतुरिति ।

४८--तथा, एकस्मिन्नर्थे हृष्टेऽहुष्टे वा समवाय्याश्रितं साधानं साध्येन । तच्चेर्थसमवरपित्वम् एकफलादिगतयो रूपरसयोः, शकटोदय-कृत्तिकोदययोः, चन्द्रोदय-समुद्रबृहद्योः, बृहिः-साण्डपियोलिकाक्षोभयोः, नरगवल्लीदाह-पत्रकोथयोः । तत्र एकार्थसमवायी रसो रूपस्य, रूपं वा रसस्य; नहि समानकालभाविनोः कार्यकारणभावः सम्भवति ।

यदि यह निश्चय ही जाय कि वह साध्य के अभाव में नहीं होता तो वह साध्य का साधक होगा ही, उसे अनेकान्तिक नहीं कहा जा सकता । हेतुलत्व के लिये यही एक प्रकार है कि वह साध्य के अभाव में न हो । इसी बात यह है कि यदि अन्वय को हेतु का स्वरूप माना जाय तो जैसे विष्णु के एक देश में रहने से भी किसी अंश में विष्णुसत्त्व न होन से हेतु अगमक हो जाता है, उसी प्रकार सपक्ष के एक देश में रहने वाला भी हेतु अगमक हो जाना चाहिए, क्योंकि उसमें भी किसी अंश में अन्वय (सपक्षसत्त्व) नहीं पाया जाना है । कहा जाते हैं—

‘यदि दद्यतेरेक (विष्णुसत्त्व) के समान अःदय (सपक्षसत्त्व) को भी हेतु का स्वरूप स्वीकार किया जाय तो जो हेतु सपक्ष के एक देश में रहता है और एक देश में नहीं रहता, वह हेतु नहीं होना चाहिए; जैसे कि विष्णु के एक देश में रहने वाला और एक देश में न रहने वाला हेतु नहीं होता है ।’शंका—सपक्ष में ही रहना अन्वय कहलाता है, सपक्ष में रहना ही घटित ऐसा अन्वय का स्वरूप नहीं है । अर्थात् हेतु यदि सपक्ष में रहे भी और न भी रहे तो भी अन्वय घटित हो जाना है, केवल विष्णु में नहीं रहना चाहिए । समाधान-तब तो यह व्यतिरेक ही कहलाया और इस प्रकार से आपने हमारे मत को ही स्वीकार कर लिया । आखिर हम भी यही कहते हैं कि हेतु का एक मात्र लक्षण अन्यथानुपत्ति ही है ।

४८-(४) एकार्थसमवायि-हृष्ट या अहृष्ट एक ही पदार्थ में समेक्य से जो साधान साध्य के साथ रहा हुआ हो, वह एकार्थसमवायि कहलाता है । वह एकार्थसमवायि एक ही फल में रहे हुए रूप और रस में, शकटोदय और कृत्तिकोदय में, चन्द्रोदय और समुद्रबृहदि में, बृहिः और अण्डोंसहित पियोलिकाओं के क्षोभ में तथा नरगवल्लीदाह और पत्रकोथ में समझना चाहिए । यहाँ रस रूप का और रूप रस का एकार्थसमवायी है । क्योंकि ये समकालभावी वस्तुओं में कार्यकारणभाव नहीं होता ।

४९—ननु समानकालकार्यजनक कारणमनुमात्यते इति चेत् ; त तहि कार्यमनु-
मितं स्थात् । कारणानुमाने सामर्थ्यत् कार्यमनुमितमेव, जन्याभावे जनकत्वाभावा-
दिति चेत् ; हस्तैर्व कारणं कार्यस्यानुमापकमित्यनिष्टमापश्येत् । शकटोदयकृत्तिकोव-
यादीनां तु यथाऽविनाभावे साध्यसाधनभावः । यदाह—

“एकार्थसमवायस्तु यथा येषां तथैव ते ।

गमका गमकरत्तम शकटः कृत्तिकोवितेः ।”

एतमन्येष्वपि साधनेषु वाच्यम् । ननु कृतकत्वानित्यपत्वयोरेकार्थसमवायः परस्मान्ते-
ष्यते? ; न, तयोरेकत्वात् । यदाह—

चन्तापेक्षिणी सत्ता कृतकत्वमनित्यता ।

एकैव हेतुः साध्यं च द्वयं नैकाश्रयं ततः ॥” इति ।

५०. स्वभावादीनां चतुर्णां साधनानां विधिसाधनता, निषेधसाधनत्वं
तु विरोधितः । स हि स्वसम्प्रिधानेनेतरस्य प्रतिषेधं साध्यति, अन्यथा विरोधासिद्धेः ।

५१—‘च’शब्दो यस एते स्वभावकारणकार्यव्यापका अन्यथानुपपश्चाः स्वसाध्य-

४९—शंका—यदि समकालीन कार्यजनक कारण का अनुमान कर लिया जाय तो क्या हानि
है? समाधान—तो यह कार्य का अनुमान नहीं कहलाया ।

शंका—कारण का अनुमान कर लेने पर सामर्थ्य से कार्य का भी अनुमान हो ही जाएगा^१
क्योंकि जन्य के अभाव में जनक(कारण) होता ही नहीं है । समाधान—तब तो कारण, कार्य का
अनुमापक हो जाएगा । यह आय को इष्ट नहीं है । शकटोदय और कृत्तिकोवय आदि का अभि-
न्यासाव के अनुसार साध्यसाधनभाव होता है । कहा भी है—

‘जिन बस्तुओं में जिस प्रकार का एकार्थसमवायसंबंध होता है, वे उसी प्रकार से गमक होती
हैं । अतएव शकटोदय कृत्तिकोवय का गमक नहीं होता (किन्तु कृत्तिकोवय ही मात्रिकटोदय का
गमक होता है ।) यही बात अन्य एकार्थसमवायिसाधनों के विषय में समझना चाहिए ।

शंका—कृतकत्व और अनित्यत्व में एकार्थसमवायसंबंध क्यों स्वीकार नहीं किया जाता ?
समाधान—वे दोनों एक ही हैं, अतएव दोनों में एकार्थसमवाय नहीं है कहा भी है—

‘आदि और अन्य की अपेक्षा रखने वाली सत्ता कृतकत्व है और वही अनित्यता है । वही
हेतु और वही साध्य है, अतएव वे दोनों एकार्थसमवायि नहीं हैं ।

५०—ये स्वभाव आदि चार हेतु विधि के साधक होते हैं, किन्तु विरोधी हेतु निषेध का
साधक होता है । वह अपनी विद्यमानता में दूसरे का निषेध सिद्ध करता है, अन्यथा विरोध ही
सिद्ध नहीं हो सकता ।

(५१)—सूत्र में प्रथमकल ‘च’ शब्द विशेष अर्थ का दोतक है, वह बसलाता है कि—ये स्वभाव
कारण, कार्य और व्यापक एकार्थसमवायो-अन्यथानुपपश्च हों कर अपने साध्य के गमक-व्यापक होते

मुपस्थापयन्ति तत एव तदभावे स्वर्यं न भवन्ति, तेषामनुपलब्धिरव्यभावसाधनीत्याह । तत्र स्वभावानुपलब्धिर्यथा नात्र घटः, इष्टुं धोर्यस्यानुपलब्धेः । कारणानुपलब्धिर्यथा नात्र धूमोऽन्यभावात् । कायनिपलब्धिर्यथा नात्राप्रतिबद्धसामर्थ्यानि धूमकारणानि सन्ति धूमाभावात् । व्यापकानुपलब्धिर्यथा नात्र शिशापा वृक्षाभावात् ।

५२. विरोधि तु प्रतिषेधस्य तत्कार्यकारणव्यापकानां च विरुद्धं विरुद्धकार्यं च । यथा न शीतस्पर्शः, नाप्रतिबद्धसामर्थ्यानि शीतकारणानि, न रोमहर्षविशेषः, न तुषारस्पर्शः, अन्नेद्यूमाद्वेति प्रयोगनानात्वमिति ॥१२॥

५३— साधनं लक्षयित्वा विभज्य च साध्यस्य लक्षणमाह—

सिषाध्यिषितमसिद्धमवाध्यं साध्यं पक्षः १३॥

५४-साधयितुमिष्टं ‘सिषाध्यिषितम्’ । अनेन साधयितुमनिष्टस्य साध्यत्वव्यवच्छेदः, यथा वैशेषिकस्य नित्यः शब्द इति शास्त्रोक्ततत्वाद्वेषिकेणाभ्युपगतस्याप्याकाशगुणत्वादेन साध्यत्वम् तदा साधयितुमनिष्टत्वात् । इष्टः पुनरनुक्तोऽपि पक्षो भवति, यथा परार्थाश्चक्षरादयः संवातत्वात्तद्विषयानां द्विविदित्यत्र परार्था इत्यात्मार्थाः । हैं वह उसके अभाव में नहीं होता है, अतएव उनकी अनुपलब्ध भी अभाव को सिद्ध करती है, जैसे स्वभावानुपलब्ध-यहाँ धूम नहीं है क्योंकि अग्नि का अभाव है । कायनिपलब्ध-यहाँ अप्रतिबद्ध सामर्थ्य वाले धूम के कारण नहीं हैं क्योंकि धूम नहीं है । व्यापकानुपलब्ध-यहाँ शिशापा नहीं है क्योंकि वृक्ष का अभाव है ।

५२-विरोधी हेतु प्रतिषेध (निषेध रूप साध्य)या प्रतिषेध के कार्य, कारण और व्यापक से विरुद्ध होता है अथवा विरुद्ध का कार्य होता है । यथा-(क) यहाँ शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि अग्नि है (ख) यहाँ अप्रतिबद्ध सामर्थ्य वाले शीत के कारण नहीं हैं, क्योंकि अग्नि है (ग) यहाँ रोमहर्षविशेष नहीं है क्योंकि अग्नि है (घ) यहाँ तुषारस्पर्श नहीं है, क्योंकि अग्नि है । (यह पक्षमाशः विरुद्ध, विरुद्ध कार्य विरुद्ध करण और विरुद्ध व्यापक के उदाहरण हैं ।) यहाँ प्रतिषेध से विरुद्ध अग्नि का कार्यरूप हेतु ‘धूम’समझना चाहिए । जैसे-यहाँ शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि धूम है, इत्यादि । (शीतस्पर्श से विरुद्ध अग्नि है और अग्नि का कार्य धूम है, अतः धूम प्रतिषेध शीतस्पर्श से विरुद्ध अग्नि का कार्य हुआ ।) इस प्रकार नाना तरह से हेतुओं का प्रयोग होता है ॥१२॥

५३—साध्य का लक्षण—सूत्रार्थ—बादी जिसे सिद्ध करना चाहता हो, जो प्रतिवादी को सिद्धन हो और प्रमाण से बाधित न हो, वह साध्य कहलाता है । साध्य को पक्ष भी कहते हैं ॥१३॥

५४-जिसे सिद्ध करना इष्ट हो वह ‘सिषाध्यिषित’ कहलाता है । इस विशेषण से यह कहिल हुआ कि जिसे बादी सिद्ध न करना चाहे वह साध्य नहीं होता है । वैशेषिक के भूत के ज्ञात्वा में ‘शब्द नित्य है’ ऐसा कहा गया है । उन्होंने उसे आकाश का गुण भी माना है, फिर भी वह इसे वे सिद्ध नहीं करना चाहते तब वह साध्य नहीं होता । इसके विपरीत जो सिद्ध करने के लिए इष्ट है, वह शब्द से न कहने पर भी साध्य होता है । जैसे-चक्षु आदि परार्थ हैं, क्योंकि वे संधारत हैं, शयन एवं अशन आदि के अंगों के समान । यहाँ ‘परार्थ’ का अनिश्चाय है-आत्मार्थ ।

दुद्धिमत्कारणपूर्वकं क्षित्यादि कार्येत्यादित्यत्राऽशोरसर्वज्ञपूर्वकत्वमिति ।

५५—‘असिद्धम्’ इत्यनेनानैवसाय—संशय-विषययविषयस्य वस्तुनः साध्यत्वम्, न सिद्धस्य यथा श्रावणः शब्द इति ॥‘नानुपलब्धे न निणीते न्यायः प्रवर्तते’(न्यायशा० ११।।) इति हि सर्वपार्थदम् ।

५६—‘अबाध्यम्’ इत्यनेन प्रत्यक्षादिवाधितस्य साध्यत्वं मा भूदित्याह । एतत् साध्यस्य लक्षणम् । ‘पक्षः’ इति साध्यस्यैव नामान्तरमेतत् ॥१३॥

५७—अबाध्यग्रहणव्यवच्छेदां बाधां दर्शयति—

प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनप्रतीतयो बाधा ॥१४॥

५८—प्रत्यक्षादीनि तद्विरुद्धार्थोपस्थापनेन बाधकत्वात् ‘बाधाः’ । तत्र प्रत्यक्ष-बाधा यथा अनुष्णोऽग्निः, न भूय भूयस्म्, न सुमन्धि विवलन्मालतीमुकुलम्, अचाक्षु-यो घटः, अश्वावणः शब्दः, नास्ति बहिरर्थं इत्यादि । अनुमानबाधा यथा सरोम हस्तत-लम्, नित्यः शब्द इति वा । अत्रानुपलभेन कृतकत्वेन चानुमानबाधा । आगमबाधा यथा प्रेत्याऽसुखप्रदो धर्म इति । परलोके सुखप्रदत्वं धर्मस्य सर्वागमसिद्धम् । लोक-अवृत्ति आत्मा के लिए । तथा—पृथ्वी आदि दुद्धिमत्कर्तृक हैं, क्योंकि कार्य हैं यहाँ ‘दुद्धिमत्कर्तृत्व’ साध्यवाद से कहा गया है, फिर भी ‘अशोरसर्वज्ञपूर्वकत्व’ साध्य माना जाता है ।

५९—‘असिद्ध’ इस विशेषण से यह सूचित किया गया है कि जिस विषय में प्रतिवादी को अनुध्यवसाय, संशय या विषयेय हो, वही साध्य होता है । जो प्रतिवादी को सिद्ध है वह साध्य नहीं होता । जैसे ‘शब्द श्रावण’ है, यहाँ शब्द का श्रावणत्व निविवाद सिद्ध है अतः साध्य नहीं हो सकता । यह सर्वपक्षत है कि सर्वेषां अनुपलब्ध अतात और सर्वेषानिणीत वस्तु में हेतु की प्रवृत्ति नहीं होती ।

५६—‘अबाध्य’ इस विशेषण से प्रकट किया गया है कि जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से वर्णित है, वह साध्य नहीं होता । ‘पक्ष’ साध्य का ही पर्यायवाक्य शब्द है ॥१३॥

५७—अबाध्य विशेषण से उद्यवच्छेद बाधाएँ—सूत्रार्थ-प्रत्यक्षबाधा, अनुमानबाधा, आगमबाधा, लोकबाधा, स्ववचनबाधा और प्रतीति बाधा—यह सब साध्यसंबंधी बाधाएँ हैं ॥१४॥

५८—प्रत्यक्ष आदि साध्य से विपरीत अर्थे उपस्थापक होकर बाधक होने के कारण बाधा कहलाते हैं । अर्थात् जब प्रत्यक्ष साध्य से विपरीत अर्थे का साधक होता है तब वह प्रत्यक्ष बाधा है । इसी प्रकार अनुमानबाधा आदि समझना चाहिए । प्रत्यक्षबाधा, जैसे-अग्नि उल्ल नहीं है, भूय भूय नहीं है, मालती-मुकुल सुगंधप्रदत नहीं है, घट अशाकुष्ठ है, शब्द श्रावण नहीं है, (ज्ञान से) चिन्म पदार्थ नहीं १है, इत्यादि । अनुमानबाधा, जैसे-हृथेनी सरोम है, शब्द नित्य है । यहाँ ‘सरोम’ यह साध्य अनुपलभेन से वर्णित है और ‘नित्यत्व’ साध्य ‘कृतकत्व’ हेतु से वर्णित है । आगमबाधा,, जैसे-धर्म परलोक में दुःखदायी है, ‘यहाँ’ साध्य आगम से वर्णित है, क्योंकि सर्वे आगम धर्म के परलोक में सुखदायी कहते हैं । लोकबाधा, जैसे-‘मनुष्य के

१—ये क्रमशः स्वर्णनिद्र्यप्रत्यक्षबाधा, रसनेन्द्रियप्रत्यक्षबाधा आदि के उदाहरण हैं ।

बाधा यथा शुचि नरशिरःकपालमिति । लोके हि नरशिरःकपालदीनामशुचित्वं सुप्रसिद्धम् । स्ववचनबाधा यथा माता मे बन्ध्येति । प्रतीतिबाधा यथा अचन्द्रः शशीति अत्र शशिनश्चन्द्रशब्दवाच्यस्वं प्रतीतिसिद्धमिति प्रतीतिबाधा ॥१४॥

५९—अत्र साध्यं धर्मः, धर्मेष्वमित्समुदायो वेति संशयव्यवस्थेदायाह-

साध्यं साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी, क्वचित्तु धर्मः ॥१५॥

६०—‘साध्यम्’ साध्यशब्दवाच्यं पक्षशब्दाभिधेयमित्यर्थः । किमित्याहु ‘साध्य-धर्मेण’ अनित्यत्वादिना ‘विशिष्टो धर्मी’ शब्दादिः । एतत् प्रयोगकालायेऽसाध्यशब्दवाच्यस्वम् । ‘वधचित्तु’ व्याप्तिप्रहणकाले ‘धर्मः’ साध्यशब्देनोच्यते, अन्यथा व्याप्ते-रघटमात् । नहि धूमदर्शनात् सर्वत्र पर्वतोऽग्निमानिति व्याप्तिः शब्द्या कर्तुं प्रभाणविरोधादिति ॥१५॥

६१—धर्मिस्वरूपनिरूपणादाह—

धर्मी प्रभाणसिद्धः ॥१६॥

६१—‘प्रभाणः’ प्रत्यक्षादिभिः प्रसिद्धो ‘धर्मी’ भवति यथाग्निमानवं देश इति । सिर की सोषडी पवित्र है । लोक में नरमुण्ड की अपवित्रता सुप्रसिद्ध है, अतएव यह साध्य लोकबाधित है । स्ववचनबाधा, यथा—‘मेरी माता बन्ध्या है’ यहाँ ‘मेरी आत्मा’ यह कथन ही ‘बन्ध्या’ साध्य में वाक्यक है । प्रतीतिबाधा, यथा—‘अचन्द्रमा शशी नहीं है’ अर्थात् शशी शब्द का वाच्य नहीं है । अचन्द्रमा का शशी शब्द द्वारा वाच्य होना प्रसिद्ध है, अतएव इस ‘शशी नहीं है’ साध्य में प्रतीति से बाधा है ॥१६॥

५९—धर्म (अग्निमत्त्व) साध्य होता है अथवा धर्म और धर्मी का समुदाय (अग्निमत्त्व धर्म से युक्त पर्वत) साध्य होता है ? इस सशय को दूर करने के लिए कहते हैं—

सूक्ष्मार्थ-साध्य धर्म से युक्त धर्मी साध्य होता है; किन्तु कहीं धर्म भी साध्य होता है ॥१५॥

६०—साध्य या ‘पक्ष शब्द का वाच्य क्या है ? इसका उत्तर यह है कि अग्निमत्त्व आदि धर्म से विशिष्ट ‘शब्द, आदि धर्मी साध्य या पक्ष कहलाते हैं, अर्थात् ‘शब्द अनित्य है’ यहाँ अनित्यता धर्म आला शब्द यथा साध्य है, किन्तु यह विधान अनुपान करते समय के लिए है—जह अनु-मान प्रयोग किया जाता है तभी धर्मी साध्य होता है कहीं पर अर्थात् व्याप्ति को प्रहण करते समय तो नियम से धर्म ही साध्य होता है उस समय धर्म को ही साध्य न बना कर यदि धर्मी को साध्य बना लिया जाय तो व्याप्ति नहीं बन सकती । यहाँ धूमबस्त्र है वहाँ अग्निमत्त्व है, ऐसी व्याप्ति बनती है, मगर जहाँ धूम होता है वहाँ पर्वत में अग्नि होती है ऐसी व्याप्ति नहीं बनाई जा सकती, ऐसी व्याप्ति प्रभाण से बाधित है ॥१५॥

६१—धर्मी का स्वरूप—सूक्ष्मार्थ—धर्मी प्रभाण से सिद्ध होता है ॥१६॥

६२—धर्मी प्रत्यक्ष आदि प्रभाणों से सिद्ध होता है । जैसे यह स्थान अग्निमान् है । यहाँ धर्मी सिद्ध है ।

अत्र हि देशः प्रत्यक्षेण सिद्धः । एतेन—“सर्वे एवानुमानानुमेयव्यवहारो बुद्ध्यारुद्देन धर्मधर्मिन्यायेन न बहिः सदस्त्वमपेक्षते” इति सौगतं मतं प्रतिक्रिप्ति । नहीं यिक्त्यबुद्धिरस्तर्वहिर्वाङ्नासादितालम्बना धर्मिणं व्यवस्थापति, तदवास्तवत्वे तदाधारसा—धनयोरपि वास्तवत्वानुपर्फले: तद्बुद्धेः पारम्पर्येणापि वस्तुद्यक्षस्थापकत्वायोगात् । तसो विकल्पेनाभ्येन वा व्यवस्थापितः पर्वतादिविषयभावं भजन्नेव धर्मितां प्रतिपद्यते । तथा च सति प्रमाणसिद्धस्य धर्मिता युक्तैव ॥१६॥

६३—अपवादमाह—

बुद्धिसिद्धोऽपि ॥१७॥

६४—नेकान्तेन प्रमाणसिद्धे एव धर्मी, किन्तु विकल्पबुद्धिप्रसिद्धोऽपि धर्मी भवति । ‘अपि’ शब्देन प्रधाण-बुद्धिभ्यामुभाभ्यामपि दिक्षो धर्मी भवतीति दर्शयति । तत्र बुद्धिसिद्धे धर्मिणि साध्यधर्मः सस्त्वमस्त्वं च प्रमाणबलेन साध्यते, यथा अस्ति सर्वज्ञः, नास्ति षष्ठं भूतमिति ।

धर्मी को प्रमाण से सिद्ध कहने से बोलों का यह मत खंडित किया गया है कि—सभी साध्य और साधनसंबंधी व्यवहार बुद्धिकर्तित धर्मी-धर्मोन्याय से हो होता है अर्थात् कर्तित है । कल्पना से बाहर उसकी कोई सत्ता-असत्ता नहीं है । विकल्पबुद्धि बाह्य और आन्तरिक आलम्बन के विभा धर्मी की व्यवस्था नहीं करती । यदि साध्य और साधन का आधारभूत धर्मी ही वास्तविक न हो तो उसमें रहने वाले साध्य और साधन भी वास्तविक नहीं हो सकते । ऐसी स्थिति में विकल्पज्ञान परम्परा से भी वस्तु का व्यवस्थापक नहीं हो सकता । अतएव यही स्वेकार करना उचित है कि सविकल्पक या निविकल्पक ज्ञान द्वारा व्यवस्थापित पर्वत आदि सविकल्पक ज्ञान के विषय होकर ही धर्मी होते हैं, अतएव प्रमाणसिद्ध वस्तु को धर्मी कहना योग्य ही है ॥१७॥

६५—धर्मीविषयक अपवाद—सूत्रार्थ—धर्मी बुद्धिसिद्ध भी होता है ॥१७॥

६५—धर्मी एकान्तेन: प्रमाण से ही सिद्ध नहीं होता, किन्तु विकल्प बुद्धि से भी सिद्ध होता है । सूत्र में प्रयुक्त अपि (भी) ‘साध्य से यह धर्मिता किया गया है कि कोई-कोई धर्मी प्रमाण और बुद्धि बोनों से भी सिद्ध होता है । इन तीन प्रकार के धर्मियों में से बुद्धिसिद्ध धर्मी में सिर्फ सत्ता या असत्ता ही प्रमाण के द्वारा साध्य हो सकती है, इनके अतिरिक्त अन्य कोई विशेष धर्मी सिद्ध नहीं किया जा सकता । जैसे सर्वज्ञ है, षष्ठं भूत नहीं है । तात्पर्य यह है कि बुद्धिसिद्ध धर्मी सत्ता या असत्ता को सिद्ध करने के लिए मान लिया जाता है, क्योंकि किसी पदार्थ की सत्ता या असत्ता उसे पक्ष बनाये विना सिद्ध नहीं हो सकती ‘सर्वज्ञ है यह’ सिद्ध करने के लिए भी और ‘सर्वज्ञ नहीं है’ यह सिद्ध करने के लिये भी सर्वज्ञ को पक्ष बनाये विना काम नहीं चल सकता अतएव बुद्धिसिद्ध धर्मी तो आवश्यक है, किन्तु उसमें सत्ता अथवा असत्ता ही सिद्ध की जा सकती है ।

६५—ननु धर्मिणि साक्षादसति भावाभावोभयधर्मणामसिद्धविरुद्धानंकान्तिक-
त्वेनानुमानविषयत्वायोगात् कथं सत्त्वासत्त्वयोः साध्यत्वम्? । तदाह—

“नासिद्धे भावधर्मोऽस्ति व्याभिचार्युभयाश्रयः ।

विरुद्धो धर्मोऽभावस्य सा सत्ता साध्यते कथम्? ॥” (प्रमाणवा० १.१९२-३) इति ।

६६—नैवम्, मानसप्रत्यक्षे भावरूपस्यैव धर्मिणः प्रतिपञ्चत्वात् । न च तत्सिद्धौ तत्सत्त्वस्यापि प्रतिपञ्चत्वाद् व्यर्थमनुमानम्, तदभ्युपेतमपि वैयात्याद्यो न प्रतिपद्यते तं प्रत्यनुमानस्य साक्षात्यात् । न च मानसज्ञानात् खरविष्णादेवपि सद्गुदावसम्भावनातोऽतिप्रसङ्गः, तज्ज्ञानस्य बाधकप्रत्ययविष्लावितसत्त्वाक्वस्तुविषयतया मानसप्रत्यक्षाभासत्वात् । कथं तहि षष्ठभूतादेवधर्मित्वमिति चेत्; धर्मप्रयोगकाले बाधकप्रत्ययानुवयात्सत्वसम्भावनेऽपत्तेः । न च सर्वज्ञादौ साधकप्रमाणासत्वेन सत्त्वसंशोतिः, सुनिश्चिताऽसम्भवद्वाधक प्रमाणसत्त्वेन हुखदाविद सत्वनिश्चयासत्र संशयाद्योगात् ।

६५—प्रश्न—धर्मों की साक्षात् सत्ता नहीं है तो उसमें हेतुओं के भावधर्म, अभावधर्म और उभयधर्म कमशः असिद्ध विशद्ध और अनैकान्तिक हो जायेंगे अतएव वह अनुवय का विषय ही नहीं रहेगा तो सत्ता या असत्ता की कैसे सिद्ध किया जा सकेगा ? कहा भी है—

प्रमाण से असिद्ध धर्मों में हेतु यदि भावरूपधर्म होगा तो वह असिद्ध हो जाएगा, अभावधर्म रूप होगा तो विशद्ध हो जाएगा और यदि उभयधर्मरूप होगा तो व्यभिचारी हो जायगा । ऐसी स्थिति में सर्वज्ञ की सत्ता किस प्रकार सिद्ध की जा सकती है ?

६६—समाधान—मानस प्रत्यक्ष में भावरूप धर्मों ही प्रतिभासित होता है, कदाचित् कहा जाय कि यदि भावरूप धर्मों का प्रतिभास मान लिया जाय तो उसकी सत्ता भी सिद्ध हो जायगी, फिर उसकी सत्ता सिद्ध करने के लिए अनुपान का प्रयोग करना व्यर्थ हो जाएगा, किन्तु ऐसा कहना योग्य नहीं, क्योंकि स्वीकार किये हुए सत्त्व को भी जो हृष्ट करके नहीं मानता उसके लिए अनुपान व्यर्थ नहीं होता ।

शंका—मानस ज्ञान से खरविष्णाण आदि के अस्तित्व की भी संभावना की जा सकेगी तो अतिप्रसंग (अनिष्टापत्ति) होगा । समाधान-खरविष्णाण का ज्ञान ऐसी वस्तु को विषय करता है जिसकी सत्ता बाधक प्रमाण से खंडित है, अतएव वह मानस प्रत्यक्ष नहीं, प्रत्यक्षाभास है ।

शंका—ऐसा है तो षष्ठभूत मानसप्रत्यक्ष भी प्रत्यक्षाभास है । अतः उसे धर्मों कैसे ज्ञाया जा सकता है ? समाधान-पक्षप्रयोग के समय बाधक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, अतएव उसमें सत्त्व की संभावना हो सकती है । साधक प्रमाण न होने के कारण सर्वज्ञ आदि के अस्तित्व में सन्देह होता है, यह कहना संगत नहीं, क्योंकि जैसे सुख हुख-आदि के अस्तित्व में बाधक प्रमाण का अभाव सुनिश्चित होने से उनकी सत्ता है उसमें संशय नहीं होता, इसी प्रकार सर्वज्ञादि के विषय में भी सन्देह नहीं हो सकता ।

६७-उभयसिद्धो धर्मो यथा अनित्यः शब्द इति । नहि प्रत्यक्षेणावर्गदशिभिरनियतदिग्देशकालावच्छिद्याः सर्वशब्दाः शब्दा निश्चेतुमिति शब्दस्य प्रमाणवृद्ध्युभयसिद्धता, तेनानित्यत्वादिर्थमः प्रसाध्यत इति ॥१७॥

६८-ननु हृष्टान्तोऽप्यनुमानाङ्गतया प्रतीतः । तत् कथं साध्यसाधने एवानुमानाङ्गमुक्ते न हृष्टान्तः? , इत्याह-

न हृष्टान्तोऽनुमानाङ्गम् ॥१८॥

६९-'हृष्टान्तः, वद्यमाणलक्षणो नानुमानस्य 'अङ्गम्, कारणम् ॥१८॥

७०-कुत इत्याह-

साधनमात्रात् तत्सिद्धेः ॥१९॥

७१-हृष्टान्तरहितात्साध्यान्यथानुपपत्तिलक्षणात् 'साधनात्' अनुमानस्य साध्यप्रतिपत्तिलक्षणस्य आवाह्य हृष्टान्तोऽनुमानाङ्गमिति ।

७२-स हि साध्यप्रतिपत्तौ वा अविनाभावग्रहणे वा, व्याप्तिस्मरणे वोपयुज्यते? । न तावत् प्रथमः पक्षः, यद्योक्तादेव हेताः साध्यप्रतिपत्तेरुपपत्तेः । तापि द्वितीयः, विषये वाधकादेवाविनाभावग्रहणात् । किञ्च, व्यवितरुपो हृष्टान्तः । स कथं साकल्येन

६७-'शब्द नित्य है' यहीं 'शब्द'उभयसिद्ध धर्मो हैं । अल्पज्ञ जन अनियत विज्ञाओं, वेशों और कालों के समस्त शब्दों का प्रत्यक्ष से निश्चय नहीं कर सकते (केवल वर्तमान और इन्द्रिय सम्बद्ध शब्दों का ही उन्हें प्रत्यक्ष होता है) अतएव वह अधिसिद्ध भी है और प्रमाणसिद्ध भी है । उभयसिद्ध धर्मों में अनित्यत्व आदि धर्म सिद्ध किये जाते हैं ।

६८-इसका-हृष्टान्त भी अनुमान का अंग है, यह बात प्रसिद्ध है । फिर आपने साध्य और साधन को ही अनुमान का अंग क्यों कहा है? हृष्टान्त को क्यों नहीं कहा? इसका उत्तर कहते हैं-
सूत्रार्थ-हृष्टान्त अनुमान का अंग नहीं है ॥१८॥

६९-हृष्टान्त जिसका स्वरूप आगे कहा जाएगा, अनुमान का अंग अर्थात् कारण नहीं है ॥१८॥

७०-क्यों नहीं है? -सूत्रार्थ-अकेले साधन से ही अनुमान की सिद्धि हो जाती है ॥१९॥

७१-क्योंकि हृष्टान्त से रहित, साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति साधन से ही अनुमान (साध्य के ज्ञान)की सिद्धि हो जाती है । अतएव हृष्टान्त को उसका अंग मानने की आवश्यकता नहीं है ।

७२-हृष्टान्त की उपेयोगिता क्या है? वह साध्य को प्रतिपत्ति में उपयोगी होता है या अविनाभाव का निश्चय करने में अवश्य व्याप्ति के स्वरूप में? साध्य की प्रतिपत्ति के लिए तो उसकी आवश्यकता है नहीं, क्योंकि पूर्वोक्त-लक्षणवाले-हेतु से ही साध्य का ज्ञान हो जाता है ।

दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि विषय में बाधक प्रमाण से अविनाभाव का निश्चय होता है । इसके अतिरिक्त हृष्टान्त व्यक्तिरूप होता है, वह परिपूर्ण रूप से व्याप्ति का निर्दर्शक कैसे हो सकता है? आशय यह है-'जहाँ जहाँ छूम होता है वहाँ वहाँ अस्ति होती है, जैसे रसोई-गृह' । यहाँ रसोईगृह हृष्टान्त है । वह व्यक्तिरूप है अर्थात् आपने आप तक ही सीमित है ।

व्याप्ति गमयेत् । व्यक्त्यन्तरंषु व्याप्त्यर्थं हृष्टान्तान्तरं भूम्यम् । तस्यापि व्यक्तिरूप-
स्वेन साकल्येन व्याप्तेरवधारयितुमशक्यत्वात्परहृष्टान्तापेक्षायामनवस्था स्यात् ।
अतःपि सूतीयः, गृहीतसम्बन्धस्य साधनदर्शनादेव व्याप्तिसमृतेः । अगृहीतसम्बन्धस्य
हृष्टान्तेऽप्यस्मरणात् उपलब्धिपूर्वकत्वात् स्मरणस्येति ॥१९॥

७३-हृष्टान्तस्य लक्षणमाह-

स व्याप्तिदर्शनभूमिः ॥२०॥

७४—‘स, इति हृष्टान्तो लक्षणं ‘व्याप्तिः’ लक्षितरूपा, ‘दर्शनम् परस्ये प्रतिपादनं तस्य ‘भूमिः, आश्रय इति लक्षणम् ।

७५—ननु यदि हृष्टान्तोऽनुमानाङ्कं न भवति तद्हि किमर्थं लक्षयते? उच्यते-
परायनिमाने बोध्यानुरोधादापवादिकस्योदाहरणस्यानुशास्यमानत्वात् । तस्य च हृष्टा-
न्ताभिधानरूपत्वादुपपत्तं हृष्टान्तस्य लक्षणम् । प्रमातुरपि कस्यचित् हृष्टान्तहृष्टव-
हित्याप्तिवलेनान्तर्याप्तिप्रतिपत्तिर्भवतीति स्वाध्यनिमानपर्वत्यपि हृष्टान्तलक्षणं नानु-
पपत्तम् ॥२०॥

उसमें धूम और अग्नि है, यह ठीक है किन्तु इपसे यह तो निर्णय नहीं हो सकता कि तीव्र काल और लीन लोक में जहाँ कहीं धूम होता है वहाँ अग्नि अवश्य होती है! जब व्यक्तिरूप हृष्टान्त से व्याप्ति का प्रहण नहीं हो सकता तो बूसरी व्यक्तियों में उसका प्रहण करने के लिए अन्य हृष्टान्त खोजना पड़ेगा। मगर अन्य हृष्टान्त भी व्यक्तिरूप हो होगा और वह भी परिपूर्व रूप से व्याप्ति का निष्ठायक नहीं हो सकेगा, अतएव अन्यान्य हृष्टान्तों की अपेक्षा उन्हीं ही रहेगी। ऐसी दिश्ति में अनवस्था दोष अनिवार्य है। हृष्टान्त अविनाभाव के स्मरण में उपयोगी होता है, यह तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिसने अविनाभाव संबंध को समझ रखा है, उसे साधन को देखने से ही व्याप्ति का स्मरण हो जाता है। इसके विपरीत, जिसने अविनाभाव का प्रहण नहीं किया है, उसे हृष्टान्त का प्रयोग करने पर भी अविनाभाव का स्मरण नहीं हो सकता। क्योंकि स्मरण तभी हो सकता है जब पहले प्रहण हो चुका हो ॥२१॥

७३—हृष्टान्त का लक्षण—सूत्रार्थ— हृष्टान्त व्याप्ति को दिखलाने का स्वान होता है ॥२०॥

हृष्टान्त वह स्थान है जहाँ दूसरे को व्याप्ति दिखलाई जाती है ।

७५—प्रश्न— यदि हृष्टान्त अनुमान का अंग नहीं है तो उसके लक्षण का मिहणम् क्यों करते हैं? उसर-परायनिमान में शिष्य के अमुरोद्ध से उदाहरण को अपवाद रूप में स्वीकार किया है और हृष्टान्त का कथन ही उदाहरण कहलाता है, इस हृष्टान्त का लक्षण कहला उचित ही है। इसके अतिरिक्त किसी किसी प्रमाता को भी देखी हुई बहिर्व्याप्ति की सहायता से अन्तव्याप्ति का बोध होता है, इस कारण स्वाध्यनिमान के प्रसंग में भी हृष्टान्त का लक्षण-काल अनुचित नहीं है ॥२०॥

७६-तद्विभागमात्-

स साधर्म्यवेदर्थम्याभ्यां देवा ॥२१॥

७७-स हृष्टान्तः 'साधर्म्येण' अन्वयेन 'वेदर्म्येण' च व्यतिरेकेण भवतीति हिन्दुकारः ॥२१॥

७८-साधर्म्यहृष्टान्तं विभजते-

साधनधर्मप्रयुक्तसाध्यधर्मयोगी साधर्म्यदृष्टान्तः ॥२२॥

७९-साधनधर्मेण प्रयुक्तो न तु काकतालीयो यः साध्यधर्मस्तद्वान् 'साधर्म्य'-हृष्टान्तः' यथा कृतकत्वेनानित्ये शब्दे साध्ये घटादिः ॥२२॥

८०-वेदर्म्यहृष्टान्तं व्याचष्टे-

**साध्यधर्मनिवृत्तिप्रयुक्तसाधनधर्मनिवृत्तियोगी
वेदर्म्यदृष्टान्तः ॥२३॥**

८१-साध्यधर्मनिवृत्त्या प्रयुक्ता न यथाकथित्वत् या साधनधर्मनिवृत्तिः तद्वान् 'वेदर्म्यहृष्टान्तः' । यथा कृतकत्वेनानित्ये शब्दे साध्ये आकाशादिरिति ॥२३॥

इत्थाचार्यभीहेमचन्द्रविरचितायाः प्रमाणमीमांसायास्तद्वृत्तेऽत्र
प्रथमस्याऽश्यायस्य हितीयमाहितकम्

७६-हृष्टान्त के भेद-सूत्रार्थ-साधर्म्य और वेदर्म्य के रूप में हृष्टान्त दो प्रकार का है ॥२१॥

७७-साधर्म्य अर्थात् अन्वय हृष्टान्त और वेदर्म्य अर्थात् व्यतिरेकहृष्टान्त ॥२१॥

७८-साधर्म्यहृष्टान्त के भेद-सूत्रार्थ-साधनधर्म की बदौलत जो साध्यधर्म वाला हो अर्थात् जहाँ साधन होने से साध्य पाया जाय वह साधर्म्य हृष्टान्त कहलाता है ।

७९—‘साधनधर्म’ की ‘बदौलत’ यह शब्द विशेष रूप से ध्यान में रखने योग्य है । इसका साप्तर्य यह है कि कहीं काकतालीय त्याय से साध्यधर्म पाया जाय तो वह साधर्म्यहृष्टान्त नहीं कहा जाएगा, वरन् साधन के होने से जहाँ साध्य हो वही साधर्म्यहृष्टान्त कहलाएगा । जैसे— शब्द अनित्य है । वयोंकि वह कृतक है जैसे घट आदि । (यहाँ घट आदि साधर्म्यहृष्टान्त हैं सो इसी कारण कि कृतक होने से उनमें अनित्यता है) ॥२२॥

८०-वेदर्म्यहृष्टान्त की व्याख्या—सूत्रार्थ—साध्यधर्म के अभाव के कारण जहाँ साधर्म्यहर्म का अभाव हो वह वेदर्म्यहृष्टान्त कहलाता है ॥२३॥

८१—यहाँ भी पूर्ववत् ही समझना चाहिए, किन्तु विशेष यह है कि जहाँ साध्य के अभाव ही कारण साधन का अभाव हो वह वेदर्म्य हृष्टान्त कहलाता है । जैसे शब्द अनित्य है वयोंकि कृतक है । जो अनित्य नहीं होता वह कृतक भी नहीं होता, जैसे आकाश (यहाँ आकाश में अनित्यता के अभाव के कारण कृतकता का भी अभाव है अतएव आकाश वेदर्म्य हृष्टान्त है) ॥२३॥

इस प्रकार आचार्य श्री हेमचन्द्रद्वारा विरचित प्रमाणमीमांसा और उसकी वृत्तिके प्रथम अध्याय का हितीय आहिनक पूर्ण हुआ ।

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

१—लक्षितं स्वार्थमनुभानमिदानीं कमप्राप्तं परार्थमनुभानं लक्षयति—

यथोक्तमाधनाभिधानजः परार्थम् ॥१॥

२—‘यथोक्तम्’ इति निहितसाध्यादिनाभावेकलक्षणं यत् ‘साधनम्’ तस्याभिधानम् । अभिधीयते परस्मै प्रतिपाद्यते अनेनेति ‘अभिधानम्’ वचनम्, तस्माज्जातः सम्यगर्थनिर्णयः ‘परार्थम्’ अनुभानं परोपदेशापेक्षं साध्यविज्ञानमित्यर्थः ॥१॥

३—ननु वचनं परार्थमनुभानमित्याहुस्तत्कथमित्याह—

वचनसुपचारात् ॥२॥

१—स्वार्थानुभान के लक्षण का निरूपण किया जा चुका है । अब कमप्राप्तं परार्थानुभान का लक्षण कहते हैं—

सूक्ष्मार्थ—पूर्वोक्त साधन केबो लने से उत्पन्न होने वाला (सम्यगर्थनिर्णय) परार्थानुभान कहलाता है ॥१॥

२—पहले कहा जा चुका है कि जिसका साध्य के साथ निहित अविनाशात् हो वह साधन है, उस साधन को वचन हुआ कहने से दूसरे को सम्यगर्थ का निर्णय होता है, वह परार्थानुभान है । अभिप्राय यह है कि परोपदेश से (दूसरे के कथन से) उत्पन्न होने वाला साध्य का ज्ञान परार्थानुभान कहलाता है ।

३—शंका—आपने परोपदेश से होने वाले साध्यज्ञान को अनुभान कहा है, किन्तु परोपदेश अर्थात् वचनों को भी अनुभान कहा जाता है, सो कैसे ? इसका समाधान करते हैं—

सूक्ष्मार्थ—वचन उपचार से परार्थानुभान है ॥२॥

४—अचेतनं हि वचनं न साक्षात्प्रमितिफलहेतुरिति न निरुपचरितप्रमाणभाव-
भाजनम्, मुख्यानुमानहेतुत्वेन तूपचरितानुमानाभिधानपात्रता प्रतिपद्धते । उपचार-
वचात्र कारणे कार्यस्य । यथोक्तसाधनात् तद्विषया स्मृतिस्तप्यद्यते, स्मृतेद्वचानुमानम्,
तद्वचानुमानस्य परम्परया यथोक्तसाधनाभिधानं कारणम्, तस्मिन् कारणे वचने
कार्यस्यानुमानस्योपचारः समारोपः क्रियते । ततः समारोपात् कारणं वचनमनुमान-
शब्देनोच्यते । कार्यं वा प्रतिपादकानुमानजन्ये वचने कारणस्यानुमानस्योपचारः ।
वचनमौपचारिकमनुमानं न शुल्यमित्यर्थः ।

५—इह च मुख्यार्थवादे प्रयोजने निमित्ते ओपचारः प्रवर्तते । तत्र मुख्योऽर्थः
साक्षात्प्रमितिफलः सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणज्ञावदसमानाधिकरणस्य परार्थनिमानश-
ब्दस्य, तस्य बाधा, वचनस्य निर्णयत्वानुपपत्ते । प्रयोजनम् अनुमानावयवाः प्रति-
भादय इति शास्त्रे व्यवहार एव, निर्णयात्मन्यन्तशो लद्व्यवहारानुपपत्ते । निमित्तं
तु निर्णयात्मकानुमानहेतुत्वं वचनस्येति ॥२॥

४—वचन पौद्गलिक होने से अचेतन है । वह प्रमिति का साक्षात् कारण नहीं हो सकता
और इस कारण मुख्य रूप से प्रमाण भी नहीं हो सकता, किन्तु मुख्य अनुमान (स्वार्थनिमान)
का कारण होने से उसमें उपचरित अनुमान को पात्रता है । तत्पर्य यह है कि किसी को साधन से
साध्य का जो ज्ञान हुआ, वह स्वार्थनिमान या मुख्यानुमान कहलाया; तत्पत्त्वात् उसने किसी दूसरे
को ओष्ठ कराने के लिए उसे वचनों द्वारा प्रकट किया । वचनों के प्रयोग से दूसरे को अनुमिति
उत्पन्न हुई । वही परार्थनिमान है किन्तु उपचार से वह वचन स्वी परार्थनिमान है । यहाँ कारण
में कार्य का उपचार-आरोप है । अतएव परार्थनिमान का कारण वचन अनुमानशब्द से कहा
गया है । अथवा कार्य में कारण का उपचार है वयोंकि प्रतिपादक के स्वार्थनिमान से उत्पन्न हुए
वचनरूप कार्य में कारण का-अनुमान का आरोप किया गया है । सात्पर्य इतना ही है कि वचन
उपचार से ही अनुमान कहलाता है । वह मुख्य अनुमान नहीं है ।

५—जब मुख्य अर्थ में बाधा आती हो, किन्तु कोई प्रयोजन तथा निमित्त हो तब उपचार
किया जाता है । परार्थनिमान का मुख्य अर्थ है—प्रमिति को साक्षात् रूप से उत्पन्न करने वाला
सम्यगर्थनिर्णय । यह अर्थ मानने से ही 'प्रमाण' शब्द के साथ उसकी समानाधिकरणता हो
सकती है । किन्तु वचन जड़ होने से निर्णय (निष्चयात्मक ज्ञान) नहीं हो सकता । यह 'मुख्य'
अर्थ में बाधा हुई । किन्तु प्रयोजन यह है कि शास्त्र में प्रतिभा हेतु आदि अनुमान के अवयव
कहे गये हैं । अगर वचनात्मक परार्थनिमान न माना जाय तो प्रतिभा आदि को अनुमान का
अवयव नहीं कहा जा सकता । रह गया निमित्त, सो यह यह है कि वचन निर्णयात्मक अनुमान
का कारण होता है, इस प्रकार मुख्य अर्थ में बाधा प्रयोजन और निमित्त होने से वचन में अनुमान
का उपचार होता है ॥२॥

तद् द्वेधा ॥३॥

६—‘तद्’ वचनात्मकं परार्थानुभावं ‘द्वेधा’ द्विप्रकारम् ॥३॥

७—प्रकारभेदमाह—

तथोपपत्यन्यथानुपपत्तिभेदात् ॥४॥

८—‘तथा’ साध्ये सत्येव ‘उपपत्तिः’ साधनस्येत्येकः प्रकारः; ‘अन्यथा’ साध्या-भावे ‘अनुपपत्तिः’ चेति द्वितीयः प्रकारः । यथा अग्निमान्यं पर्वतः सत्येव धूमवत्त्वो-पत्तेः, अन्यथा धूमवत्त्वानुपपत्तेवा । एतावन्मात्रकृतः परार्थानुभावस्य भेदो न पार-भाष्यिकः स इति भेदपदेन वर्णयति ॥४॥

९—एतदेवाह—

नानयोग्तात्पर्ये भेदः ॥५॥

१०—‘न’ ‘अनयोः’ तथोपपत्यन्यथानुपपत्तिरूपयोः प्रयोगप्रकारयोः ‘तात्पर्ये’ ‘अत्परः शब्दः स शब्दार्थः’ इत्येवलक्षणे तत्परत्वे, ‘भेदः’ विशेषः । एतदुक्तं सबलि अन्यदभिधेयं शब्दस्यान्यत्रश्लादयं प्रयोजनम् । तत्राभिधेयापेक्षया वाचकत्वं मिद्यते, प्रकारार्थं त्वभिध्यभ्, अन्यथे फलिते व्यतिरेकत्वात्पत्तिरेके चान्यथगतिरित्युभयन्नापि

सूत्रार्थ—वह दो प्रकार का है ॥३॥

६—वचनात्मक परार्थानुभाव दो प्रकार का है ॥३॥

७—वे प्रकार भेद निम्न हैं

सूत्रार्थ—१—तथोपपत्ति, २—अन्यथानुपपत्ति ॥४॥

८—साध्य के होने पर ही साधन का होना तथोपपत्ति है और साध्य के अभाव में साधन का अभाव होना ‘अन्यथानुपपत्ति’, है । यथा—यह पर्वत अग्निमान् है किंतु अग्निमान् होने पर ही धूमवान् हो सकता है (यह तथोपपत्ति है) । अग्निमान् न होने पर धूमवान् नहीं हो सकता (यह अन्यथानुपपत्ति है) । परार्थानुभाव के जो दो भेद कहे हैं, उनमें इसमा साही अन्तर है । कोई वास्तविक भेद नहीं है ॥४॥

९—इसी बात को निम्न सूत्र में भी कहते हैं—

* सूत्रार्थ—तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति के अर्थ में भेद नहीं है ॥५॥

तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति यह दो प्रयोग के प्रकार हैं । इन दोनों के तात्पर्य में कोई अन्तर नहीं है । शब्द का जो पर-प्रकृष्ट अर्थ है वह तात्पर्य कहलाता है । वैभिन्नत्व यह है कि शब्द का वाच्य अलग होता है और प्रकाश्य-प्रधोजन अलग होता है । यहाँ वाच्य की अपेक्षा से वाचकत्व में भेद हो जाता है, किर भी प्रकाश्य (आशय) एक ही है । अन्यथा (तथोपपत्ति) के कहने से व्यतिरेक (अन्यथानुपपत्ति) का जान हो जाता है और व्यतिरेके कहनेसे अन्यथा का जान हो जाता है अन्यथा और व्यतिरेक दोनों का आशय साधन के साथ साध्य का अविनाभाव प्रदर्शित करता है

साधनस्य साध्याविनाभावः प्रकाशयते । न च यत्राभिधेयभेदस्तत्र तात्पर्यभेदोऽपि । नहि पीनो देवदत्तो दिवा न भुड्कते, पीनो देवदत्तो रात्री भुड्कते इत्यत्योवौचययोरभिधेयभेदोऽस्तीति तात्पर्येणापि भेत्तव्यमिति भावः ॥५॥

११—तात्पर्यभेदस्थैव फलमाह—

अत एव नोभयोः प्रयोगः ॥६॥

१२—यत एव नानयोस्तात्पर्यं भेदः ‘अत एव नोभयोः’ तथोपपत्यन्यथानुपपत्योर्युगपत् ‘प्रयोगः’ युक्तः । व्याप्त्युपदर्शनाय हि तथोपपत्यन्यथानुपपत्तिभ्यां हेतोः प्रयोगः क्रियते । व्याप्त्युपदर्शनं चैकयैव सिद्धमिति विफलो द्वयोः प्रयोगः । यदाह— “हेतोस्तथोपपत्या वा स्यात्प्रयोगोऽन्यथापि वा ।

द्विविधोऽन्यतरेणापि साध्यसिद्धिभवेदिति ॥(न्याया० १७)

१३—ननु यद्योकेनैव प्रयोगेण हेतोल्याप्तियुपदर्शनं कृतमिति कृतं विफलेन द्वितीयप्रयोगेण; तहि प्रतिज्ञाया अपि मा भूत् प्रयोगो विफलत्वात् । नहि प्रतिज्ञामात्रात् कश्चिदर्थं प्रतिष्ठाते, तथा सति हि विप्रतिपत्तिरेव न स्यादित्याह-

विषयोपदर्शनार्थं तु प्रातिज्ञा ॥७॥

(अब य का वाच्य विधि और व्यतिरेक का वाच्य निषेध है) मगर ऐसी कोई बात नहीं कि यहाँ वाच्य का भेद हो वहाँ तात्पर्य में भी भेद होना ही चाहिए । यह मोटा ताजा देवदत्त दिन में सोजन नहीं करता, और ‘यह मोटा ताजा देवदत्त’ ताजि में सोजन करत है इन दोनों में वाच्य भेद तो है मगर तात्पर्य में भेद नहीं ॥५॥

१४—तात्पर्य भेद— अभेद का फल—

सूक्ष्मार्थः— अतएव दोनों का प्रयोग नहीं किया जाता ॥६॥

१२—तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति के तात्पर्य में भेद नहीं है इस कारण दोनों का एक साथ प्रयोग करना उचित नहीं है । तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति के द्वारा हेतु का ओ प्रयोग किया जाता है उसका प्रयोजन व्याप्ति के विललाना ही है और यह प्रयोजन दोनों में से किसी भी एक के प्रयोग से सिद्ध हो जाता है । अतएव दोनों का प्रयोग करना निष्फल है । कहा भी है—

‘हेतु का प्रयोग था तो तथोपपत्ति से होता है या अन्यथानुपपत्ति से होता है । दोनों में से किसी भी एक से साध्य को सिद्ध हो जाती है ।

१३—कांका—दो में से किसी एक प्रयोग से ही यदि हेतु की व्याप्ति का जान हो जाता है इस कारण दूसरा प्रयोग निष्फल है और अवश्यकता नहीं है तो निष्फल होने के कारण ही प्रतिज्ञा का प्रयोग भी नहीं करना चाहिए । प्रतिज्ञा मात्र से ही कोई किसी अर्थ को स्वीकार नहीं कर सकता । यदि स्वीकार कर लेता होता तो कोई विवाद हो न रहता । इस शंका का समाधान अगले सूत्र में करते हैं—

सूक्ष्मार्थः—प्रतिज्ञा विषय के उपदर्शन के लिए होती है ॥८॥

१४—‘विषयः’ यत्र तथोपपत्थान्यथानुपपत्था वा हेतुः स्वसाध्यसाधनाय प्रार्थ्यते, तस्य ‘उपदर्शनम्’ परप्रतीतावारोपणं तदर्थं पुनः ‘प्रतिज्ञा’ प्रयोक्तव्येति शेषः ।

१५—अथमर्थः—परप्रत्यावनाय वचनमुच्चारयता प्रेक्षावता तदेव परे बोधयित्वा यद्दुभुत्सन्ते । तथासत्यनेन बुभुत्सताभिधायिना परे बोधिता भवन्ति । न लक्ष्मवश्वान् पृष्ठो गवयान् शुद्धाणः प्रष्टुरवधेयवचनो भवति । अनवधेयवचनश्च कथं प्रतिपादको नाम? । यथा च शंक्षो भिक्षुणाचचक्षे-भोः शंक्ष, पिण्डपातमाहरेति । स एवमाचरामीत्यनभिधाय यदा तदर्थं प्रयत्ने तदाऽस्मै कृद्यति भिक्षुः-आः शिष्याभास, भिक्षुलेट, अस्मानवधीरयसीति विद्वुवाणः । एवमनित्यं शब्दं बुभुत्समानाय अनित्यः शब्द इति विषयमनुपदर्श्य यदेव किञ्चिद्दुच्यते-कृतकत्वादिति वा, यत् कृतकं तद्वनित्यमिति वा, कृतकत्वस्य तथैवोपपत्तेरिति वा, कृतकत्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति वा, तत् सर्वस्यानपेक्षितमापाततोऽसम्बद्धाभिधानदुद्ध्या; तथा चानवहितो न बोद्धुमहंतीति ।

१६—यत् कृतकं तत् सर्वमनित्यं यथा धटः, कृतकश्च शब्द इति वचनमर्थसामर्थ्येनवापेक्षितशब्दानित्यत्वनिश्चायकमित्यवधानमत्रेति चेत्; न, परस्पराभयात् ।

१४—जिस स्थल में अपने साध्य को सिद्ध करने के लिए तथोपत्ति या अन्यथानुपत्ति को द्वारा हेतु का प्रयोग किया जाता है वह स्थल यहीं विषय कहा गया है, उस स्थल को दूसरे को समझाने के लिए प्रतिज्ञा का प्रयोग करना चाहिए ।

१५—आशय यह है—दूसरे को समझाने के लिए वचन प्रयोग करने वाले वक्ता का कर्तव्य है कि वह वही समझाए जो दूसरे समझना चाहते हों । ऐसा करके वह दूसरों को समझा सकता है । अद्व के विषय में पूछा जाय और गवय के विषय में जो उसर है, उसके वक्तनों से कुछ निश्चय नहीं होता । ऐसा वक्ता किस काम का? उसके वचन प्राप्त नहीं हो सकते । एक भिक्षु ने अपने शिष्य से कहा—‘आहार—पानी ले आओ।’ वह शिष्य ‘लाता हूँ’ ऐसा कहे जिना ही जब आहार—पानी के लिए प्रयत्न करता है, तब भिक्षु उसपर ओष्ठ करता और निदा करता है—अरे शिष्याभास! तू हमारी अवहेलना करता है?

इसी प्रकार जो व्यक्ति शब्द को अनित्यता को समझना चाहता है, उसके समझ ‘शब्द अनित्य है’ ऐसा कहे जिना ही यदि वक्ता अन्यान्य वक्ते कहता है, जैसे—‘कृतक होने से,’ ‘जो कृतक होता है वह अनित्य होता है’, ‘ऐसा होने पर ही कृतकता हो सकती है’, ‘अन्यथा कृतकता नहीं हो सकती’ इत्यादि, तो यह सब वाक्य उसके लिए अनपेक्षित हैं, वयोऽकिंचापाततः वह असम्बद्ध अपासांगिक-से प्रतीत होते हैं । असावधान शोता को ऐसे वक्तनों से कोई बोध प्राप्त नहीं होता ।

१६—शंका—‘जो कृतक होता है वह सब अनित्य होता है, जैसे धट, शब्द भी कृतक है’ इस प्रकार का वचनप्रयोग अर्थ के सामर्थ्य से शब्द की अनित्यता का निश्चायक हो जाता है यहीं अवधान यहीं पर है, ऐसा नहीं कह सकते, वयोऽकि दूसरे अन्योन्याभय देव आयेगा ।

अवधाने हि सत्यतोऽर्थनिश्चयः, तस्माच्चावधानमिति । न च पर्षत्प्रतिवादिनौ प्रमाणीकृतवादिनौ यदेतद्वच्चनसम्बन्धाय प्रथतिष्ठते । तथासति न हेत्वाद्यपेक्षेयाताम् तद्वच्चनादेव तदर्थनिश्चयात् । अनित्यः शब्द इति स्वपेक्षिते उक्ते कुत इत्याशङ्कार्यां कुतकत्वस्य तर्थवोपपत्तेः कुतकत्वस्यान्यथानुपपत्तेवेत्युपतिष्ठते, तदिदं विषयोपदर्शनार्थत्वं प्रतिज्ञाया इति ॥७॥

१७—ननु बल् कृतकं तदनित्यं यथा घटः, कृतकहच्च शब्द इत्युक्ते गम्यत एतद् अनित्यः शब्द इति तस्य सामर्थ्यलब्धत्वात्, तथापि तद्वच्चने पुनरुक्तत्वप्रसङ्गात्, “अर्थादापाप्नस्य स्वशब्देन पुनर्वच्चनं पुनरुक्तम्” [न्यायसू. ५. २. १५]। आह च डिण्डिकरागं परित्यज्याक्षिणी निमील्य चिन्तय तावत् किमियता प्रतीतिः स्यान्नवेति, भावे कि प्रपञ्चमालया (हेतुपरि० १) इत्याह—

गम्यमानत्वेऽपि साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय धर्मिण पश्चधर्मापसंहारवत् तदुपपत्तिः ॥८॥

१८—साध्यमेव धर्मस्तस्याधारस्तर्य सन्देहस्तदपनोदाय—यः कृतकः सोऽनित्य अवधान होने पर वचन से अर्थ का निश्चय हो और अर्थनिश्चय से अवधान हो । शंका-वादी को प्रमाणित करने वाले पर्षन और प्रतिवादी वादी के वचन का सबन्ध जोड़ने के लिए प्रयत्न करेंगे, समाधान-ऐसा होने पर पर्षत् और प्रतिवादी हैतु आदि की अपेक्षा नहीं करेंगे बल्कि उनके वचन से ही अर्थ का निश्चय कर लेंगे । शब्द अनित्य है ऐसा कहने पर, ‘वह कैसे’ ऐसी आशंका उपस्थित होने पर कृतकत्व तभी सेभव हो सकता है अथवा कृतकत्व अन्यथा हो नहीं सकता ऐसा समाधान किया जाता है इस प्रकार विषय विखलाने के लिये प्रतिज्ञा का प्रयोग आवश्यक है ।

१९—शंका—जो कृतक होता है वह अनित्य होता है, जैसे घट, शब्द भी कृतक है ऐसा कहने, पर सामर्थ्य से ही (अर्थात् पक्ष का प्रयोग किये दिना हो) ‘शब्द अनित्य’ है ऐसा जान हो जाता है, किर भी ‘शब्द अनित्य है’ ऐसा पक्षप्रयोग करने से पुनरुक्ति वोय होता है । जो विषय अर्थ के सामर्थ्य से ही विदित हो जाय उसे शब्द हारा पुनः कहना पुनरुक्ति है । कहा भी है—डिण्डिकराग (लाल रंग के मूर्खिक के समान आंखों की लालिमा) को रथाच कर अर्थात् ज्ञानत होकर, या नेत्रोंको निर्मल करके विचार करो कि अपने (पुर्वोक्त) कथन से शब्द अनित्य है, ऐसी प्रतीति हो जाती है या नहीं ? अगर हो जाती है तो किर विस्तार करने से क्या लाभ है ? बीड़ की इस शंका का समाधान करने के लिए कहते हैं—

सूत्रार्थ—साध्य धर्म के आचारसंबंधी सन्देह का निवारण करने के लिए गम्यमान भी धर्मोदयक का उच्चारण करना योग्य है, जैसे उपनय का उच्चारण किया जाता है ॥८॥

१८—‘जो कृतक होता है वह अनित्य होता है’ इस प्रकार कहने पर भी धर्मो (पक्ष) के

इत्युक्तेऽपि धर्मविषयसन्देह एव-किमनित्यः शब्दो घटो वेति? , तश्चिराकरणाय अन्यमानस्यापि साध्यस्य निर्देशो युक्तः, साध्यधर्मिणि साधनधर्मवद्बोधनाय पक्षधर्मोपसंहारवचनवत् । यथा हि साध्यव्याप्तसाधनदर्शनेन तदाधारवगतावपि नियतधर्मिसम्बन्धिताप्रदर्शनार्थम्—कृतकश्च शब्द इति पक्षधर्मोपसंहारवचनं तथा साध्यस्य विक्षिप्तधर्मिसम्बन्धितावद्बोधनाय प्रतिज्ञावचनमप्युपपद्यते एवेति ॥८॥

१९—ननु प्रयोगं प्रति विप्रतिपद्यन्ते वादिनः, तथा हि—प्रतिज्ञाहेतुदाहरणानीति अद्यवद्यवमनुमानमिति सामृद्ध्याः । सहोपनयेन चतुरब्द्यवमिति भीमांसकाः । सहनिगमनेन यज्ञाद्यवमिति नैयायिकाः । तदेव विप्रतिपलौ कीदृशोऽनुमानप्रयोग इत्याह-

एतावान् प्रेक्षप्रयोगः ॥९॥

विषय में सन्देह बना ही रहता है कि शब्द अनित्य है या घट ? किसमें अनित्यता सिद्ध की जा रही है ? अतएव साध्य के आधारसंबंधी सन्देह को दूर करने के लिए पक्ष का कथन करता ही उचित है । जैसे पक्ष में साधन को समझाने के लिए उपनय का प्रयोग किया जाता है अर्थात् ‘जो कृतक होता है वह अनित्य होता है’ इसप्रकार साध्य के अविनाभावी साधन को प्रदर्शित करने से साधन का आधार प्रतीत हो जाता है, फिर भी नियत पक्ष के साथ साधन का संबंध विखलाने के लिए शब्द भी कृतक है, इस प्रकार उपनय का प्रयोग किया जाताहै’ उसी प्रकार साध्य का नियत पक्ष के साथ सम्बन्ध विखलाने के लिए प्रतिज्ञा का भी प्रयोग करना चाहिए ।

तात्पर्य यह है कि बैद्ध परायनमिमान में प्रतिज्ञा के प्रयोग को अनावश्यक मानते हैं । उनकी युक्ति यह है कि व्याप्तिपूर्वक उपनय का प्रयोग करने से ही पक्ष (साध्य के आधार) का पता चल जाता है, फिर उसको अलग कहने से बधा लाभ है? इसका उत्तर यह दिया गया है कि व्याप्ति के प्रयोग से साधन के आधार का पता चल जाने पर भी उसे अमुक धर्मों में निर्दिष्ट रूपसे समझाने के लिए आप उपनय का प्रयोग करते हैं, क्योंकि उपनय के बिना यह ज्ञात नहीं होता कि साधन का आधार क्या है? इसी प्रकार साध्य के निर्दिष्ट आधार को प्रदर्शित करने के लिए प्रतिज्ञा का प्रयोग करना भी अवश्यक है । यदि प्रतिज्ञा का प्रयोग न किया जाएगा तो कैसे पता चलेगा कि साध्य किस अपहृत साधा जार्हा है? अतएव प्रतिज्ञा का प्रयोग करना भी अवश्यक ही है ॥९॥

१९—शंका—प्रयोग के विषय में वादियों का मतभेद है । यथा—सांख्यों का कथन है कि अनुमान के सीन अद्यवद हैं—प्रतिज्ञा हेतु और उदाहरण । भीमांसकों के मतानुसार पूर्वोक्त तीन के साथ उपनय भी अनुमान का अद्यवद है । नैयायिक इनमें निगमन को सम्मिलित करके पांच अद्यवद कहते हैं । इस प्रकार की मतविभिन्नता में अनुमान प्रयोग किस प्रकार का मानना चाहिए? इसका समाधान करने के लिए कहते हैं—

सूक्ष्मार्थ—प्रेक्षावान् प्रतिपाद्य के लिए इतना ही अनुमान प्रयोग है ॥९॥

२०-'एतावान्' एव पदुत तथोपयत्यान्यथानुपपत्था वा युक्तं साधनं प्रतिज्ञा च । 'प्रेक्षाय' प्रेक्षावसे प्रतिपाद्याय तदवबोधनार्थः 'प्रयोगः' न त्वधिको यथाहुः साङ्ग-ल्यादयः, नापि हीनो यथाहुः सौगताः—“चिदुषो वाच्यो हेतुरेव हि केवलः” (प्रमाणवा० १, २८) इति ॥९॥

२१-ननु परार्थप्रवृत्तेः कारणिकैर्यथाकथडिच्चत् परे प्रतिबोधयितव्या नास-द्व्यवस्थोपल्यासंरभीषां प्रतिभाभङ्गः करणीयः, तत्किमुच्यते एतावान् प्रेक्षप्रयोगः?, इत्याशङ्क्य द्वितीयमपि प्रयोगक्रममुपदर्शयति ।

बोध्यानुरोधात्प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्चापि ॥१०॥

२२-'बोध्यः' शिष्यस्तस्य 'अनुरोधः' तदवबोधनप्रतिज्ञापारतन्त्रं तस्मात् प्रति-आवौन पञ्चापि प्रयोक्तव्याति । एतानि आवयवसञ्जया प्रोच्यन्ते । यदक्षपादः—“प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः” (१ यम०, १, १३३) इति । 'अपि, शब्दात् प्रतिज्ञादीनां शुद्धयहस्य पञ्च बोध्यानुरोधात् अयोदत्त्वाः । यच्छ्रीभद्रबाहुस्वामिपू-ज्यपादाः—“कल्थइ पञ्चावयवं दसहा वा सव्वहाण पदिकुटुं ति” (दश० नि०५०)।

२०-तथोपयत्ति अथवा अनुपत्ति से युक्त साधन का तथा प्रतिज्ञा का प्रयोग करना, इतना ही बुद्धिमान् प्रतिपाद्य को समझाने के लिए अनुपान का प्रयोग उचित है । सांख्य आदि के कथनानुसार न सो इससे अधिक प्रयोग करना चाहिए और न बोटों के कथनानुसार कम ही प्रयोग करना चाहिए । जैसा कि उनका कथन है—‘विद्वानों के लिए अकेले हेतु का ही प्रयोग करना चाहिए ॥९॥

२१-परोपकार में प्रयुक्त करणाशील पुरुषों को जिस प्रकार संभव हो, दूसरों को प्रति-बोध देना चाहिए, असत् व्यवस्था का उपल्यास करके उनकी प्रतीति को झंग नहीं करना चाहिए । तो फिर आप ऐसा क्यों कहते हैं कि बुद्धिमानों के प्रति प्रतिज्ञा और हेतु का ही प्रयोग करना चाहिए? इस प्रकार की आशंका करके दूसरा प्रयोगक्रम बतलाते हैं—

सूत्रार्थ—शिष्य के अनुरोध से प्रतिज्ञा, हेतु उवाहरण, उपनय और निगमन, इन पाँचों अवयवों का प्रयोग करना चाहिए ॥१०॥

२२-बोध्य अर्थात् शिष्य । अनुरोध अर्थात् उसको समझाने की प्रतिज्ञा की परतंत्रता । सात्पर्य यह है कि प्रतिपाद्यक प्रतिपाद्य को वस्तुस्वरूप समझा देने को लिए कृतसंकल्प होता है, अतएव यदि आवश्यकता प्रतीत हो तो प्रतिज्ञा आदि पाँचों अवयवों का प्रयोग भी करना चाहिए । प्रतिज्ञा आदि पाँचों 'अवयव' कहलाते हैं । अक्षयाद ने भी इन्हें अवयव ही कहा है । यथा—‘प्रतिज्ञा हेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः’ । सूत्र में प्रयुक्त ‘अपि’ शब्द से यह सूचित किया गया है कि यदि शिष्य को समझाने के लिए आवश्यक हो तो प्रतिज्ञा आदि अवयवों की पाँच शुद्धियों का भी प्रयोग करना चाहिए । पूज्यपाद श्रीभद्रबाहु स्वामी ने कहा है—कहीं-कहीं पाँच अवयववाला आवश्यक दस अवयव वाला भी परार्थनुमान होता है । उसका सर्वभाग निषेध नहीं किया है ॥१०॥

२३-तत्र प्रतिज्ञाया लक्षणभाव-

साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ॥११॥

५४-साध्यं सिषाध्यधिष्ठितधर्मविक्षिष्टो धर्मो, निर्दिष्यते अनेनेति निर्देशो वचनम् साध्यस्य निर्देशः साध्यनिर्देशः' प्रतिज्ञा प्रतिज्ञायतेऽनयेति कृत्वा, यथा अयं प्रदेशोऽग्निमान्ति ॥११॥

२५-हेतुं लक्षयति-

साधनत्वाभिव्यञ्जकविभवत्यन्तं साधनवचनं हेतुः ॥१२॥

२६—साधनत्वाभिव्यञ्जकविभवितः पञ्चमी तृतीया वा, तवन्तम् 'साधनस्य उपतलक्षणस्य 'वचनम्' हेतुः । धूम इत्यादिरूपस्य हेतुत्वनिराकरणाय प्रथमं पदम् । अव्याप्तवचनहेतुत्वनिराकरणाय द्वितीयमिति । स द्विविधस्तथोपपत्यन्यथानुपपत्तिस्याम् तथाथा धूमस्य तथेवोपपत्तेधूमस्यान्यथानुपपत्तेवेति ॥१२॥

२७—उदाहरणं लक्षयति—

हृष्टान्तवचनमुदाहरणम् ॥१३॥

२३ प्रतिज्ञा का लक्षण—सूत्रार्थ—साध्य का निर्देश करना प्रतिज्ञा है ।

२४—जिसे सिद्ध करना इष्ट है उस धर्म से युक्त धर्मों को यहाँ 'साध्य, समझना आहिए उस साध्य को कहना प्रतिज्ञा कहलाता है । जैसे 'यहु प्रदेश अग्निमान् है' यहाँ अग्निमत्व धर्म सिद्ध करना इष्ट है और उस धर्म से युक्त धर्मों 'यहु प्रदेश, है । इस प्रकार साध्य से धर्मों का कथन 'प्रतिज्ञा, है ॥११॥

२५—हेतु का लक्षण-सूत्रार्थ-साधनत्व को प्रकट करने वाली विभवित जिसके अल्प में ही ऐसा साधन का कथन 'हेतु, कहलाता है ॥१२॥

२६—साधनत्व को प्रकट करने वाली विभवित पंचमी अथवा तृतीया सामी गई है । इन दोनों में से किसी विभवित वाले तथा पूर्वोक्त लक्षण से युक्त साधन का कथन करना हेतु है । 'धूम,' इतना सात्र कह देना हेतु नहीं है । इस बात को प्रकट करने के लिए 'साधनत्वाभिव्यञ्जकविभवत्यन्तम्' इस पद का प्रयोग किया है और साध्य के साथ जिसकी व्याप्ति न हो वह हेतु नहीं हो सकता, यहु बतलाने के लिए 'साधन वचन' इस पद का प्रयोग किया है । ऐसा हेतु तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति के भेद से दो प्रकार का कहा गया है 'जैसे 'वयोऽकि धूम अग्नि के होने पर ही हो सकता है (तथोपपत्ति) और 'वयोऽकि धूम अग्नि के अभाव में नहीं हो सकता (अन्यथा—नुपपत्ति) ॥१२॥

२७—उदाहरण का लक्षण—सूत्रार्थ—हृष्टान्त का कथन उदाहरण कहलाता है ॥१३॥

२८—‘हृष्टान्तः उक्तलक्षणस्तत्प्रतिपादकं ‘बचनम्’ ‘उदाहरणम्’ सदपि द्विविधं हृष्टान्तभेदात् । साधनधर्मप्रयुक्तसाध्यधर्मयोगी साधम्यहृष्टान्तस्तस्य बचनं साधम्यो-दाहरणम्, यथा यो धूमवान् सोऽग्निमान् यथा महानसप्रदेशः । साध्यधर्मनिवृत्सिप्र-युक्तसाधनधर्मनिवृत्सियोगी वैधम्यहृष्टान्तस्तस्य बचनं वैधम्योदाहरणम्, यथा योऽग्नि-निवृत्तिमान् स धूमनिवृत्तिमान् यथा जलाशयप्रदेश इति ॥१३॥

२९—उपनयलक्षणमाह—

धर्मिणि साधनम्योपसंहार उपनयः ॥१४॥

३०—हृष्टान्तधर्मिणि विसृतस्य साधनधर्मस्य साध्यधर्मिणि यः ‘उपसंहारः’ सः ‘उपनयः’ उपसंहितेऽनेनोपनीयतेऽनेनेति बचनरूपः, यथा धूमवांशावभिति ॥१४॥

३१—निगमनं लक्षयति—

साध्यम्य निगमनम् ॥१५॥

३२—साध्यधर्मस्य धर्मिण्युपसंहारो निगमनते पूर्वेषामवयवानामर्थोऽनेनेति ‘निग-मनम्’, यथा तस्मादग्निमानभिति ।

३३—एते नान्तरीयकत्वप्रतिपादकाः वाक्यैकदेशरूपाः पञ्चावयवाः । एतेषामेव

२८—हृष्टान्त का स्वरूप पहले कहा जा चुका है । उसका प्रतिपादक बचन उदाहरण कहलाता है । हृष्टान्त के वो भेद होने से उदाहरण के भी दो भेद हैं । साधनधर्म के होने के कारण जो साध्यधर्मशाला हो, वह साधम्यहृष्टान्त कहा गया है और उसका प्रतिपादक बचन साधम्योदाहरण है । जैसे-जो जो धूमवान् होता है वह वह अग्निमान् होता है, जैसे पाकशाला । साध्य के अभाव के कारण जहाँ साधन का अभाव हो, वह वैधम्यहृष्टान्त कहा जा चुका है । उसका प्रतिपादक बचन वैधम्योदाहरण है । जैसे जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धूम भी नहीं होता । जैसे जलाशय—सालाख अग्नेरह ॥१३॥

२९—उपनय का स्वरूप—सूत्रार्थ—पक्ष में साधन को दोहराना उपनय है ॥१४॥

३०—सप्तक में फले हुए साधन का पक्ष में उपसंहार करना उपनय कहलाता है । जिस बचन के हारा उपसंहरण या उपनयन-प्रापण किया जाय वह उपसंहरण या उपनय है । अर्थात् व्याप्ति बोलने के पदचाल् पक्ष में हेतु को दोहराना उपनय है । जैसे ‘पर्वत भी धूमवान् है ॥१४॥

३१—निगमन का लक्षण—सूत्रार्थ-साध्य का पक्ष में दोहराना निगमन है ।

३२—पहले बोले हुए समस्त अवयवों का प्रयोजन जिससे निगमित-निश्चित होता है उस निगमन समझना चाहिए । जैसे ‘इस कारण अग्निमान् है’ ।

३३—परार्थानुमान के यह पांच अवयव हैं, जो अविनाशाव के प्रतिपादक हैं :

(१) —पर्वत में अग्नि है (प्रतिशा) (२) क्योंकि पर्वत में धूम है (हेतु) (३) (जहाँ धूम होता है) वहाँ अग्नि होती है, (व्याप्ति) जैसे पाकशाला (उदाहरण) (४) इस पर्वत में भी धूम है (उपनय) (५) इस कारण पर्वत में अग्नि है (निगमन)

शुद्धयः पञ्च । यतो न शङ्कुतसमारोपितदीषाः पञ्चाप्यवयवाः स्वां हेत्वामनादीनवा-
मर्थविषया धियमाधातुमलभिति प्रतिज्ञादीनां तं तं दोषमाहाङ्कुच तत्परिहाररूपाः
पञ्चव शुद्धयः प्रयोक्तव्या इति दशावयवमिदमनुमानवाक्यं दोष्यानुरोधात् प्रयोक्त-
व्यभिति ॥१५॥

३४—इह शास्त्रे द्वेषां लक्षणमुक्तं से तल्लक्षणाभावे तदाभासाः सुप्रसिद्धा एव ।
यथा प्रमाणसाधान्यलक्षणाभावे संशयविषयवान्यवसायाः प्रमाणाभासाः, संशयादि-
लक्षणाभावे संशयाद्याभासाः, प्रत्यक्षलक्षणाभावे प्रत्यक्षाभासम्, परोक्षान्तर्गतानां स्मृत्या-
दीनां स्वस्वलक्षणाभावे तत्तदाभासतेत्यादि । एवं हेतुनामपि स्वलक्षणाभावे हेत्वाभासता
सुज्ञानैव । केवलं हेत्वाभासानां सद्गुणानियमः प्रतिद्युक्तिनियतं लक्षणं सेषत्करप्र-
तिपत्तीति तल्लक्षणार्थमाह—

असिद्धविरुद्धानेकान्तिकासत्रयो हेत्वाभासाः ॥१६॥

३५—अहेतवो हेतुवदाभासप्राप्तः ‘हेत्वाभासाः’ असिद्धादयः । यद्यपि साधनदोषा
एवंते अदुष्टे साधने तदभावात्, तथापि साधनाभिधायके हेतावुपचारात् पूर्वाचार्येर-
भिहितास्तत्प्रसिद्धिबाधामनाश्रयद्विरुद्धाभिरपि हेतुदोषत्वेनैवोच्यन्त इति ।

इन्हीं पाँच अवयवों की पाँच शुद्धियाँ होती हैं क्योंकि इन अवयवों में दोष को आशंका हो या
दोष का आरोपण किया गया हो तो वे निर्देश और निरिचत जान उत्पन्न नहीं कर सकते । अस-
एव इन अवयवों में दोष की आशंका करके उनका परिहार करना चाहिए । यही पाँच शुद्धियों का
कथन करता है । इस प्रकार शिष्य के अनुरोध से अनुमान-वाक्य के बस अवयव हो जाते हैं ॥१५॥

३४—इस शास्त्र में जिसका जो लक्षण कहा है, उस लक्षण के अभाव में वह तदाभास हो
जाता है । जैसे प्रमाणसाधाय के लक्षण के अभाव में संशय विषय और अनव्यवसाय प्रमाणाभास
है जिसमें संशय का लक्षण घटित न हो वह संशयाभास है । प्रत्यक्ष के लक्षण जो अभाव में प्रत्यक्षा-
भास है, परोक्ष के अन्तर्गत स्मरण आदि में उनका लक्षण न पाया जाय तो उन्हें स्मरणाभास आदि
समझना चाहिए । इसी प्रकार हेतुओं में यदि हेतु का पूर्वोक्त लक्षण न हो तो वे हेत्वाभास हो
जाते हैं । हेत्वाभासों की संख्या और उनके पृथक् पृथक् लक्षण को समझने में कुछ कठिनतई होती
है, अतएव उनका यही निरूपण किया जाता है—

सूत्रार्थ-असिद्ध, विरुद्ध और अनेकान्तिक, ये तीन हेत्वाभास हैं ॥१६॥

३५—जो अस्तुतः हेतु तो न हो किन्तु हेतु के समान प्रतीत होते हों, वे असिद्ध आदि
हेत्वाभास कहलाते हैं । यद्यपि असिद्धता आदि साधन के दोष हैं, फिर भी पूर्वाचार्योंने साधन
के बचन रूप हेतु में उपचार करके इन्हें हेत्वाभास कहा है । अतः उनकी प्रसिद्धि में कोई बाधा
न आलते हुए हमने भी उन्हें हेतुदोष ही कहे दिया है ।

३६-'त्रय' इति सद्गुणान्तरव्यवच्छेदार्थम् । तेन कालातीत-प्रकरणसमयोर्व्यवच्छेदः । तत्र कालातीतस्य पक्षदोषेष्वन्तर्भावः । 'प्रत्यक्षागमद्वाधितकमनिर्देशानन्तरप्रयुक्तः कालात्यथापदिष्टः' इति हि तस्य लक्षणमिति, यथा अनुष्णस्तेजोऽवयवो कृतकत्वाद् घटवदिति । प्रकरणसमस्तु न सम्भवत्येव; नह्यस्ति सम्भवो यथोक्तलक्षणे अनुमाने प्रयुक्तेऽद्विष्टे वाऽनुमानान्तरस्य । यस्तु उहरणम् अनित्यः शब्दः पक्षसप्तक्योरन्यतरत्वात् इत्येकेनोक्ते द्वितीय आह-नित्यः शब्दः पक्षसप्तक्योरन्यतरत्वादिति । तदतीवासाम्प्रतम् । को हि चतुरङ्गसमायां वादी प्रतिवादी वैवंविधमसम्बद्धमनुमत्तोऽभिदधीतेति ? ॥१६॥

३७-तत्रासिद्धस्य लक्षणमाह—

**नासन्ननिश्चितसत्त्वो वाऽन्यथानुपपत्ति सत्त्वस्यासिद्धौ
सन्देहे वाऽसिद्धः ॥१७॥**

३८-'असत्' अविद्यान्ते 'वाक्यानुष्ठानः' इति सत्त्वस्यासिद्धौ 'असिद्धः' हेत्वाभासः

३६-सूत्र में प्रयुक्त 'त्रय' एव उसकी धूनाधिक संख्या का व्यवच्छेद करने के लिए है; अर्थात् हेत्वाभास न तीन से कम है, न अधिक है, यह प्रदर्शित करने के लिए है। इस पद से नीतायिकों को भाव्य कालातीत (कालात्यथापदिष्ट) और प्रकरणसम हेत्वाभासों का निषेध हो जाता है उनमें से कालातीत हेत्वाभास का पक्ष के दो वैमें ही समावेश हो जाता है, क्योंकि नीतायिकों ने प्रत्यक्ष और आगम से वाधित साध्यप्रयोग के अनन्तर प्रयुक्त हेतु को कालात्यथापदिष्ट कहा है। ऐसे तेज- अवयवी अनुष्ण है १ वयोंकि वह कृतक है, जैसे घट ।

जिस हेतु का समान यह वाला विरोधी हेतु ही वह प्रकरण सम हेत्वाभास कहा गया है, किन्तु प्रकरणसम हेत्वाभास सम्भव ही नहीं है । पूर्वोक्त लक्षण वाले अनुमान का प्रयोग किया जाय और उसको द्विष्ट न किया जाय, फिर भी उसका विरोध दूसरा अनुमान उपस्थित हो, यह असंभव है । प्रकरणसम हेत्वाभास का यह उदाहरण दिया जातः है—शब्द अनित्य है, क्योंकि वह पक्ष और सप्तक में से अन्यतर (कोई एक) है । इस प्रकार वादी के कहने पर प्रतिवादी कहता है ।— 'शब्द नित्य है क्योंकि वह पक्ष और सप्तक में से अन्यतर है । किन्तु यह उदाहरण अहूत ही अयुक्त है । असुर्य वादी, प्रतिवादी सम्य और सभापति से युक्त-सभा में कौन वादी या प्रतिवादी इस प्रकार पागल की भाँति असम्बद्ध भाषण करेगा ? ॥१६॥

३७-असिद्ध हेत्वाभास-सूत्रार्थ-असत् और अनिश्चितसत्त्व हेतु अन्यथानुपपत्ति नहीं होता, अतएव सत्ता के असिद्ध अथवा सन्देह में वह असिद्ध कहलाता है ॥१७॥

३८-असत् अर्थात् अविद्यासत्त्व हेतु में अन्यथानुपपत्ति नहीं होती, अतएव जिसकी सत्ता ही

१-अनुसार यहीं पक्ष में प्रत्यक्ष से वाधा है और यह आवश्यक नहीं कि पक्ष में वाधा होने से हेतु भी वाधित होना ही चाहिए ।

स्वरूपासिद्ध इत्यर्थः । यथा अनित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वादिति । अपक्षधर्मत्वादयमसिद्धं
इति न मन्तव्यमित्याह-नान्यथानुपपन्नः' इति । अन्यथानुपपत्तिरूपहेतुलक्षणविरहाद-
यमसिद्धो नापक्षधर्मत्वं हेतोलक्षणं तदभावेऽप्यन्यथानुपपत्तिबला-
देतुत्वोपपत्तेरित्युक्तप्रायम् । भट्टोप्याह-

"पित्रोश्च द्राह्याणस्वेन पुत्रब्राह्मणलानुमा ।

सर्वलोकप्रसिद्धा न पक्षधर्मपेक्षते ॥" इति ।

३९-तथा 'अनिदिष्टतसस्वः' सन्दिग्धसस्वः नान्यथानुपपन्नः' इति सत्त्वस्य सन्दे-
हेष्यसिद्धो हेत्वाभासः सन्दिग्धासिद्धं इत्यर्थः । यथा बाष्पादिभावेन सन्दिद्धमाना धूम-
लतामिसिद्धावुपदिद्वामाना, यथा चात्मनः सिद्धादपि सर्वगतत्वे साध्ये सर्वोपलभ्य-
मानगुणत्वम्, प्रमाणाभावादिति ॥१७॥

४०-असिद्धप्रभेदानाह—

वादिधर्तवाद्यभयभेदान्वेतद्देदः ॥१८॥

सिद्ध नहीं है वह स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास कहलाता है । यथा 'शब्द अनित्य है वयोःकि वह चाक्षुष है
(यही चाक्षुषत्व हेतु शब्द में अविद्याभाव है) । किन्तु यह चाक्षुषत्व हेतु पक्ष में न रहने से अ-
सिद्ध है ऐसा नहीं मानना चाहिए, वह प्रगत करने के लिए नान्यथानुपपन्नः, ऐसा कहा है । अ-
न्यथानुपपत्ति रूप हेतु का लक्षण न होने से यह असिद्ध है पक्षधर्मता के अभाव से नहीं । वयोःकि
पक्षधर्मता न होने पर भी यही अन्यथानुपपत्ति होती है यही हेतु गमक होता है । अतएव पक्ष-
धर्मता हेतु का लक्षण नहीं है, यह पहले कहा जा चुका है । भट्ट ने भी कहा है—

माता पिता के ब्रह्मण होने से पुत्र के ब्रह्मण होने का अनुमान सम्पूर्ण लोक में प्रसिद्ध
है, किन्तु इस अनुमान के लिए पक्षधर्मता की अपेक्षा नहीं होती । तात्पर्य यह है कि माता पिता
का ब्रह्मणत्व माता पिता से ही रहता है—पुत्र में नहीं, अतएव यही पक्षधर्मता नहीं है, तथापि
लोक में यह अनुमान समीचीन माना जाता है । अतएव यह सिद्ध होता है कि 'पक्षधर्मता' हेतु का
स्वरूप नहीं है ।

**४१-तथा जो हेतु अनिदिष्ट (संदिग्ध सत्त्ववाला होता है वह भी अन्यथानुपपत्ति से
रहित होने के कारण असिद्ध कहलाता है । उसे संदिग्धासिद्धहेत्वाभास कहते हैं । जैसे यह बाष्प**
**है या धूम है ऐसा सम्बेद होने पर अस्तित्व सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त क्रिया गया धूम हेतु सं-
दिग्धासिद्ध है । आत्मा सिद्ध है तथापि उसकी सर्वव्यापकता सिद्ध करने के लिए कोई ऐसा हेतु
प्रयोग करे—आत्मा सर्वव्यापक है वयोःकि उसके गुण सर्वज्ञ उपलब्ध होते हैं, यही आत्मक गुणों
का सर्वत्र उपलब्ध होना संदिग्धासिद्ध है, वयोःकि उनकी उपस्थिति में कोई प्रमाण नहीं है ॥१७॥**

**४०-असिद्ध हेत्वाभास के भेद-सूत्रार्थ- वादी, प्रसिद्धादी और उभय के भेद से असिद्ध
हेत्वाभास में भी भेद हो जाता है ॥१८॥**

४१—‘बादी’ पूर्वपक्षस्थितः ‘प्रतिबादी’ उत्तरपक्षस्थितः उभयं द्वावेब बादिप्रतिबादिनौ । तद्देवादसिद्धस्य ‘भेदः’ । तत्र बाद्यसिद्धो यथा परिणामी शब्द उत्पत्तिमत्त्वात् । अर्यं साहृन्द्रस्य स्वयं बादिनोऽसिद्धः, तन्मते उत्पत्तिभृत्यस्यानभ्युपेतत्वात्, नासदुत्पद्यते नापि सद्गुणश्चत्युत्पादविनाशयोराविभवितिरोभावरूपत्वावितितत्सद्गुणत्वात् । चेतनास्तरथः सर्वत्वगपहरणे मरणात् । अत्र मरणं विजानेन्द्रियायुनिरोधलक्षणं तरुषु बीज्ञस्य प्रतिबादिनोऽसिद्धम् । उभयासिद्धस्तु चाक्षुषत्वभृतमेव । एवं सन्दिग्धासिद्धोऽपि बादिप्रतिबाद्युभयभेदात् त्रिविधो बोद्धव्यः ॥१८॥

४२—नन्दिव्यासिद्धोऽपि विशेष्यासिद्धादयो हेत्वाभासाः कंदिव्यदिष्यन्ते ते कस्मान्नोक्ता इत्याह—

४१—पूर्वपक्ष का आश्रय लेने वाला बादी और उत्तरपक्ष करने वाला प्रतिबादी कहलाता है । बादी और प्रतिबादी मिल कर उभय देनौं—कहलाते हैं । इनके भेद से असिद्ध हेत्वाभास में भी भेद होते हैं, अर्थात् कोई हेतु बादी को सिद्ध नहीं होता, कोई प्रतिबादी को नहीं होता । ऐसा हेतु अन्यतरासिद्ध कहलाता है । कोई हेतु ऐसा भी होता है जो दोनों को ही सिद्ध नहीं होता । वह उभयासिद्ध कहलाता है । इन तीनों के उदाहरण इस प्रकार हैं-

१—बाद्यसिद्ध—शब्द परिणामी है, क्योंकि उत्पत्तिमान् है यहाँ ‘उत्पत्तिमान् है’ यह हेतु स्वयं बादी सांख्य को असिद्ध है, क्योंकि सांख्य किसी पदार्थ की उत्पत्ति नहीं मानता । उसकी मान्यता के अनुसार असत् की उत्पत्ति नहीं होती और सत् का विनाश नहीं होता । उत्पत्ति और विनाश अविभवित और तिरोभाव मात्र ही हैं । अर्थात् सत् पदार्थ का आविभवि (व्यवत) हो जाना ही उसकी उत्पत्ति है और सत् पदार्थ का तिरोभाव हो जाना (अव्यवत हो जाना) ही विनाश कहलाता है । ऐसा सांख्य का सिद्धान्त है : (ऐसी स्थिति में जब सांख्य मीमांसक के प्रति कहता है कि ‘शब्द परिणामी है क्योंकि उत्पत्तिमान् है’ तो यहाँ उत्पत्तिमत्त्व हेतु स्वयं उसको ही सिद्ध नहीं है ।

२—प्रतिबादासिद्ध—वृक्ष सचेतन है, क्योंकि समस्त त्वचा हटा लेने पर उनका मरण हो जाता है । इस प्रकार कहने पर, प्रतिबादी बीज्ञ को यह हेतु असिद्ध है । विजान इंदिय और आयु का निरोध होना मरण कहलाता है और बीज्ञ को वृक्षों का ऐसा मरण सिद्ध नहीं है ।

३—उभयासिद्ध—शब्द अन्तिष्ठि है, क्योंकि वह चाक्षुष है । यहाँ शब्द की चाक्षुषता न बादी को सिद्ध है, न प्रतिबादी को ।

सन्दिग्धासिद्ध हेत्वाभास भी बादी प्रतिबादी और उभय के भेद से तीन प्रकार का समझ लेना, चाहिए । अर्थात् जिस हेतु की सत्ता के विषय में बादी या प्रतिबादी को संवेद्ध हो वह अन्यतर—संदिग्धासिद्ध कहलाता है और जिसकी सत्ता दोनों के लिए संविष्ट हो वह उभय संदिग्धासिद्ध कहलाता है ॥१८॥

४२—विशेष्यासिद्ध, विशेषणासिद्ध आदि अन्य हेत्वाभास दूसरों ने माने हैं । उनका कथन आपने क्यों नहीं किया? इस प्रश्न का उत्तर यह है—

विशेष्यासिद्धादीनामेष्वेवान्तर्भविः ॥१९॥

४३—‘एषेव’ वादिप्रतिवाद्युभ्यासिद्धेष्वेव | तत्र विशेष्यासिद्धादय उदाहिते । विशेष्यासिद्धो यथा अनित्यः शब्दः सामान्यवत्वे सति चाक्षुषत्वात् । विशेषणासिद्धो यथा अनित्यः शब्दः व्यक्तुरस्ये तति सामान्य विशेषवत्वात् । भागासिद्धो यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् । आश्रयासिद्धो यथा अस्ति प्रधानं विश्वपरिणामित्वात् । आश्रयंकदेशासिद्धो यथा नित्यः प्रधानपुरुषेश्वराः अकृतकत्वात् । व्यर्थविशेष्यासिद्धो यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वे सति सामान्यवत्वात् । व्यर्थविशेषणासिद्धो यथा अनित्यः शब्दः सामान्यवत्वे सति कृतकत्वात् । सन्विरधविशेष्यासिद्धो यथा अद्यापि रागादियुक्तः कपिलः पुरुषत्वे सत्यव्याप्यनुत्पन्नतत्त्वज्ञानत्वात् । सन्विरधविशेषणासिद्धो यथा अद्यापि रागादियुक्तः कपिलः सर्वदा तत्त्वज्ञानरहितत्वे सति पुरुषत्वादित्यादि । एतेऽसिद्धभेदा यदान्यतरवाच्यसिद्धत्वेन विवक्ष्यत्वे तदा बालासिद्धाः प्रतिवाद्यसिद्धावा—
सूत्रार्थ—विशेष्यासिद्ध आदि का हम्ही में समावेश हो जाता है । १९॥

४३—इरहीं में अथत् पूर्वोक्त षाठी—असिद्ध, प्रलिवादी—असिद्ध और उभ्यासिद्ध में विशेष्यासिद्ध आदि का अन्तर्भवित्वा ज्ञानत्वात् आदि का उदाहरण इस प्रकार है—

१—विशेष्यासिद्ध—शब्द अनित्य है, क्योंकि वह सामान्य (शब्दत्व) वाला होते हुए आकृष्ट है । यहीं आकृष्टत्व यह विशेष है और वह शब्द में सिद्ध नहीं है । २—विशेषणासिद्ध—शब्द अनित्य है, क्योंकि वह आकृष्ट होते हुए सामान्य—विशेष शब्दत्वमामक अपरसामान्य वाला है । यहीं हेतु का विशेषण आकृष्ट होते हुए यह असिद्ध है । ३—भागासिद्ध—शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रयत्न जनित है । यहीं प्रयत्नजन्यत्व मेव—विद्युत् आदि के शब्दों में नहीं होता, अतएव यह हेतु भागासिद्ध या एकदेशासिद्ध है (४) आश्रयासिद्ध—प्रधान (प्रकृति) है, क्योंकि वह विश्व का परिणामी कारण है । (यहीं हेतु का आश्रय—प्रधान नैयायिक आदि को सिद्ध नहीं है । (५) आश्रयंकदेशासिद्ध—प्रधान पुरुष और ईश्वर नित्य हैं । क्योंकि वे अकृतक हैं । (यहीं हेतु के तीन आश्रय हैं, उनमें से नैयायिकादि को प्रधान सिद्ध नहीं है, अतः आश्रय का एक देश असिद्ध है । (६) व्यर्थविशेष्यासिद्ध—शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक होते हुए सामान्यवान् है । (यहीं ‘क्योंकि कृतक है, इतना हेतु ही पर्याप्त था, सामान्यवान् कहना निरर्थक है’ इस प्रकार इस हेतु का विशेष्य अंश व्यर्थ होने से असिद्ध है) (७) व्यर्थविशेषणासिद्ध—शब्द अनित्य है, क्योंकि सामान्यवान् होते हुए कृतक है । (यहीं सामान्यवान् होते हुए विशेषण है और कृतकत्व विशेषण है, किन्तु विशेषण निरर्थक है) (८) सन्विरधविशेष्यासिद्ध—आज भी कपिल रागादि से युक्त है, क्योंकि पुरुष होते हुये उन्हें तत्त्वज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है ।) (यहीं कपिल को तत्त्वज्ञान का उत्पन्न न होना संदिग्ध है) । (९) सन्विरधविशेषणासिद्ध—आज भी कपिल रागादि से युक्त है, क्योंकि वह सर्वदा तत्त्वज्ञान से रहित होते हुए पुरुष है । (यहीं पूर्वोक्त विशेषण सन्विरध है ।)

वे जो असिद्ध हेत्वाभास के भेद कहे गए हैं इनमें से जो वादी या प्रतिवादी को सिद्ध नहीं हैं

भवन्ति । यदोऽथ वाचामिद्गत्येन किञ्चित्प्रगते तदोऽथ यासिद्धा भवन्ति ॥१९॥

४४—विरुद्धस्य लक्षणमाह—

विपरीतनियमोऽन्यथैवोपपद्यमानो विरुद्धः २०॥

४५—‘विपरीतः’ यथोक्ताद्विपर्यस्तो ‘नियमः’ अविनाभावो यस्य स तथा, तस्यै-
बोपदर्शनम् ‘अन्यथैवोपपद्यमानः’ इति । यथा नित्यः शब्दः कार्यत्वात्, परार्थाद्विचक्षु-
रादयः संघातत्वाद्विद्यनाशनाद्य द्वित्यत्रासंहृतपारार्थे साध्ये चक्षुरादीनां संहृतत्वं
विरुद्धम् । बुद्धिमत्पूर्वकं क्षित्यादि कार्यत्वादित्यत्राशारीरसर्वज्ञकर्तृपूर्वकत्वे साध्ये कार्यत्वं
विरुद्धसाधनाद्विरुद्धम् ।

४६—अनेन येऽन्यैरन्ये विरुद्धा उदाहृतास्तेऽपि सङ्ग्रहीताः । यथा सति सप्तके
चत्वारो भेदाः । पक्षविपक्षव्यापको यथा नित्यः शब्दः कार्यत्वात् । पक्षव्यापको विप-
क्षेकदेशाद्वृत्तिर्था निन्यः शब्दः सामान्यवर्त्वे सत्यस्मदादिब्रह्मेन्द्रियग्राह्यत्वात् । पक्षक-
वह अन्यतरासिद्ध में समाविष्ट हो जाता है और जब यह दोनों-बाबो और प्रतिकादी को लिङ्ग
नहीं होते तो उभयासिद्ध हो जाते हैं । इस प्रकार इन सभी का पूर्वोक्त असिद्ध हेत्वाभासों में
अन्तर्भव हो जाता है ॥२०॥

४८—विरुद्ध हेत्वाभास का लक्षण—सूत्रार्थ—जिसका अविनाभाव साध्य से विपरीत के साथ
हो अलएव जो साध्य के बिना ही होता हो वह विरुद्ध हेत्वाभास है ॥२०॥

४५—यहले कहा आ चुका है कि साध्य के बिना न होना हेतु का लक्षण है किन्तु जो हेतु
इससे विपरीत हो अर्थात् साध्य के बिना ही होता हो वह विरुद्ध हेत्वाभास कहलाता है । जैसे—
शब्द नित्य है क्योंकि वह कार्य है । (कार्य हेतु नित्यत्व साध्य से विपरीत अनित्यत्व के होने पर
हो सकता है) ।

चक्षु आदि इन्द्रियां परार्थ (आत्मार्थ) हैं, क्योंकि संघातरूप हैं । जैसे इयम अशान आदि के
अंग । यहाँ असंहृतपरार्थता सिद्ध करने के लिए चक्षु आदि की संहृतता विरुद्ध है ।

पूर्णी आदि बुद्धिमत्कर्तृक हैं, क्योंकि कार्य हैं । यहाँ अशारीर सर्वज्ञकर्तृकता सिद्ध करने के
लिए प्रयुक्त ‘कार्य’ हेतुविरुद्ध है । क्योंकि वह सशारीर और असर्वज्ञ कर्ता को सिद्ध करता है ।

४६—अन्य लोगोंने विरुद्ध हेत्वाभास के जो अन्य उदाहरण दिए हैं, उन सब का संसाह
इसी लक्षण से हो जाता है । यथा—सप्तक की विद्यमानता में चार भेद होते हैं ।

(१) पक्ष—विपक्षव्यापक—शब्द नित्य है, क्योंकि कार्य है । (यही कार्य हेतु पक्ष ‘शब्द, मैं
और विपक्ष घटादि, मैं व्याप्त है ।) (२) पक्षव्यापक और विपक्षेकदेशाद्वृत्ति—शब्द नित्य हैं क्योंकि
वह सामान्यतान् होता हुआ हमारी जाति इन्द्रिय ओंक द्वारा प्राप्त है । (यही हेतु पक्ष में व्याप्त

१—नैयायिक मत के अनुसार जो वस्तु जिस इन्द्रिय से प्राप्त होती है, उसमें रहने वाली जाति (सामान्य)
में उसी इन्द्रियद्वारा प्राप्त होती है ।

देशवृत्तिविपक्षव्यापको यथा नित्या पृथ्वी कुतकत्वात् । पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा नित्यः शब्दः प्रयत्नान्तरीयकत्वात् । असति सपक्षे चत्वारो विरुद्धाः । पक्षविपक्ष-व्यापको यथा आकाशविशेषगुणः शब्दः प्रमेयत्वात् । पक्षव्यापको विपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा आकाशविशेषगुणः शब्दो बाह्येन्द्रियग्राहात्वात् पक्षैकदेशवृत्तिविपक्षव्यापको यथा आकाशविशेषगुणः शब्दोऽपदात्मकत्वात् । पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा आकाशविशेषगुणः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् । एषु च चतुर्षु विरुद्धता, पक्षैकदेशवृत्तिषु, चतुर्षु पुनर-सिद्धता विरुद्धता चेत्युभ्यसमावेश इति ॥२०॥

४७—अनेकान्तिकस्य लक्षणमाह—

नियमस्याभिद्वौ सन्देहे वाऽन्यथाप्युपद्यमानोऽनेकान्तिकः ॥२१॥

है । किन्तु घटादि विपक्षों में रहता है और द्वयाणुक तथा सुख-दुःख आदि विपक्षों में नहीं रहते अतः विपक्ष में कहीं रहता है कहीं नहीं (३) अतीज-देशवृत्ति-विपक्षव्यापक-स्त्री सेना पक्षके एक भाग में रहे, दूसरे भाग में न रहे किन्तु विपक्षमें व्याप्त हो कर रहे । जैसे पृथ्वी नित्य है क्योंकि कुतक है । (यहीं कुतकत्व हेतु परमाणुरूप पृथ्वी में नहीं रहता, कार्यरूप पृथ्वी में रहता है अतः पक्षैकदेशवृत्ति है, किन्तु विपक्ष-अनित्य पदार्थों से व्याप्त है) । (४) पक्षविपक्षैकदेश-वृत्ति-शब्द नित्य है, क्योंकि वह प्रयत्नान्तरीयक है । (यह हेतु पक्ष-शब्द के एक देश में और विपक्ष (अनित्यपदार्थों) के भी एक देश में रहता है अर्थात् घटादि में रहता है, विद्युत् आदि में रहता । सपक्ष की अविद्यमानता में भी चार भेद होते हैं—

(१) पक्षविपक्षव्यापक-शब्द आकाश का विशेष गुण है, क्योंकि प्रमेयत्व हेतु शब्द में व्याप्त है और विपक्ष घटादि में भी व्याप्त होकर रहता है । सपक्ष यहीं संभव नहीं है क्योंकि आकाश का शब्द के अतिरिक्त दूसरा कोई विशेष गुण नहीं आला गया है । इसी प्रकार आगे समझ लेना चाहिए । (२) पक्षव्यापक विपक्षैकदेशवृत्ति-शब्द आकाश का विशेष गुण है क्योंकि बाह्य इन्द्रिय (श्रोत्र) के द्वारा प्राप्त है । यहीं बाह्येन्द्रिय ग्राहात्व पक्ष-शब्द में व्यापक रूप से रहता है और विपक्ष में कहीं रहता है कहीं नहीं, घटादि में रहता है, सुख-दुःख में नहीं । (३) पक्षैकदेशवृत्ति-विपक्षव्यापक-शब्द आकाश का विशेष गुण है, क्योंकि वह अपदात्मक है । (यहीं अपदात्मकत्व मेवादि की इच्छनि में रहता है, किन्तु पदरूप शब्दसंयोग में नहीं रहता, अतः पक्ष के एक देश में रहता है किन्तु विपक्ष में व्यापक रूप से रहता है, क्योंकि शब्देतर सभी पदार्थ अपद रूप हो होते हैं) । (४) पक्षविपक्षैकदेशवृत्ति-शब्द आकाश का विशेष गुण है क्योंकि प्रयत्नान्तरीयक है (यहीं प्रयत्नान्तरीयकत्व हेतु पक्ष और विपक्ष के एक-एक देश में रहता है । इन हेतुओं में से आर हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है, किन्तु पक्ष के एक देश में रहने वाले आर हेतु असिद्ध भी हो जाते हैं । इनमें दोनों दोषों का समावेश होता है ॥२०॥

४७—अनेकान्तिक हेत्वाभास का लक्षण—सूत्रार्थ—अविद्याभाव नियम की असिद्धि अवश्य उल्लंघने सन्देह होने पर साध्य के विना भी होने वाला हेतु अनेकान्तिक कहलाता है ॥२१॥

४८—'नियमः' अविनाभावस्तस्य 'असिद्धौ' 'अनेकान्तिकः' यथा अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्, प्रमेयत्वं नित्येऽप्याकाशादावस्तीति । सन्देहे यथा असर्वज्ञः कश्चिद् रागादिमान् वा वक्तृत्वात् । स्वभावविप्रकृष्टाभ्यां हि सर्वज्ञत्वबीतरागत्वाभ्यां न वक्तृत्वस्य विरोधः सिद्धः, गच्छ रागादिकर्त्तरं वस्त्रविद्विलन्तिर्दौत्तरणः । ये चान्येऽन्यैरनेकान्तिकभेदा उदाहृतास्त उक्तलक्षण एवान्तर्भवन्ति । पक्षत्रयव्यापको यथा अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् पक्षसप्तकव्यापको विपक्षेकदेशवृत्तिर्यथा गौरवं विषाणित्वात् । पक्षविपक्षव्यापकः सप्तकेकदेशवृत्तिर्यथा नाथं गौरवाणित्वात् । पक्षव्यापकः सप्तकविपक्षव्यापको यथा व द्रव्याण्याकाशकालदिग्गतममनांसि क्षणिकविशेषगुणरहितत्वात् । पक्षविपक्षे-

४८—यहाँ नियम का अभिप्राय है अविनाभाव । वह सिद्ध न हो तो हेतु अनेकान्तिक हो जाता है । जैसे शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रमेय है । यहाँ प्रमेयत्वं हेतु का अविनाभाव अनित्यता साध्य के साथ सिद्ध नहीं है, क्योंकि प्रमेयत्व आकाश आदि नित्य पदार्थों में भी पाया जाता है ।

साध्य के साथ हेतु के अविनाभाव में यदि सन्देह हो तो भी हेतु अनेकान्तिक होता है । जैसे—अमुक पुरुष असर्वज्ञ अथवा रागादिमान् है, क्योंकि वक्ता है । स्वभाव से ही विप्रकृष्ट सर्वज्ञता और बीतरागता के साथ वक्तृत्व का विरोध सिद्ध नहीं है अर्थात् जो वक्ता होता है वह सर्वज्ञ नहीं होता या बीतराग नहीं होता, ऐसा अविनाभाव निश्चित नहीं है, क्योंकि वचन रागादि या असर्वज्ञता का कार्य नहीं है अतएव यहाँ वक्तृत्व और असर्वज्ञता को व्याप्ति संदिग्ध है । (इस कारण वक्तृत्व हेतु अनेकान्तिक है ।)

अन्य लोगों ने अनेकान्तिक हेत्वाभास के जो अन्य भेद कहे हैं वे सब पूर्वोक्त लक्षण में ही अस्तर्गत हो जाते हैं । वे भेद इस प्रकार हैं—(१)पक्ष, सप्तकविपक्ष में व्याप्त हो कर रहने वाला, जैसे—शब्द अनित्य है, क्योंकि प्रमेय है । (यहाँ प्रमेयत्व हेतु पक्ष शब्द में सप्तक घटादि में और विपक्ष आत्मा आदि में व्याप्त है) । (२)पक्ष और सप्तक में व्याप्त तथा विपक्ष के एक देश में रहने वाला, जैसे यह पशु गौ है क्योंकि सींग वाला है । (यहाँ शृंगवत्त्व हेतु सब गौओं में रहता है किन्तु विपक्ष में कहीं रहता है; कहीं नहीं—महिष आदि में रहता है, अश्वादि में नहीं) । (३)पक्ष और विपक्ष में व्यापक तथा सप्तक के एक देश में रहने वाला, जैसे—यह गौ नहीं है, क्योंकि सींग वाला है । (यहाँ हेतु पक्ष में व्याप्त है, विपक्ष गौओं में व्याप्त है किन्तु सप्तक के एक देश में रहता है—महिषादि में है, अश्वादि में नहीं) । (४)पक्ष में व्यापक, सप्तक और विपक्ष के एक देश में रहने वाला, यथा—शब्द अनित्य है इयोंकि प्रत्यक्ष है । (यह हेतु पक्ष शब्द में व्यापक है, सप्तक द्वृघणुकादि में नहीं रहता घटादि में रहता है, विपक्ष सामान्य में रहता है, आकाश में नहीं) । (५) पक्ष के एक भाग में रहने वाला किन्तु सप्तक और विपक्षमें व्यापक, जैसे—आकाश काल, दिक् और मन द्रव्य नहीं हैं क्योंकि क्षणिक विशेष गुण से रहित हैं । (यह हेतु पक्ष के एक देश में नहीं रहता, क्योंकि आत्मा में सुख और आकाश में शब्द क्षणिक विशेष गुण पाये जाते हैं, कालावि में हेतु पाया जाता है सप्तक और विपक्षव्याप्त हो कर रहता है क्योंकि उनमें

कदेशवृत्तिः सपक्षव्यापी यथा न द्रव्याणि दिवकालमनांसि अमूर्तत्वात् । पक्षसपक्षेकदे-
शवृत्तिविपक्षव्यापी यथा द्रव्याणि दिवकालगतांसि अमूर्तत्वात् । पक्षवर्णकदेशवृत्तियंथा
अनित्या पृथ्वी प्रत्यक्षत्वादिति ॥२१॥

४९—उदाहरणदोषानाह—

साधर्म्यवैधम्याभ्यामष्टाबष्टौ दृष्टान्ताभासाः ॥२२॥

५०—पराथनिमानप्रस्तावादुदाहरणदोषा एवैते हृष्टान्तप्रभवत्वात् सु हृष्टान्त-
दोषा इत्युच्यन्ते । हृष्टान्तस्य च साधर्म्यवैधम्यमेदेन द्विविधत्वात् प्रस्त्येकम् 'अष्टा-
बष्टौ' हृष्टान्तबदाभासमानाः 'हृष्टान्ताभासाः' भवन्ति ॥२२॥

५१—तानेबोदाहरति विभजति च—

अमूर्तत्वेन नित्ये शब्दे साध्ये कर्म—परमाणु—घटाः साध्यमाधनोभयाविकलाः ॥२३॥

क्षणिक विशेष गुण नहीं पाया जाता ।) (६) पक्ष और विपक्ष के एक देश में रहने वाला यथा सपक्ष में व्याप्त हो कर रहने वाला, यथा दिवकाल और मन द्रव्य नहीं हैं, क्योंकि अमूर्त हैं (यहीं अमूर्तत्व हेतु पक्ष के एक देश में रहता है एक देश में नहीं, क्योंकि मन अमूर्त नहीं है । विपक्ष द्रव्य है, उनमें से अमूर्तत्व हेतु भी आकाश में रहता है, पृथ्वी में नहीं, किन्तु सपक्ष गुणावि-
में व्याप्त होकर रहता है ।) (७) पक्ष और सपक्ष के एक देश में रहने वाला किन्तु विपक्ष में
व्याप्त, जैसे—दिवकाल और मन द्रव्य हैं, क्योंकि अमूर्त हैं । (यहीं द्वयेतर पैदार्थ विपक्ष हैं
और अमूर्तत्व उनमें व्याप्त होकर रहता है ।) (८) पक्ष, सपक्ष और विपक्ष तीनों के एक देश में
रहने वाला यथा पृथ्वी अनित्य है, क्योंकि प्रत्यक्ष है । (यहीं पक्ष परमाणु रूप पृथ्वी प्रत्यक्ष नहीं
कार्य पृथ्वी प्रत्यक्ष है, अप् और तेज के द्वयानुक प्रत्यक्ष नहीं होते अतः सपक्ष के एक देश में रहता
है और विपक्ष अर्थात् नित्य पैदार्थों में से सामान्य आदि प्रत्यक्ष हैं, आकाश प्रत्यक्ष नहीं है ।
इस प्रकार तीनों के एक—एक देश में रहता है ।) ॥२१॥

४९—उदाहरण के दोष—

सूत्रार्थ—साधर्म्य और वैधम्य के भेद से हृष्टान्ताभास आठ-आठ प्रकार के हैं ॥२२॥

* ५०—पराथनिमान का प्रकरण होने से उदाहरण के ही ये दोष हैं, किन्तु हृष्टान्त से उत्पन्न
होने के कारण हृष्टान्त के दोष कहलाते हैं । हृष्टान्त वो प्रकार का है—साधर्म्यहृष्टान्त और वैध-
म्यहृष्टान्त । इनमें से प्रत्येक के आठ-आठ दोष हैं । जो वस्तुतः हृष्टान्त के लक्षण से रहित हो
किन्तु हृष्टान्त के सहश ग्रतीत हो वह हृष्टान्ताभास कहलाता है । ॥२२॥

५१—हृष्टान्तदोषों के उदाहरणविभाग—सूत्रार्थ—अमूर्तत्व हेतु से शब्द की नित्यता सिद्ध
करने के लिए कर्म, परमाणु और घट यह तीनों हृष्टान्त कमशः साध्यविकल, साधनविकल और
उभयविकल हैं । ॥२३॥

५२—नित्यः शब्दः अमूर्तत्वादित्यस्मिन् प्रयोगे कर्मदयोऽयथासङ्गचं साध्यादि
विकलः । तत्र कर्मददिति साध्यविकलः, अनित्यत्वात् कर्मणः । परमाणुवदिति साध्य-
तविकलः, मूर्तत्वात् परमाणुनाम् । घटददिति साध्यसाधनोभवविकलः अनित्यत्वा-
न्मूर्तत्वाच्च घटस्येति । इति त्रयः साधमर्यहृष्टान्ताभासः ॥२३॥

वैधमर्यः परमाणुकमिकाशा । साध्याद्यव्यतिरेकिणः ॥२४॥

५३—नित्यः शब्दः अमूर्तत्वादित्यस्मिन्नेव प्रयोगे 'परमाणुकमिकाशा' साध्य-
साधनोभवव्यतिरेकिणो हृष्टान्ताभासा भवन्ति । यज्ञित्य न भवति तदमूर्तमपि न
भवति यथा परमाणुरिति साध्याद्यव्यतिरेकी, नित्यत्वात् परमाणुनाम् । यथा कर्मेति
साधनाद्यादृतः, अमूर्तत्वात् कर्मणः । यथाकाशमित्युभयाद्यादृतः, नित्यत्वादमूर्तत्वा-
च्चाकाशस्येति त्रय एव वैधमर्यहृष्टान्ताभासः ॥२४॥

५४—तथा-

**वचनाद्रागे रागान्मरणधर्मकिञ्चिज्ञत्वयोः सन्दिग्धसाध्याद्यन्वयव्यतिरेका
रथ्यापुरुषादयः ॥२५॥**

५२—शब्द नित्य है, वयोंकि अमूर्त है, जैसे कर्म + इस अनुभानप्रयोग में कर्म हृष्टान्त साध्य-
विकल है, वयोंकि कर्म नित्य नहीं, अनित्य है + परमाणुहृष्टान्त साधनविकल है, वयोंकि परमाणु
अमूर्त नहीं, मूर्त है घट हृष्टान्त उभयविकल है वयोंकि घट न नित्य है और न अमूर्त ही है
अतएव यह तीन साधमर्य हृष्टान्ताभास हैं । तात्पर्य यह है कि साधमर्य हृष्टान्त में साध्य और
साधन दोनों की सत्ता होनी चाहिए, किन्तु यहाँ प्रहण किये हृष्टान्तों में वह नहीं है, अतएव ऐसे
हृष्टान्ताभास हैं ॥२३॥

सूत्रार्थ-वैधमर्य से परमाणु कर्म और आकाश कमशा साध्याव्यतिरेकी साधनाव्यतिरेकी और
उभयाव्यतिरेकी हैं ॥२४॥

५३—शब्द नित्य है, वयोंकि अमूर्त है, इसी पूर्वोवित प्रयोग में परमाणु कर्म और आकाश
ये उपतिरेकहृष्टान्ताभास हैं 'जो नित्य नहीं होता वह अमूर्त नहीं होता जैसे -'परमाणु' यही
'परमाणु' साध्याव्यतिरेकी हृष्टान्ताभास है वयोंकि परमाणु नित्य होते हैं । 'जो नित्य नहीं होता'
वह अमूर्त नहीं होता जैसे कर्म, यही 'कर्म' साधनाव्यतिरेकी है वयोंकि 'कर्म' अपूर्त है । 'जो
नित्य नहीं होता' वह अमूर्त नहीं होता, जैसे आकाश । यही आकाश उभयाव्यतिरेकी हृष्टान्ताभास है,
वयोंकि आकाश नित्य भी है और अमूर्त भी है । अतएव यह तीनों वैधमर्य हृष्टान्ताभास हैं ।
तात्पर्य यह है कि वैधमर्य हृष्टान्त में साध्य और साधन दोनों का अभाव होना चाहिए, किन्तु यहाँ
अभाव नहीं है, अतएव ये वैधमर्य हृष्टान्त कहे गए हैं ॥२४॥

५४—इसी प्रकार (लिखन भी आभास है) सूत्रार्थ—'वचन' हेतु से राग सिद्ध करने में और
'राग' हेतु से संविधमंता तथा असर्वज्ञता सिद्ध करने में रथ्यापुरुष आदि हृष्टान्त संविधि साध्या-
व्यतिरेकी, संविधसाधनाव्यव्यवस्थिरेकी और संविधि-उभयव्यतिरेकी हृष्टान्ताभास हैं ॥२५॥

इनेष्विकसमत कर्मपदार्थ ।

५५-सन्दिग्धसाध्यसाधनोभयान्वयः सन्दिग्धसाध्यसाधनोभयव्यतिरेकाश्च त्रय-
स्त्रयो हृष्टान्ताभासा भवन्ति । के इत्याह-रथ्यापुरुषबद्यते । कस्मिन् साध्ये । 'रागे'
'मरणधर्मकिञ्चञ्जन्त्वयो' च । कस्मादित्याह-'वचनात्' 'रागात्' च । तत्र सन्दि-
ग्धसाध्यधर्मान्वयो यथा विवक्षितः पुरुषविशेषो रागी वचनात् रथ्यापुरुषबद् । सन्दि-
ग्धसाध्यधर्मान्वयो यथा मरणधर्माऽयं रागात् रथ्यापुरुषबद् । सन्दिग्धोभयव्यतिरेको
यथा किञ्चञ्जन्त्वयोऽयं रागात् रथ्यापुरुषबद्यति । एषु परचेतोवृत्तीनां दुरधिगमत्वेन
साध्यमर्यहृष्टान्ते रथ्यापुरुषे रागकिञ्चञ्जन्त्वयोः सत्त्वं सन्दिग्धम् । तथा सन्दिग्धसा-
ध्यव्यतिरेको यथा रागी वचनात् रथ्यापुरुषबद् । सन्दिग्धोभयव्यतिरेको यथा मर-
णधर्माऽयं रागात् रथ्यापुरुषबद् । सन्दिग्धोभयव्यतिरेको यथा किञ्चञ्जन्त्वयोऽयं रागात्
रथ्या पुरुषबद् । एषु पूर्वबद् परचेतोवृत्तेवृत्त्वादौधर्म्यहृष्टान्ते रथ्यापुरुषे राग-
किञ्चञ्जन्त्वयोरसत्त्वं सन्दिग्धमिति ॥२५॥

५५-सन्दिग्धसाध्यान्वयः सन्दिग्धसाधनान्वय और सेविग्धसाध्यसाधनान्वय, संदिग्धसाध्य-
व्यतिरेक, संदिग्धसाधनव्यतिरेक और संदिग्धसाध्य-साधनव्यतिरेक, इस प्रकार तीन-तीम हृष्टा-
न्ताभास संदेह के कारण होते हैं । ये हृष्टान्ताभास 'दचन'हेतु और 'राग'हेतु से राग तथा मरण-
धर्मता या किञ्चञ्जन्ता भिन्न करने के लिए प्रयुक्त रथ्यापुरुष आदि हैं । इनके उदाहरण इस प्रकार हैं-

(१) संदिग्धसाध्यान्वय-अमुक पुरुष रागी है क्योंकि वक्ता है, जो वक्ता होता है यह
रागी होता है' जैसे राहगीर पुरुष । (यहाँ राहगीर में राग का होना संदिग्ध है, क्योंकि दूसरे के
चित्त की दृति दुर्जय होती है ।) (२) संदिग्धसाधनान्वय-यह पुरुष मरणधर्मी है, क्योंकि इसमें
राग है, जैसे राहगीर । (यहाँ राहगीर में साधन-राग कर अस्तित्व संदिग्ध है ।) (३) संदिग्ध-
साध्यसाधनान्वय-यह पुरुष अल्पज्ञ है, क्योंकि रागदात् है जैसे राहगीर । (यहाँ राहगीर में
अल्पज्ञता साध्य और रागवस्तु साधन होना निश्चित नहीं है ।)

दूसरे की चित्तवृत्ति को समझना आसान नहीं है, अतएव राह चलते किसी पुरुष में राग
और अल्पज्ञता का सत्त्व निश्चित नहीं होता है । (अन्वय हृष्टान्त में साध्य और साधन दोनों का
अस्तित्व निश्चित होना आवश्यक है । यहाँ उनका अस्तित्व न होने से ये हृष्टान्ताभास हैं ।)

(१) सेविग्धसाध्यव्यतिरेक-यह पुरुष रागी है, क्योंकि बोलता है । जो रासी नहीं होता
वह बोलता नहीं है, जैसे राहगीर । (यहाँ राहगीर में राष्ट्रीयता का अभाव निश्चित नहीं होता है
व्यतिरेक हृष्टान्त में साध्य और साधन दोनों का अभाव निश्चित होना चाहिए ।) (२) संदिग्ध-
साधनव्यतिरेक-यह पुरुष मरणधर्मी है, क्योंकि रागी है, जो मरणधर्मी नहीं होता वह रासी नहीं
होता, जैसे राहगीर । (यहाँ साधन का अभाव नहीं होता है ।) (३) संदिग्ध उभय-
व्यतिरेक-यह पुरुष अल्पज्ञ है, क्योंकि रासी है, जो अल्पज्ञ नहीं होता वह रासी नहीं होता, जैसे
राहगीर पुरुष । (यहाँ हृष्टान्त में साध्य और साधन दोनों ही संदिग्ध होने से हृष्टान्ताभास हैं ।)

इन सब हृष्टान्तों में भी पूर्ववत् राग और अल्पज्ञता के असाध का निश्चय नहीं, क्योंकि
दूसरे की चित्तवृत्ति को जानना असान नहीं है । अतएव यह वैधमर्यहृष्टान्ताभास है । ॥२५॥

५६-तथा-

विपरीतान्वयव्यतिरेकौ ॥३६॥

५७-'विपरीतान्वयः' विपरीतव्यतिरेकः च हृष्टान्ताभासौ अवतः । तत्र विपरीतान्वयो यथा यत् कृतकं तदनित्यमिति वक्तव्ये यदनित्यं तत् कृतकं यथा घट इत्याह । विपरीतव्यतिरेको यथा अनित्यत्वाभावे न भवत्येव कृतकत्वमिति वक्तव्ये कृतकत्वाभावे न भवत्येवानित्यत्वं यथाकाश इत्याह । साधनधर्मनुवादेन साध्यधर्मस्य विद्यानमित्यन्वयः । साध्यधर्मव्यावृत्यनुवादेन साधनधर्मव्यावृत्तिविद्यानमिति व्यतिरेकः । तयोरन्यथाभावे विपरीतत्वम् । यदाह—

“साध्यानुवादालिङ्गस्य विपरीतान्वयो विधिः ।

हेत्वभावे त्वस्तसाध्यं व्यतिरेकविषयं ये ॥” इति ॥२६॥

अप्रदर्शितान्वयव्यतिरेकौ ॥२७॥

५८-'अप्रदर्शितान्वयः'अप्रदर्शितव्यतिरेक , च हृष्टान्ताभासौ । एतौ च प्रमाणस्यानुपदर्शनाद्भूतो न सु वीप्सासविधारणपदानामप्रयोगात्, सत्सवपि तेष्वसति

५९-(और भी हृष्टान्ताभास है) तथा—

सूत्रार्थ-विपरीतान्वय और विपरीतव्यतिरेक भी हृष्टान्ताभास है ॥२६॥

५७-साधन के सद्भाव में साध्य का सद्भाव जहाँ प्रदर्शित किया जाता है वह अन्वय-हृष्टान्त कहलाता है । इससे विपरीत प्रयोग करना 'विपरीतान्वय' है और साध्य के अभाव में साधन का अभाव जहाँ प्रदर्शित किया जाय वह व्यतिरेकहृष्टान्त कहलाता है । इसके विपरीत प्रयोग करना विपरीतव्यतिरेक, हृष्टान्ताभास है । जैसे--शब्द अनित्य है क्योंकि कृतक है । यहाँ कहना तो ऐसा चाहिए कि-कृतक होता है वह अनित्य होता है, किन्तु इससे विपरीत कहना कि-ओ अनित्य होता है वह कृतक होता है जैसे घट, यह विपरीतान्वय है ।

विपरीतव्यतिरेक, जैसे जो अनित्य नहीं होता वह कृतक नहीं होता, ऐसा कहना चाहिए किन्तु इससे विपरीत कहना-'जो कृतक नहीं होता वह अनित्य नहीं होता जैसे आकाश । यह विपरीतव्यतिरेक है । कहर भी है—

साध्य का अनुवादकरणके साधन का विद्यान करना विपरीतान्वय कहलाता है और साधन के अभाव में साध्य का अभाव प्रदर्शित करना विपरीतव्यतिरेक है ॥२६॥

सूत्रार्थ-अप्रदर्शितान्वय और अप्रदर्शितव्यतिरेक नामक भी भी हृष्टान्ताभास है ॥२७॥

५८—अन्वय को न दिखलाना और व्यतिरेक को न दिखलाना भी हृष्टान्ताभास हैं । वे हृष्टान्ताभास तर्कनामक व्याप्तिग्राहक प्रमाण के न दिखलाने पर होते हैं, वीप्सा, सर्व अवदारण पदों का प्रयोग न करने से नहीं होते । क्योंकि इन पदों के न होने पर भी प्रमाण द्वितीय न हो तो अन्वय और व्यतिरेक की सिद्धि नहीं होती ।

प्रमाणे तयोरसिद्धोरति । साध्यविकलसाधनविकलोभयविकलः, संदिग्धसाध्यान्वय-
सन्दिग्धसाधनान्वयसन्दिग्धोभयान्वयः, विषरीतान्वयः, अप्रदशितान्वयइत्यष्टौ साध-
म्यहृष्टान्ताभासाः । साध्याव्यावृत्तसाधनान्वयावृत्तोभयाव्यावृत्ताः, संदिग्धसाध्यव्या-
वृत्तिसन्दिग्धसाधनव्यावृत्तिसन्दिग्धोभयव्यावृत्तयः, विषरीतव्यतिरेकः, अप्रदशितव्य-
तिरेकइत्येत्यष्टौवेव चैधम्यहृष्टान्ताभासा भवन्ति ।

५९—सत्त्वनन्वयाव्यतिरेकावपि कैश्चिद् हृष्टान्ताभासावृत्तौ, यथा रागादिमान्-
नयं वचनात् । अत्र साधम्यहृष्टान्ते आत्मनि रागवचनयोः सत्यपि साहित्ये, चैधम्य-
हृष्टान्ते चोपलखण्डे सत्यमपि सह मिथुतौ प्रतिबन्धाभावेनान्वयव्यतिरेकयोरभाव
इत्यनन्वयाव्यतिरेकौ । तौ कस्मादिहु नोक्तौ? । उच्यते—ताम्यां पूर्वे न भिद्धन्त इति
साधम्यवैधम्यभ्यां प्रत्येकमष्टावेव हृष्टान्ताभासा भवन्ति । यदाहुः—

तास्यं यह है—जो कृतक होता है वह वह सब अनित्य ही होता है जैसे घट, जो जो
अनित्य नहीं होता वह वह सब कृतक नहीं होता, जैसे आकाश । इस प्रकार व्याप्ति प्रदशित त
किया जाय तो अप्रदशितान्वय और अप्रदशितव्यतिरेक हृष्टान्ताभास होते हैं । यहाँ जो जो इस
प्रकार दो बार 'जो' शब्द का या 'सब' शब्द का या 'ही' शब्द का प्रयोग न करने से उक्त दोष
नहीं होते ।

सब मिल कर अन्वय हृष्टान्ताभास और व्यतिरेकहृष्टान्ताभास के आठ-आठ भेद इस प्रकार हैं—

अन्वयहृष्टान्ताभास—(१) साध्यविकलअन्वयहृष्टान्ताभास (२) साधन विकल अन्वयहृ-
ष्टान्ताभास (३) उभयविकलहृष्टान्ताभास (४) संदिग्धसाध्य अन्वयहृष्टान्ताभास (५) संदिग्धसा-
धन अव (६) संदिग्धउभय अव (७) विषरीतान्वय (८) अप्रदशितान्वयहृष्टान्ताभास ।

व्यतिरेकहृष्टान्ताभास—(१) साध्याव्यतिरेकी हृष्टान्ताभास (२) साधनाव्यतिरेकी (३)-
उभयाव्यतिरेकी (४) संदिग्धसाध्यव्यतिरेकी (५) संदिग्धसाधनव्यतिरेकी (६) संदिग्ध उभयव्यति-
रेकी (७) विषरीतव्यतिरेकी (८) और अप्रदशितव्यतिरेकी हृष्टान्ताभास ।

५९—प्रश्न—किन्हीं—किन्हीं आश्रायों ने अनन्वय और अव्यतिरेक भावक हृष्टान्ताभास भी
वक्तव्यए हैं । जैसे—'यह पुरुष रागादिमान् है, वयोंकि वक्ता है । यहाँ साधम्य हृष्टान्त आत्मा में
राग और वचन दोनों का साथ-साथ अस्तित्व पाया जाता है और चैधम्यहृष्टान्त पाण्डित्यण्ड में
व्योंकि का अभाव होता है—अथत् जो वक्ता होता है वह रागादिमान् होता है, जैसे—संसारी आत्मा
और जो रागादिमान् नहीं होता वह वक्ता भी नहीं होता, जैसे पाण्डित्यण्ड । इस प्रकार साध्य
और साधन की साथ-साथ सत्ता और असत्ता होने पर भी इनमें अनन्वय और व्यतिरेक का अस्तव्य
हो अभाव है (वयोंकि किसी आत्मा में वक्तव्य होने पर भी रागादि का अभाव होता है) ।
अतएव वचन और रागादि का विदिषत अविनाभाव न होने से अनन्वय और अव्यतिरेक दोष है ।
इन दोनों का आपने उल्लेख क्यों नहीं किया है? उत्तर—पूर्वोक्त आठ भेद इनसे पृथक् नहीं हैं,
अभाव वे अनन्वय और अव्यतिरेक ही हैं, अतएव इन दो को पृथक् कहने की आवश्यकता नहीं
रहती । इस प्रकार एक-एक हृष्टान्ताभास के आठ आठ ही भेद होते हैं, कहा भी है—

“लिङ्गस्यानन्दया अष्टावष्टावव्यतिरेकिणः ।

नान्यथानुपश्चत्वं कथंचित् खण्डयन्त्यभी ॥” इति ॥२७॥

६०-अवसितं पराथनिमानमिदानीं तन्नान्तरीयकं दूषणं लक्षयति-

साधनदोषोद्भावनं दूषणम् ॥२८॥

६१—‘साधनस्य’ पराथनिमानस्य ये असिद्धविशद्वादयो ‘दोषाः’ पूर्वमुक्तास्ते वामुद्भाव्यते प्रकाश्यतेऽनेनेति ‘उद्भावनम्’ साधनदोषोद्भावकं अच्चनं ‘दूषणम्’ । उत्तरशाभूतग्रहणादिह भूतदोषोद्भावना दूषणेति सिद्धम् ॥२८॥

६२—दूषणलक्षणे दूषणाभासलक्षणं सुज्ञानमेव भेदप्रतिपादनार्थं तु तल्लक्षणमाह—
अभूतदोषोद्भावनानि दूषणाभासा जात्युत्तराणि ॥२९॥

६३—अविद्यमानानां साधनदोषाणां प्रतिपादनान्यदूषणान्यपि दूषणवाचास-
मानानि ‘दूषणाभासाः’ । तानि च ‘जात्युत्तराणि’ । जातिशब्दः साहश्यवचनः । उत्त-
रसहशानि जात्युत्तराणि । उत्तरस्थानप्रथमुक्तत्वात् । उत्तरसहशानि जात्युत्तराणि ।
जात्या साहश्येनोत्तराणि जात्युत्तराणि । तानि च सम्यग्येतौ हेत्वाभासे वा वादिना

साधन के अनन्दय आठ हैं और अध्यतिरेक भी आठ ही हैं । यह आठ-आठ हृष्टान्ताभिन्न-
कथंचित् अविद्यमात्य संबंध के अभाव को सूचित करते हैं ॥२७॥

६०—पराथनिमान पूर्ण हुवा । अब पराथनिमानसंबंधी दोष के स्वरूप का निरूपण करते हैं-
सूत्रार्थ—साधन के दोषों को प्रकाशित करना दूषण कहलाता है ॥२८॥

६१—साधन अर्थात् पराथनिमान के जो असिद्धता विशद्वता आदि दोष पहले बतलाए जा-
युके हैं, उन दोषों को प्रकट करने वाला वचन ‘दूषण’ कहा जाता है । अगले सूत्र में ‘अभूत, शब्द-
ही ग्रहण किया है, अतएव यही भूत-सद्भूत विद्यमान दोषों को प्रकट करना दूषण है, ऐसा समझ-
लेना चाहिए ॥२८॥

६२—दूषण का लक्षण समझ लेने पर दूषणाभास सहज हो समझा जा सकता है, किन्तु उसके
मेंदों का निरूपण करने के लिए लक्षण का प्रतिपादन करते हैं-

सूत्रार्थ—अविद्यमान दोषों का उद्भावन करना जात्युत्तर है । वही दूषणाभास है ॥२९॥

६३—जो वास्तव में दूषण न हो किन्तु दूषण जैसे प्रतिमालित हो वह दूषणाभास कहलाता है । उसे जात्युत्तर भी कहते हैं । सार्वपर्यं यह है कि साधन में दोष न होने पर भी दोष का जात्युत्तर करना दूषणाभास है ।

जात्युत्तर पद में ‘जाति, वाद्य सहशता का वाचक है अतः जो उत्तर के सहश हीं वे
‘जात्युत्तर, कहलाते हैं । उत्तर के स्थान पर प्रयुक्त होने के कारण वे उत्तर के समान होते अवशा-
जाति अर्थात् सहशता के कारण जो उत्तर रूप समझे जायें उन्हें जात्युत्तर समझना चाहिए ।

वादी ने सभीचीन हेतु अथवा हेत्वाभास का प्रयोग किया । प्रतिवादी को अल्पी भूमि कोई
वास्तविक दोष उसमें नहीं सूझा । तब वह हेतुसरीखे प्रतीत होने वाला कुछ भी अंदरसंद प्रयोग

प्रयुक्ते इटिति तदोषतस्वाप्रतिभासे हेतुप्रतिविम्बनप्रायाणि प्रत्यवस्थानान्यनन्तत्वा^१ स्थरिसङ्ख्यातुं न शक्यन्ते, तथाप्यक्षपाददर्शितदिशा साधम्यादिप्रत्यवस्थानभेदेन साधम्यवैधम्येत्कर्षपकर्षवैधम्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिहृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणाहेत्ववैधित्यविशेषोपपत्युपलब्धनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमरूपतया चतुविश्वातिरूपदश्यन्ते ।

६४—तत्र साधम्येण प्रत्यवस्थानं साधम्यसमा जातिः । यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवदिति प्रयोगे कृते साधम्याद्वयोर्पैषव शत्यवस्थानम्—नित्यः शब्दो निरवयवत्वादाकाशवत् । न चालित विशेषहेतुधर्षटसाधम्यात् कृतकत्वादनित्यः शब्दो न पुनराकाशसाधम्याद्विरवयवत्वान्नित्य इति १ । वैधम्येण प्रत्यवस्थानं वैधम्यसमा जातिः । यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वादित्यत्रैव प्रयोगे स एव प्रतिहेतुवैधम्येण प्रयुक्त्यते—नित्यः शब्दो निरवयवत्वात् ; अनित्यं हि सावयवं हृष्टं घटादीति । न चास्ति विशेषहेतुधर्षटसाधम्यात्कृतकत्वादनित्यः शब्दो न पुनस्तदैधम्याद्विरवयवस्थान्नित्य इति २ । उत्कर्षपकर्षभ्यां प्रत्यवस्थानमुल्कर्षपकर्षसमे जाती । तत्रैव प्रयोगे हृष्टान्तफरके वादी के हेतु का निरसन करता है । निरसन के ये प्रकार अगणित हैं । कोई नियत संख्या नहीं हो सकती । फिर भी नैयायिक शास्त्र में प्रदर्शित विश्वा के अनुसार आत्मस्तर या आतिर्यां चौबीस हैं । वे यहाँ भी दिखलाई जाती हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) साधम्यसमा (२) वैधम्यसमा (३) उत्कर्षसमा (४) अपकर्षसमा (५) वैर्यसमा (६) अवैर्यसमा (७) विकल्पसमा (८) साध्यसमा (९) प्राप्तिसमा (१०) अप्राप्तिसमा (११) प्रसंगसमा (१२) प्रतिहृष्टान्तसमा (१३) अनुत्पत्तिसमा (१४) संशयसमा (१५) प्रकरणसमा (१६) अहेतुसमा (१७) अर्थापत्तिसमा (१८) अविशेषसमा (१९) उपपत्तिसमा (२०) उपलब्धिसमा (२१) अनुपलब्धिसमा (२२) नित्यसमा (२३) अनित्यसमा और (२४) कार्यसमा ।

६४ (१) साधम्यसमा—साधम्य विखलाकर वादी के साधन का निरास करना साधम्यसमा जाति है । जैसे—शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है, घट के समान । वादी के द्वारा ऐसा प्रयोग करने पर साधम्यप्रयोग के द्वारा ही उसका निरास करना, यथा—शब्द नित्य है, क्योंकि निरवयव है, जैसे—आकाश । कोई कारण नहीं कि घट के समान कृतक होने से शब्द अनित्य हो तो आकाश के समान निरवयव होने से नित्य न हो ।

* (२) वैधम्यसमा—विस्फृतता दिखा कर निरास करना वैधम्यसमा जाति है । यथा—शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है, जैसे—घट, ऐसा प्रयोग करने पर वही विरोधी हेतु प्रयुक्त करना—शब्द नित्य है, क्योंकि निरवयव है । जो अनित्य होता है वह सावयव देखा जाता है, जैसे—घटादि, कोई विशेष कारण नहीं कि घट के समान कृतक होने से घट शब्द अनित्य है तो घट से विषेरीत निरवयव होने से नित्य न हो ।

(३) उत्कर्षसमा—उत्कर्ष (अधिकता) दिखला कर हेतु का निरास करना उत्कर्षसमा जाति है । यहले बाले प्रयोग में ही हृष्टान्त (सप्तक) के किसी धर्म को पक्ष में आपादन करने

धर्मं किञ्चत् साध्यधर्मिष्योपादयन्त्रकर्त्तव्यसमां जाति प्रयुक्तते—यदि घटवत् कृतकर्त्तव्य—
दनित्यः शब्दो घटवदेव मूलोऽपि भवतु । न चेन्मूलों घटवदनित्योऽपि मा भूदिति
शब्दे धर्मान्तरोत्कर्त्तव्योपादयति ३ । अपकर्त्तव्यस्तु घटः कृतकः सज्जशावणो हृष्ट एवं
शब्दोप्यस्तु । नो चेद् घटवदनित्योऽपि मा भूदिति शब्दे श्रावणश्वद्धर्मपकर्त्तीति ४ ।
वर्णविष्याभ्यां प्रत्यवस्थानं वर्णविष्यसमे जाती । हयापनीयो वर्णस्तद्विपरीतोऽवर्णः ।
तावेतौ वर्णविष्यां साध्यहृष्टान्तधर्मां विष्यस्यन् वर्णविष्यसमे जाती प्रयुक्तते—यथा-
विधः शब्दधर्मः कृतकर्त्तव्यादिनं ताहृष्टघटधर्मो याहृष्टघटधर्मो न ताहृष्ट कृतकर्त्तव्य इति
५—६ । धर्मान्तरविकल्पेन प्रत्यवस्थानं विकल्पसमा जातिः । यथा कृतकं किञ्चिच-
न्मूलु हृष्टं राज्ञवश्यादि, किञ्चित्कठिनं कुठारादि, एवं कृतकं किञ्चिचदनित्यं भविष्यति
घटादि किञ्चिचभित्यं शब्दादीति ७ । साध्यसाम्योपादनेन प्रत्यवस्थानं साध्यसमा
जातिः । यथा—यदि यथा घटस्तथा शब्दः, प्राप्तं तर्हि यथा शब्दस्तथा घट इति ।
शब्दश्व यथा इति घटोऽपि साध्यो भवतु । ततश्च न साध्यः साध्यस्य हृष्टान्तः
स्यात् । न चेदेवं तथाधि वैलक्षण्यान्तसुतरामहृष्टान्त इति ८ । प्राप्त्यप्राप्तिविकल्पाभ्यां
वाला उत्कर्त्तव्यसमाजाति का प्रयोग करता है । यथा—यदि घट के समान कृतक होने से शब्द अनित्य
हैं तो घट के समान मूर्त्ति भी होना चाहिए । ऐसा कह कर शब्द में एक दूसरे धर्म (मूर्त्तव्य) की
अधिकता ना रखा जान करता है ।

(४) अपकर्त्तव्यसमा—अपकर्त्तव्य अथवा न्यूनता दिलाकर निरास करना । जैसे—घट कृतक होता
हुआ अथावण है तो इसी प्रकार शब्द भी अथावण होना चाहिए । यदि घट के समान अथावण
महीं हैं तो घट के समान अनित्य भी महीं होना चाहिए । ऐसा कह कर शब्द के अवशणस्व धर्म
का अपकर्त्तव्य करता है ।

(५—६) वर्णसमा—अवर्ण और अवर्ण के द्वारा निरास करना वर्णसमा
और अवर्णसमा जातियाँ हैं । मिद्द करने योग्य साध्यधर्म वर्ण कहलाता है और हृष्टान्त का
धर्म अवर्ण कहलाता है । इस साध्य और हृष्टान्त के धर्मों को उलटालट करने वाला वर्णसमा
और अवर्णसमा जाति का प्रयोग करता है । यथा—जिस प्रकार का कृतकर्त्तव्य शब्द का धर्म है,
उस प्रकार का घट का धर्म नहीं है और जैसा घट का धर्म है वैसा शब्द का धर्म नहीं है ।

(७) विकल्पसमा—धर्मान्तर का विकल्प करके निरास करना विकल्पसमा जाति है ।
यथा—कृतक पदार्थ कोई—कोई मूलु देखा जाता है, जैसे—रांकव (मूर्गचमं की) शस्या और कोई-
कोई कठिन होता है जैसे—कुठार आदि । इसी प्रकार कोई कृतक पदार्थ अनित्य भी होंगे । जैसे-
घट आदि और कोई नित्य होंगे, जैसे शब्द आदि ।

(८) साध्यसमा—साध्य के साथ समानता दिलाकर निरास करना साध्यसमा जातिहै ।
यथा—यदि जैसा घट है वैसा ही शब्द है तो इसका अर्थ यह हुआ कि जैसा शब्द है वैसा ही घट
है । इस प्रकार जब दोनों सरीखे हैं तब शब्द साध्य है तो घट भी साध्य होना चाहिए और जब
दोनों ही साध्य हैं तो एक साध्य दूसरे साध्य का हृष्टान्त किस प्रकार हो सकता है ? यदि दोनों
में समानता नहीं है तो दोनों एक दूसरे से विलक्षण होंगे और ऐसी स्थिति में घट हृष्टान्त नहीं
हो सकता !

प्रत्यवस्थानं प्राप्त्यप्राप्तिसमे जाती । यथा यदेतत् कृतकर्त्वं त्वया साधनमुपन्वस्ते तत्त्विक प्राप्य साधयत्यप्राप्य वा ? । प्राप्य चेत् ; इयोविद्यमानयोरेव प्राप्तिभवति, असंदसतोरिति । इयोइच सत्त्वात् कि कस्य साध्यं साधनं वा ? ९ । अप्राप्य तु साधन-त्वमयुक्तमतिप्रसङ्गादिति १० । अतिप्रसङ्गापादनेन प्रत्यवस्थानं प्रसङ्गसमा जातिः । यथा यद्यनित्यत्वे कृतकर्त्वं साधनं कृतकर्त्वं इदानीं कि साधनम् ? । तत्साधनेऽपि कि साधनमिलि ? ११ । प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टान्तसमा जातिः । यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकर्त्वात् घटवित्युक्ते जातिवाद्याह—यथा घटः प्रयत्ना-नन्तरीयकोऽनित्यो हृष्ट एवं प्रतिदृष्टान्त आकाशं नित्यमपि प्रयत्नानन्तरीयकं हृष्टम्, कूपसनन्नप्रयत्नानन्तरमुपलभादिति । न चेदमनेकान्तिकत्वोऽद्वावनम्, भज्ञन्तरेण प्रत्यवस्थानात् १२ । अनुत्पत्या प्रत्यवस्थानमनुत्पत्तिसमा जातिः । यथा अनुत्पत्यमेष्टवालये धर्मिणि कृतकर्त्वं धर्मः वब वर्तते ? । तदेवं हेत्यभावादसिद्धिरनित्यत्वस्येति १३

(९-१०) प्राप्तिसमा—अप्राप्तिसमा—प्राप्ति और अप्राप्ति का विकल्प सदा करके हेतु का निरास करना प्राप्तिसमा और अप्राप्तिसमा जातियाँ हैं । यथा—अपने कृतकर्त्व हेतु का जो प्रयोग किया है सो वह साध्य को प्राप्त करके साधता है या बिना प्राप्त किये ही ? यदि प्राप्त करके साधता है ऐसा कही तो प्राप्ति तो दो विद्यमान पदार्थों की ही होती है—एक विद्यमान ही और दूसरा अविद्यमान ही तो प्राप्ति नहीं होती, और जब दोनों विद्यमान हैं तो कौन किसका साधन होगा ? अगर कही कि कृतकर्त्व हेतु साध्य को प्राप्त किये बिना ही सिद्ध करता है तो वह कथन अनुचित है । प्राप्त किये बिना कोई किसी को साध नहीं सकता ।

(११) प्रसंगसमा—अतिप्रसंग का आपादन करके निरास करना । जैसे—यदि शब्द की अनित्यता सिद्ध करने के लिए कृतकर्त्व हेतु प्रयोग करते हों तो कृतकर्त्व को सिद्ध करने के लिए वह हेतु है ? और उस हेतु को सिद्ध करने के लिए भी कौन-से हेतु का प्रयोग करते हों ?

(१२) प्रतिदृष्टान्तसमा—विरोधी हृष्टान्त के द्वारा निरास करना प्रतिदृष्टान्तसमा जाति है । यथा—शब्द अनित्य है, क्योंकि प्रयत्नजनित है, जैसे—घट ; इस प्रकार वादी के कहने पर जातिवादी कहता है—जैसे—घट प्रयत्नजनित होने से अनित्य देखा जाता है, उसी प्रकार व्यतिरेक हृष्टान्त आकाश नित्य होते हुए भी प्रयत्नजनित देखा जाता है, क्योंकि कूप खोदने के प्रयत्न के पश्चात् आकाश का उपलभ्य होता है ! यह हेतु में अनेकान्तिक दोष का उद्भवन करना नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसका तरीका दूसरा होता है कौर यह दोष दूसरे तरीके से प्रकट किया गया है ।

(१३) अनुत्पत्तिसमा—अनुत्पत्ति दिखा कर निरास करना । जैसे—अब शब्द धर्मो उत्पन्न नहीं होता तब कृतकर्त्व कहा रहता है ? अथवा वह होता ही नहीं । इस प्रकार हेतु का अभाव होने से अनित्यत्व साध्य की सिद्धि नहीं होती ।

साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा वा या जातिः पूर्वमुवाहृता संव संशयेनोपसंन्हियमात्मा संशयसमा जातिर्भवति । यथा किं घटसाधर्म्यात् कृतकल्पादनित्यः शब्द उत्त लघुधर्म्यादाकाशसाधर्म्याद्वा निरवयवत्वान्नित्य इति ? १४ । द्वितीयपक्षोत्थापनबुद्धभा प्रयुज्यमाना संव साधर्म्यसमा वैधर्म्यसमा वा जातिः प्रकरणसमा भवति । तत्र अनित्यः शब्दः कृतकल्पाद् घटवदिति प्रयोग-नित्यः शब्दः आवणत्वाच्छब्दवदवदिति उद्भावनप्रकारभेदमात्रे सति नानात्म द्रष्टव्यम् १५ । अंकाल्यानुपपत्त्या हेतोः प्रत्यवस्थानमहेतुसमा जातिः । यथा हेतुः साधनम् । तत् साध्यात्पूर्वं पहचात् सह वा भवेत् ? । यदि पूर्वम् ; असति साध्ये तत् कस्य साधनम् ? । अथ पहचात्साधनम् ; पूर्वं तर्ह साध्यम्, तस्मिन्देव पूर्वसिद्धे किं साधनेन ? । अथ युगपत्साध्यसाधने ; लहि तयोः सञ्चेतरगोविधाणयोरिव साध्यसाधनभाव एव न भवेदिति १६ । अर्थपित्त्या प्रत्यवस्थानमथपित्तिसमा जातिः । यद्यनित्यसाधर्म्यात्कृतकल्पादनित्यः शब्दः, अर्थादापद्माते नित्यसाधर्म्यान्नित्य इति । अस्ति चास्य वित्येनाकाशादिना साधर्म्यं निरवयवत्वमि-त्युद्भावनप्रकारभेद एवायभिति १७ । अविशेषापादनेन प्रत्यवस्थानमविशेषसमा

(१४) संशयसमा—यहले जो साधर्म्यसमा और वैधर्म्यसमा जाति कही है, उसका उपर्युक्त यदि संशय के रूप में हो तो संशयसमा जाति कहलाती है । यथा—घट के समान कृतक होने से शब्द अनित्य है या घट के विलक्षण आकाश के समान निरवयव होने से नित्य है;

(१५) प्रकरणसमा—दूसरे पक्ष को खड़ा करने की बुद्धि से प्रयोग में लाई जाने वाली वही साधर्म्यसमा या वैधर्म्यसमा जाति प्रकरणसमा कहलाती है । यथा—शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है, जैसे—घट । इस प्रकार अनुमान प्रयोग करने पर जातियादी कहसा है—शब्द नित्य है, क्योंकि आवण है, जैसे—शब्दत्व । यद्यपि आत वही है किर भी दोषोदभावन के तरीके में भेद होने से इस जाति को भिज्ज कहा है ।

(१६) अहेतुसमा—हेतु को अंकालिक अनुपपत्ति (असंगति) प्रवर्णित कर के निरसन करना । यथा—हेतु का मतलब साधन है । वह साधन साध्य से पहले होगा, पहचात् होगा अथवा साथ-साथ होगा? यदि पहले होना कहीं तो साध्य के अभाव में वह किसका साधन होगा? (जब साध्य ही नहीं तो साधन कौसा?) अगर साधन पहचात् होता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि साध्य, साधन से पहले ही विद्युमान है तो साधन को आवश्यकता ही क्या है? कदाचित् साध्य और साधन का साथ-साथ होना माना जाय तो गाय के बाहिने और बाये सोंगों के समान साथ-साथ होने वाले वो पदार्थों में साध्य-साधनभाव कंसे हो सकता है?

(१७) अर्थपित्तिसमा—अर्थपित्ति द्वारा निराकरणकरना अर्थपित्तिसमा जाति है । यथा यदि अनित्य के समान कृतक होने से शब्द अनित्य है तो इसका अर्थ यह हुआ कि नित्य के समान होने से नित्य है । शब्द की नित्य आकाश से निरवयवधर्म के लिहाज से समानता तो ही ही! यही भी उद्भावना के प्रकार में ही भिज्जता है ।

१८—अविशेषसमा—विशेषता का अभाव कह कर निराप करना । जैसे—यदि शब्द और

जातिः । यथा यदि शब्दव्याप्तयोरेको धर्मः कृतकत्वमिव्यते तद्विं समानधर्मयोगात्तयोर-
विशेषे तद्वदेव सर्वपदार्थानामविशेषः प्रसञ्ज्यत इति १८ । उपपत्त्या प्रत्यवस्थानमुप-
पत्तिसमा जातिः । यथा यदि कृतकत्वोपपत्त्या शब्दस्थानिस्यत्वम्, निरवयवत्वोपपत्त्या
नित्यत्वमपि कर्मान्न भवति ? । पक्षद्वयोपपत्त्याऽनध्यवसायपर्यवसानत्वं विवक्षित-
मित्युद्ग्रावनप्रकारभेद एवायम् १९ । उपलब्धया प्रत्यवस्थानमुपलब्धिसमा जातिः ।
यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति प्रयुक्ते प्रत्यवतिष्ठते—न खलु प्रयत्ना-
नन्तरीयकत्वमनित्यत्वे साधनम्; साधनं हि तद्वच्यते येन विना न साध्यमुपलब्धते
उपलब्धते च प्रयत्नानन्तरीयकत्वेन विनाऽपि विद्युदादावनित्यत्वम् । शब्देऽपि ववचि-
द्वायुवेगभज्यमानवनस्पत्यादिजन्ये लर्थेवेति २० । अनुपलब्धया प्रत्यवस्थानमुपलब्धि-
समा जातिः । यथा तत्रैव प्रयत्नानन्तरीयकत्वहेतावुपन्यस्ते सत्याहु जातिवादी—न
प्रयत्नकार्यः शब्दः प्रागुच्चारणादस्त्येसावावरणयोगात् भोपलभ्यते । आवरणानुप-
लमभेदप्यनुपलब्धभान्नास्त्येव शब्द इति चेत्; न, आवरणानुपलमभेदप्यनुपलमभसङ्कूवा-
त् । आवरणानुपलब्धेश्चानुपलमभादभावः । तदभावे चावरणोपलब्धेभविते भवति ।

१९—उपपत्तिसमा— उपपत्ति के द्वारा निराकरण करना उपपत्तिसमा जाति है । यथा-
यदि कृतकत्व की उपपत्ति से शब्द अनित्य है तो निरवयवत्व की उपपत्ति से नित्य वर्यों नहीं हैं!
यहाँ नित्यता और अनित्यता दोनों पक्षों की उपपत्ति होने से अनध्यवसाय (अनिश्चय) में पर्यव-
सान होना विवक्षित है । इस प्रकार उद्भावना के प्रकार में ही भेद समझना चाहिए ।

२०—उपलब्धिसमा—उपलब्धि के द्वारा निराकरण करना जैसे—शब्द अनित्य है, वर्योंकि
वह प्रयत्नजन्य है, ऐसा वादी के कहने पर जातिवादी कहता है—प्रयत्नजन्यता अनित्यत्व सिद्ध
करने में साधन नहीं है । साधन वही कहलाता है जिसके बिना साध्य की उपलब्धि न हो सके
मगर विद्युत् आदि में अनित्यता तो प्रयत्नजन्यता के बिना भी उपलब्ध होती है । इसी प्रकार
वायु के वेग से टूटने वाली वनस्पति आदि से उत्पन्न शब्द में भी वह प्रयत्नजन्यता के बिना ही
पाई जाती है ।

* २१—अनुपलब्धिसमा—अनुपलब्धि बताकर निरास करना अनुपलब्धिसमा जाति है । जैसे
—पूर्ववत् प्रयत्नजन्यत्व हेतु का प्रयोग करने पर जातिवादी कहता है—शब्द प्रयत्न का कार्य नहीं
है, वह तो उच्चारण करने से पहले भी विद्यमान रहता है, मगर आवरण के कारण उसकी
उपलब्धि नहीं होती । कदाचित् कहा जाय कि आवरण की उपलब्धि न होने पर भी शब्द का
अनुपलंभ होता है, इस कहरण शब्द (उच्चारण से पहले) नहीं होता, सो ठीक नहीं, वर्योंकि
आवरण का उपलंभ न होने पर भी शब्द का अनुपलंभ हो सकता है । आवरण की अनुपलब्धि
का अनुपलंभ होने से अमाव भी होता है । उसके अमाव में आवरण की उपलब्धि होती है । अत-

ततश्च मृदन्तरितमूलकीलोदकादिवदावरणोपलब्धिकृतमेव शब्दस्य प्रागुच्चारणादग्ने—
हणमिति प्रयत्नाकार्यत्वाभावाभित्यः शब्द इति २१ । साध्यधर्मनित्यानित्यत्वविक-
ल्पेन शब्दनित्यत्वापादनं नित्यसमा जातिः । यथा अनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञाते जाति-
वादी विकल्पयति—येयमनित्यता शब्दस्योच्यते सा किमनित्या लित्या वेति ? । यद्य-
नित्या; तदियमवश्यमपायिनीत्यनित्यताया अपायत्यनित्यः शब्दः । अथानित्यता
नित्यत्वं; तथापि धर्मस्य नित्यत्वास्तस्य च निराश्रयस्यानुपपत्तेस्तदाश्रयमूलः
शब्दोऽपि नित्यो भवेत्, तदनित्यत्वे तद्धर्मनित्यत्वायोगादित्युभयथापि नित्यः
शब्द इति २२ । सर्वभावानित्यत्वोपपादनेन प्रत्यवस्थानमनित्यसमा जातिः । यथा
घटेन साध्यधर्मनित्येन शब्दस्यास्तीति लस्यानित्यत्वं यदि प्रतिपाद्यते, तद् घटेन
सर्वपदाथनिमहत्येव किमपि साध्यधर्मनित्यत्वं स्यात् । अथ पदार्थान्त-
राणां तथाभावेऽपि नानित्यत्वम्; तहि शब्दस्यापि तन्मा भूदिति । अनित्यत्वमात्रा-
पादनपूर्वकविशेषोऽनुवाचाव्याख्येषसमातो भिन्नेयं जातिः २३ । प्रयत्नकार्यमाना-
त्वोपन्यासेन प्रत्यवस्थानं कार्यसमा जातिः । यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयक-
एव मिट्ठी में बड़े हुए मूल या कील के समान उच्चारण से पहले शब्द की अनुपलब्धि आवरणो-
पलब्धिकृत होती है । इस प्रकार शब्द प्रयत्न का कार्य न होने से नित्य है ।

(२२) नित्यसमा—साध्यधर्म में नित्यता और अनित्यता का विकल्प करके शब्द की
नित्यता का आपादन करना नित्यसमा जाति है । यथा—‘शब्द अनित्य है’ इस प्रकार प्रतिज्ञा का
प्रयोग करने पर जातिवादी विकल्प करता है—आप शब्द की जो अनित्यता कहते हो सो वह अनि-
त्यता अनित्य है या नित्य? यदि अनित्य है तो अवश्य हो नष्ट होने वाली है और अनित्यता जब
नाशशील है तो शब्द नित्य होगा । अगर शब्द को अनित्यता नित्य है तो धर्म नित्य होने से
धर्मी भी नित्य होना चाहिए क्योंकि धर्मों के बिना निराधार धर्म रह नहीं सकता । यदि शब्द
अनित्य होता तो उसका धर्म (अनित्यत्व) नित्य नहीं हो सकता था । इस प्रकार दोनों तरह
से शब्द की नित्यता ही सिद्ध होती है ।

(२३) अनित्यसमा—सर्व भावों की अनित्यता का आपादन करके हेतु का निरास करना
अनित्यसमा जाति है । यथा—यदि अनित्य घट के साथ समानता होने के कारण शब्द को अनित्य
कहते हो तो किसी भी अंत में सभी पदार्थ घट के समान हैं । अतः सभी पदार्थ अनित्य
हो जाने चाहिए । यदि अनित्य घट के साथ समानता होने पर भी अन्य पदार्थ (आत्मा व्याकाश
आदि) अनित्य नहीं हैं तो शब्द भी अनित्य नहीं होना चाहिए ।

पूर्वोक्त (१८वीं) अविशेषसमा जाति में सब पदार्थों में सामान्यतया विशेषता का अभाव प्रति-
पादन किया गया है । यहाँ सब पदार्थों में अनित्यता की समानता का प्रतिपादन किया गया है ।

(२४) कार्यसमा—प्रयत्न के कार्यों का नामापन कह कर हेतु का निरास करना कार्यसमा
जाति है । यथा—शब्द अनित्य है, क्योंकि प्रयत्नअन्य है, इस प्रकार वादी के कहने पर जातिवादी

१—सत्त्व आदि सामान्य धर्मों की समानता तो ही है ।

त्वादित्युक्ते जातिवाचाह प्रयत्नस्य हृष्टम्—किञ्चिच्चदसदेव तेन जन्यते यथा घटादि, किञ्चिच्चत्सदेवावरणव्युदासादिनाऽभिद्युक्ते यथा मूदन्तरितमूलकीलादि, एवं प्रयत्नकार्यनामात्वादेष प्रयत्नेन शब्दो अथज्ञते जन्यते वेति संशय इति । संशयापादत्प्रकारभेदाच्च संशयसमातः कार्यसमा जातिभिन्नते २४ ।

६५—तदेवमुद्गावविषयविकल्पभेदेन जातीनामानन्येऽप्यसङ्कीर्णोद्याहरणविवक्षया चतुविशतिज्ञतिभेदा एते दशिताः । प्रतिसमाधानं तु सर्वजातीनामन्यथानुपपत्तिलक्षणानुमानलक्षणपरीक्षणमेव । न हृष्टविष्णुतलक्षणे हेतावेवप्रायाः पांशुपाताः प्रभवन्ति । कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वयोश्च हृष्टप्रतिबन्धत्वाद्यावरणादिकृतं शब्दानुपलभन्नमपि त्वनित्युत्त्वकृतमेव । जातिप्रयोगे च परेण कृते सम्यगुत्तरमेव वक्तव्यं त प्रतीपं जात्युत्तरेव प्रत्यवस्थेयमासमञ्जस्य प्रसङ्गादिति ।

६६—छलमपि च सम्यगुत्तरत्वाभावाजात्युत्तरभेद । उक्तं हृष्टदुःद्गावनप्रकारभेदेनानन्तानि जात्युत्तराणीति । तत्र परस्य वदतोऽर्थविकल्पोपयादनेन वचनविधातश्छलम् । तत्त्रिधा वावृद्धं सामान्यच्छलमुपवारच्छलं चेति । तत्र साधारणे शब्दे कहता है—प्रयत्न के दो रूप दियाई देते हैं । प्रथम यह कि प्रयत्न किसी असत् पवार्य को उत्पन्न करता है, जैसे घट को । दूसरा रूप यह है कि प्रयत्न के द्वारा आवरण हृष्ट जाने से सत् पवार्य प्रकट हो जाता है, जैसे मिठी से दबे हुए मूल कील आदि । इस प्रकार जब प्रयत्न के कार्य नाम हैं तो संशय उत्पन्न होता है कि प्रयत्न के द्वारा शब्द व्यक्त किया जाता है अथवा उत्पन्न किया जाता है ?

संशयसमा और कार्यसमा जाति में संशय का आपादन करने में भेद है, अतएव कार्यसमा जाति उससे भिन्न है ।

इस प्रकार (असत् दोष की) उद्भावना के विषय और विकल्प के भेद से जातियाँ अनन्त हैं फिर भी उनके पृथक् उद्भावणों की विवक्षा करके चौबीस भेद यहाँ दिखलाए गए हैं । इन सभी जातियों का प्रतिसमाधान अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु के लक्षण की परीक्षा करना ही है । अन्यथानुपपत्ति लक्षण से यूक्त हेतु का प्रयोग किया जाय तो उस पर इस तरह की छूल नहीं ढाली जा सकती । कृतकत्व और प्रयत्नानन्तरीयकत्व में निश्चित अविनाभाव संबंध है, अतएव शब्द को अनुपलब्धि आवरण के कारण नहीं बरन् अनित्यत्व के कारण ही होती है ।

* प्रतिवादी यदि जाति का प्रयोग करे तो वादी को सभीचीन उसका ही देना चाहिए; असत् उसका देकर ही उसका प्रत्यवस्थान नहीं करना चाहिए । जाति प्रवृत्ति के बदले में जाति प्रयोग करने से असमंजस हो जाता है ।

छलनिरूपण सम्पर्क रूप न होने से छल भी जात्युत्तर ही है । पहले ही कहा जा चुका है कि उद्भावना के प्रकारों में अन्तर होने से जातियाँ अनन्त हैं । किसी वादी के वचन में कार्य का विकल्प उत्पन्न करके उसके वचन का विधात (खण्डन) करना छल कहलाता है । छल तीन प्रकार के हैं— (१) वाक्छल (२) सामान्यछल और (३) उपचारछल ।

प्रयुक्ते व्यक्तुरभिप्रेतादथर्थान्तरकल्पनया तन्निषेधो वाक्छलम् । यथा नवकम्बलो-
ऽयं माणवक इति नूतनविवक्षया किञ्चिते परः सञ्चायामारोप्य निषेधति—कुतोऽस्य
नव कम्बला इति? । सम्भावनयातिप्रसङ्गिनोऽपि सामान्यस्योपन्यासे हेतुव्यारोपणेन
तन्निषेधः सामान्यच्छलम् । यथा अहो नु खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसम्पद्म
इति ब्राह्मणस्तुतिप्रसङ्गे पादिष्ठद्विदति—सम्भवति ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पद्म
भवति, वात्येऽपि सा भवेत् वात्योऽपि ब्राह्मण एवेति । औपचारिके प्रयोगे मुख्यप्रति-
ष्ठेन प्रत्यवस्थानमुपबारच्छलम् । यथा मञ्चाः क्रोशन्तीति उक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते
—कथमचेतनाः मञ्चाः क्रोशन्ति? मञ्चस्थास्तु पुरुषाः क्रोशन्तीति । तदत्र छलव्ययेऽपि
वृद्धव्यवहारप्रसिद्धशब्दसामर्थ्यंपरीक्षणमेव समाधानं वेदितव्यमिति ॥२९॥

(१) वाक्छल—वक्ता ने किसी साधारण—जिसका दूसरा भी अर्थ हो सकता है, शब्द का प्रयोग किया । प्रतिवादी उसके अमीठ अर्थ को छोड़ कर दूसरे अर्थ की कल्पना करके उसके वचन का खंडन करता है । यह वाक्छल है । जैसे—किसी ने कहा—‘यह बालक नवकम्बल है।’ कहने वाले का अभिप्राय यह था कि इस बालक के पास नव—नवीन कम्बल है, किन्तु प्रतिवादी ‘नव’ शब्द में संलग्न का आरोप करके कहता है—कहाँ हैं इसके पास नी कम्बल? ऐसा कहना बाक्छल है ।

(२) सामान्यछल—संभावना के आधार पर व्यभिचरित सामान्य का कथन करने पर प्रतिवादी यदि उस कथन को हेतु मान लेता है और उस कथन का निषेध करता है तो वह सामान्यछल कहलाता है । यथा ‘बाहु, यह ब्राह्मण है विद्या और आचरण से सम्पन्न! इस प्रकार ब्राह्मण की प्रशंसा के प्रशंसा में कोई कहता है—ब्राह्मण में विद्या और आचरण की सम्पत्ति हो सकती है । तब छलवादी ब्राह्मणत्व को हेतु मानकर पूर्वान्तर कथन का निराकरण करता हुआ कहता है—यदि ब्राह्मण में विद्या और आचरण की सम्पत्ति हो सकती है तो वात्य में भी हीनी चाहिए । वात्य भी तो ब्राह्मण ही है ।

तत्त्वर्थ यह है कि यहाँ ब्राह्मण होने के कारण विद्या और आचरण के होने की संभावना भाव की गई थी मगर छलवादी ने ब्राह्मणत्व को हेतु मान लिया अर्थात् यह पुरुष विद्या और सदाचार से सम्पन्न है, क्योंकि ब्राह्मण है, जो ब्राह्मण होते हैं वे विद्या और सदाचार से सम्पन्न होते हैं । इस प्रकार की कल्पना कर ली और इसी कल्पना के आधार पर वादी के कथन में वात्य से व्यभिचार घटलाया । यही सामान्यछल कहलाता है ।

(३) उपचारछल—उपचरित प्रयोग करने पर उसे मुख्य प्रयोग मानना और उसका निषेध करना उपचारछल है । यथा ‘मञ्चाः क्रोशन्ति-मञ्चे शोर करते हैं’ इस प्रकार उपचार से कहने पर छलवादी कहता है—अचेतन मञ्चे कैसे शोर कर सकते हैं? मञ्चस्थ पुरुष शोर कर रहे हैं । यह उपचार छल है । इन तीनों छलों का समाधान वृद्ध जनों के व्यवहार से प्रसिद्ध शब्दसामर्थ्य की परीक्षा करना ही है ॥२९॥

६७—साधनदूषणाद्यभिधानं च प्रायो वादे भवतीति वादस्य लक्षणमाह—
तत्त्वसंरक्षणार्थं प्राशिनकादिसमक्षं साधनदूषणवदन् वादः ॥३०॥

६८—स्वपक्षसिद्धये वादिनः ‘साधनम्’ तत्प्रतिषेधाय प्रतिवादिनो ‘दूषणम्’ । प्रतिवादिनोऽपि स्वपक्षसिद्धये ‘साधनम्’ तत्प्रतिषेधाय वादिनो ‘दूषणम्’ तदेवं वादिनः साधनदूषणे प्रतिवादिनोऽपि साधनदूषणे द्वयोर्वादिप्रतिवादिभ्याम् ‘वदनम्’ अभिधानम् ‘वादः’ । कथमित्याह—‘प्राशिनकादिसमक्षम्’ । प्राशिनकाः सम्भ्याः—

“स्वसमयपरसमयज्ञाः कुलजाः पक्षद्वयेप्लिताः क्षमिणः ।

वादपथेष्वभियुक्तास्तुलासमाः प्राशिनकाः प्रोक्ताः”

इत्येकलक्षणाः । ‘आदि’ ग्रहणेन सभापतिवादिप्रतिवादिपरिग्रहः, सेयं चतुरङ्गान कथा एकस्याप्यङ्गस्य वैकल्ये कथात्वानुपपत्तेः । तहि वण्डिभिरपाललक्ष्मम् अन्यायान्यायव्यवस्थापकं पक्षपातरहितवेत्त समहृष्टि सभापतिं यथोक्तलक्षणाद्यच प्राशिनकान् विना वादिप्रतिवादिनौ स्वाभिमृतसाधनदूषणसरणिमाराधयितुं क्षमी । नापि दुःशिक्षितकुर्तक्त्वेक्षणाचालबालिशज्जनविप्लववितो गतानुगतिको जनः सम्भार्म प्रतिपद्येतेति । तस्य फलमाह—‘तत्त्वसंरक्षणार्थम्’ । ‘तत्त्व’ शब्देन तत्त्वनिश्चयः साधुजनहृदयविपरिवर्ती गृह्णते, तस्य रक्षणं दुविदधजनजनितविकल्पकल्पनात इति ।

६९—साधन और दूषण का प्रयोग प्रायः वाद में ही किया जाता है, अतः वाद के लक्षण का निरूपण करते हैं—सूत्रार्थ—तत्त्व का संरक्षण करने के लिए सभ्यों आदि के समक्ष साधन और दूषण का कथन करना वाद है ॥३०॥

६८—वादी अपने पक्ष की सिद्धि के लिए साधन का प्रयोग करता है और प्रतिपक्ष का निषेध करने के लिए दूषण का प्रयोग करता है । प्रतिवादी भी इसी प्रकार साधन और दूषण का प्रयोग करता है । यही वाद कहलाता है । किन्तु यह साधन-दूषणप्रयोग सभ्यों आदि के समक्ष होता है । सूत्र में प्रयुक्त ‘प्राशिनक, शब्द का अर्थ ‘सम्भ्य’ है । सम्भ्य इस प्रकार होने आहिए—स्वपर सिद्धान्त के ज्ञाता, कुलीन, दोनों पक्षों के द्वारा स्वीकृत, अभिवान्, वाद पक्ष में निषुम और तुला के समान निष्पक्ष न्याय करने वाले प्राशिनक कहे गए हैं ।

सूत्र में प्रयुक्त ‘आदि’ शब्द से सभापति वादी और प्रतिवादी का ग्रहण होता है । जहाँ यह आरों होते हैं वह चतुरंग कथा कहलाती है । इनमें से एक भी अंद्र की कमी होने पर कथा (वाद) नहीं हो सकतो । वर्णात्मक के पालन में समर्थ, न्याय-अन्याय की व्युक्तिस्था करने वाले और निषेध होने से समहृष्टि सभापति के विना और पूर्वोक्त लक्षणों से सम्बद्ध प्राशिनकों के विना वादी और प्रतिवादी स्वाभिमृत साधन-दूषण की प्रणाली का अवलम्बन नहीं कर सकते । और उन दुःशिक्षित, थोड़ा सा कुत्का सोख कर वाचाल बने हुए मूढ़ लोगों द्वारा बरगलाए, लकीर के फलीर लोग सम्भार्म को अंगीकार कर सकते हैं । वाद का फल है तत्त्व का संरक्षण करना । यहाँ ‘तत्त्व’ शब्द से उस तत्त्वनिश्चय को समझना चाहिए जो भव्र पुरुषों के चित्त में अन्यथा भासित

६९—ननु तत्त्वरक्षणं जल्पस्य वितण्डाया वा प्रयोजनम् । यदाह—“तत्त्वाध्यक्षं सायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्रश्नोहसंरक्षणार्थं कण्टकझाखापरिचरणवत्” (न्यायसू. ०-४२.५०) इति ; न. वादस्यापि निग्रहस्थानवस्त्रेन तत्त्वसंरक्षणार्थत्वात् न वास्य निग्रहस्थानवस्त्रमसिद्धम् । “प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपत्रः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः” (न्यायसू. १. २. १) इति वादलक्षणे सिद्धान्ताविरुद्ध इत्यनेनापसिद्धान्तस्य, पञ्चावयवोपपत्र इत्यनेन न्यूनाधिकयोहेत्वाभासपञ्चकस्य चेत्यष्टानां निग्रहस्थानानामनुज्ञानात्, तेषां च निग्रहस्थानान्तरोपलक्षणत्वात् । अत एव न जल्पवितण्डे कथे, वादस्यैव तत्त्वसंरक्षणार्थत्वात् ।

७०—ननु “यथोवतोपपत्रच्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः” (न्या १-५. २) “स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा” (न्या १. १. ३) इति लक्षणे भेदाद्वितण्डे अपि कथे विद्येते एव? न; प्रतिपक्षस्थापनाहीनाया वितण्डावादः कथात्वायोगात् । वैतण्डको हि सदपक्षमभ्युपगम्यास्थापयन् यत्किंचिद्विद्वादेन परपक्षमेव दूषयन् कथमय-धेयवचनः? । जल्पस्तु यद्यपि द्वयोरपि वादिप्रतिवादिनोः साधनोपालम्भसम्भावनया होने लगा हो । अपने आपको पण्डित मानने वाले लोगों के द्वारा उपपत्र किये गये विकल्पों की कल्पना से उसकी रक्षा करना ही वाद का प्रयोजन है (कीति या अर्थलाभ आदि नहीं ।)

६९—शंका—तत्त्व की रक्षा करना जल्प या वितण्ड का प्रयोजन है । न्यायसूत्र में कहा है— कैसे धान्य के अंकुरों की रक्षा के लिए काटों की आड़ खेत के आरों तरफ लगाई जाती है । उसी प्रकार तत्त्वनिदिच्य की रक्षा के लिए जल्प और वितण्डा का उपयोग किया जाता है । समाधान-ऐसा कहना ठीक नहीं । वाद का प्रयोजन भी तत्त्वसंरक्षण करना है, क्योंकि वह भी निग्रहस्थान वाला होता है । वाद निग्रहस्थान वाला होता है, यह असिद्ध नहीं है । न्यायसूत्र में वाद का लक्षण यों दिया है—“प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपत्रः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः ।” वाद के इस लक्षण में ‘सिद्धान्ताविरुद्ध’ इस पद से अपसिद्धान्त नामक निग्रहस्थान को, ‘पञ्चावयवोपपत्र’ इस पद से न्यून और अधिक निग्रहस्थानों को और पाँच प्रकार के हेत्वाभासों को, इस प्रकार आठ निग्रहस्थानों को स्वीकार किया है । यह आठ निग्रहस्थान दूसरे शेष निग्रहस्थानों के उपलक्षण है । अतएव जल्प और वितण्डा कथा नहीं हैं, केवल वाद ही तत्त्व के संरक्षण के लिए होता है ।

७०—शंका—जिसमें छल, जाति, निग्रहस्थान, साधन और दूषण का प्रयोग हो वह जल्प कहलाता है । वही जल्प जब प्रतिपक्ष की स्थापना से रहित हो तो वितण्डा कहलाता है । इस प्रकार जल्प और वितण्डा का लक्षण अलग-अलग है, अतः ये दोनों भी कथाएं ही हैं । समाधान-प्रतिपक्ष की स्थापना से रहित वितण्डा को कथा नहीं कहा जा सकता । वितण्डावादी अपने पत्र को स्वीकार करके भी उसे सिद्ध नहीं करता, वह यद्या तद्वा बोलकर केवल परपक्ष को ही दूषित करता है । अतएव उसका कथन उपादेय कैसे हो सकता है? हाँ, जल्प में वादी और प्रति-

‘क्षेत्रात्वं लभते तथापि न बादादर्थान्तरम्, बादेनैव चरितार्थेत्वात् । छलजातिनिष्ठ-हस्थानभूयस्त्वयोगादचरितार्थं इति चेत्; न, छलजातिप्रयोगस्य दृषणाभासत्वेनाग्र-योजयत्वात्, निष्प्रहस्थानानां च बादेयविशद्गत्वात् न खलु खट्कपेटामुखबन्धादयोऽनु-चिता नियहा जल्येऽप्युपयुज्यन्ते । उचितानां च निष्प्रहस्थानानां बादेऽपि न विरोधो-अस्ति । तत्र बादात् जल्पस्य किञ्चिद् विशेषोऽस्ति । लाभपूजारूपातिकामितादीनि तु प्रयोजनानि तस्याद्यवसायसंरक्षणलक्षणप्रधानफलानुवन्धीनि पुरुषघर्वत्वाद्वादेऽपि न निवारयितुं पार्यन्ते ।

७१—ननु छलजातिप्रयोगोऽसदुत्तरत्वाद्वादे न भवति, जल्पे तु तस्यानुज्ञानाद-स्ति बादजल्पयोविशेषः । यदाहु-

“दुशिक्षितकुतकश्लेशबाचालिताननाः ।
शवयाः किमन्यथा जेतुं वितण्डाटोपपण्डिताः ॥
गतानुगतिको लोकः कुमार्गं तत्प्रतारितः ।

सा गादिति छलजादीनि प्राहु कारणिको मुनिः” ॥ इति(न्याम्.११)
‘बादी दोनों संवक्षणसाधन और परवक्षणदूषण करते हैं। इस कारण वह कथा तो अवश्य है परन्तु बाद से भिन्न नहीं है। उसका समावेश बाद में ही हो जाता है।

शंका—जल्प में छल, जाति और निष्प्रहस्थान की प्रचुरता रहती है, इस कारण उसका बाद में समावेश नहीं हो सकता, समाधान—नहीं। छल और जाति अस्तुतः दृषणाभास हैं। अतएव उनके प्रयोगमात्र से जल्प को बाद से पृथक् नहीं किया जा सकता। एहं परे निष्प्रहस्थान, जो उनका प्रयोग तो बाद में भी किया जा सकता है।

निष्प्रह वो प्रकार के होते हैं—अनुचित और उचित। थप्पड़ भारता, प्रतिबादी का सुह घंव कर देना आदि अनुचित निष्प्रह है। जल्प में सौ इसका प्रयोग नहीं किया जाता है। उचित निष्प्रहस्थानों का प्रयोग बाद में भी होता ही है। इस कारण बाद और जल्प में कोई विशेषता नहीं है, जिससे दोनों को पृथक् पृथक् कथा स्वीकार किया जाए।

लाभ, पूजा अथवा रूपाति की कामना आदि प्रयोजन सत्यनिदवय के संरक्षण रूप प्रधान फल के अनुज्ञादी हैं। ये पुरुष के धर्म हैं। अतएव बाद में भी इन्हें रोका नहीं जा सकता। साम्पर्य यह है कि लाभ आदि प्रयोजन जल्प में होते हों और बाद में न होते हों, ऐसी बात नहीं है। अतएव इस आधार पर भी दोनों में भेद नहीं किया जा सकता।

७२—शंका—छल और जाति का प्रयोग असत् उत्तर होने के कारण बाद में नहीं किया जा सकता, किन्तु जल्प में उनके प्रयोग की अनुभति दो गई है। इस कारण बाद और जल्प में भेद है। कहा भी है—

‘जिन्होने दुशिक्षा पाई है, जो थोड़ा-सा कुतक का अंश सीख कर बाचाल बने हुए हैं और वितण्डा के आङ्गम्बर से युक्त हैं, वे व्या अन्यथा अर्थात् छल जाति आदि के विना जीते आँख़करते हैं? कदापि नहीं।’

नेवम् । असदुत्तरे परप्रतिक्षेपस्य कर्तुमयुक्ततत्त्वात्; न ह्यन्यायेन जयं यशो धर्मं वा महात्मानः समीहन्ते । अथ प्रबलप्रतिवादिदर्शनात् तज्जये धर्मद्वंससम्भावनात्, प्रतिभावयेण साध्यमुलरस्याप्रतिवादादसदुत्तरेरपि पांशुभिरिवावकिरन्नेकान्तपराजयाद्वार सन्वेह इति धिया न दोषमावहतोति चेत्; न, अस्यायवादिकस्य जात्युत्तरप्रयोगस्य कथान्तरसमर्थनसामर्थ्यभावात् । वाद एव द्रव्यक्षेत्रकालभावानुसारेण यद्यसदुत्तरं कथंचन प्रयुक्तजीत किमेतावला कथान्तरं प्रसन्नयेत् ? । तस्माज्जल्पवितण्डानिराकरणेन वाद एवैकः कथाप्रथां लभत इति स्थितम् ॥३०॥

७२—वादश्च जयपराजयावसानो भवतीति जयपराजययोर्लक्षणमाह-

स्वपक्षस्य सिद्धिर्जयः ॥३१॥

७३—वादिनः प्रतिवादिनो वा या स्वपक्षस्य सिद्धिः सा जयः । सा च स्वपक्ष-साधनदोषपरिहारेण परपक्षसाधनदोषोद्भावनेन च भवति । स्वपक्षे साधनमनुवन्नपि प्रतिवादी वादिसाधनस्य विरुद्धतामुद्भावयन् वादिनं जयति, विरुद्धतोद्भावनेनैव स्वपक्षे

‘साधारण जन गतानुभविति होते हैं—भेदभाव से चलते हैं । वे ऐसे लोगों के बहुकाव में आकर कुमार्य पर न चले जाएं, इस हेतु से दयालु मुनि-अक्षगाद त्रैष्य-ने छल आदि का उपदेश दिया है ।’

समाधान—ऐसा न कहो । असत् उत्तरों से परपक्ष का निराकरण करना उचित नहीं है । महात्मा पुरुष अन्याय के द्वारा विजय, यश या धन प्राप्त करने की इच्छा नहीं करते ।

शंका—कहीं प्रतिवादी प्रबल दिक्षाई दे और उसके विजयी होने से धर्म के ध्वंस की संभावना हो या प्रतिभा मारी जाय और इस कारण सम्यक् उत्तर नहीं सूझ रहा हो तो धूल विलेने के समान असत् उत्तरों का ही प्रयोग करना ठीक है । एकान्त पराजय से तो जय-पराजय संबंधी सन्वेह रह जाना ही अच्छा है । इस हृषिकोण से छल आदि के प्रयोग में कोई दोष नहीं है । समाधान—नहीं । ऐसा जातिप्रयोग अपवादरूप है—कोई सामान्य विधान नहीं । अतएव इसके आधार पर एक पृथक् प्रकार की कथा का समर्थन नहीं किया जा सकता । द्रव्य, अत्र, काल और भाव के अनुसार कदाचित् वाद में ही असत् उत्तर का प्रयोग कर दिया जाय तो क्या इसने मात्र से ही वह कथा अलग प्रकार की हो जाएगी ? अतएव जल्प और वितण्डा को छोड़ कर एक महत्र वाद ही कथा कहलाने के योग्य है । यह सिद्धान्त प्रमाणित हुआ ॥३१॥

७२—जय और पराजय होने पर वाद का अन्त हो जाता है, अतएव जय और पराजय का संक्षण कहते हैं—सूचार्थ—अपने पक्ष की सिद्धि हो जाना जय है ॥३१॥

७३—वादी अथवा प्रतिवादी का अपना जो पक्ष है, उसको सिद्धि हो जाना ही उसकी जय है । स्वपक्ष की सिद्धि तब होती है जब अपने पक्ष के साधन में प्रतिवादीहारा उद्भावित दोषों का परिहार कर दिया जाय और विरोधी पक्ष के साधन में दोष का उद्भावन किया जाय । हीं, प्रतिवादी यदि वादी के साधन में विरुद्धता दोष का उद्भावन करे तो वह अपने पक्ष की सिद्धि में साधन का प्रयोग किये दिना भी वादी पर विजय प्राप्त कर लेता है । परपक्ष में विद-

साधनस्योक्तत्वात् । यदाह—“विशुद्धं हेतुभूद्वाच्य वादिनं जयतीतरः” इति ॥३१॥

असिद्धिः पराजयः ॥३२॥

७४—वादिनः प्रतिवादिनो वा या स्वपक्षस्य ‘असिद्धिः’ सा ‘पराजयः’ । सा च साधनाभासाभिधानात्, सम्यक्साधनेऽपि वा परोक्तदूषणानुद्घरणाद्वयति ॥३२॥

७५—ननु यद्यसिद्धिः पराजयः, स तर्हि कीहशो निग्रहः ?, निग्रहान्ता हि कथा अवतीत्याह—

स निग्रहो वादिप्रतिवादिनोः ॥३३॥

७६—‘स’ पराजय एव ‘वादिप्रतिवादिनोः’ ‘निग्रहः’ न वधबन्धादिः । अथवा स एव स्वपक्षासिद्धिरूपः पराजयो निग्रहहेतुत्वाभ्निग्रहो नान्यो यथाहः परे—‘विप्रति—पत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्’ (न्यायसू० १. २. १९) इति ॥३३॥

७७—तत्राह—

न विप्रतिपत्यप्रतिपत्तिमात्रम् ॥३४॥

७८—विपरीता कुत्सिता विगर्हणीया प्रतिपत्तिः ‘विप्रतिपत्तिः’—साधनाभासे साधनबुद्धिर्दूषणाभासे च दूषणबुद्धिः । अप्रतिपत्तिस्त्वारम्भविष्येनारम्भः । स च उता का उद्भावन करना ही एक प्रकार से स्वपक्ष में साधन का प्रयोग करना है । कहा जी है—‘विशुद्धं हेतु का उद्भावन करके प्रतिवादी वादी को जीत लेता है’ आदि ॥३१॥

सूत्रार्थ—स्वपक्ष की सिद्धि न होना ही पराजय है ॥३२॥

७४—वादी यह प्रतिवादी के अपने पक्ष की जो असिद्धि है, वही पराजय है । वह असिद्धि या पराजय साधन के बदले साधनाभास का प्रयोग करने से अथवा समीचीन साधन का प्रयोग करने पर भी परोक्त दूषण का निवारण न करने से होती है ॥३२॥

७५—शंका—यदि असिद्धि ही पराजय है तो निग्रह कैसा होता है ? बाद निग्रहान्त जाता है अर्थात् वादी या प्रतिवादी जब निग्रहस्थान को प्राप्त होता है तभी वाद की समाप्ति हो जाती है । इस शंका का समाधान करने के लिए कहा गया है—

सूत्रार्थ—पराजय ही वादी और प्रतिवादी का निग्रह है ॥३३॥

७६—वादी अथवा प्रतिवादी का पराजय होना ही निग्रह है, बध या बन्धन नहीं । अथवा अपने अपक्ष की सिद्धि न होने लए पराजय ही निग्रह का कारण होने से निग्रह कहलाता है । इससे निग्रह कोई निग्रह नहीं है, जैसा कि दूसरे (नेयादिक) कहते हैं—‘विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति निग्रहस्थान हैं ॥३३॥

७७—इस विषय में कहा गया है—सूत्रार्थ—विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति मात्र निग्रहस्थान नहीं हैं ॥३४॥

७८—विपरीत—कुत्सित या विगर्हणीय प्रतिपत्ति को अर्थात् उलटी समझ को विप्रतिपत्ति कहते हैं । साधनाभास को साधन समझ बैठना और दूषणाभास को स्वच्छ वास्तविक दूषण समझ लेना विप्रतिपत्ति है । जो करना चाहिए उसे न करना अर्थात् विरोधी पक्ष के साधन को दूषित करना

साधने दूषणे दूषणे चोद्वरणे तयोरकरणम् 'अप्रतिष्ठितः' । हिंदा हि बादी पराजीयते-
यथाकर्तव्यमेप्रतिष्ठमानो विपरीतं वा प्रतिष्ठमान इति । विप्रतिष्ठपत्यप्रतिष्ठती एव
'विप्रतिष्ठपत्यप्रतिष्ठमात्रम्' 'न' पराजयहेतुः किन्तु स्वपक्षस्यासिद्धिरेवेति । विप्रति-
पत्यप्रतिष्ठयोश्च निप्रहृस्यानत्वनिरासात् तद्देवानामपि निप्रहृस्थानत्वं निरस्तम् ।

७९-ते च द्वाविशतिर्भवन्ति । तथाथा—१ प्रतिज्ञाहानिः, २ प्रतिज्ञान्तरम्, ३
प्रतिज्ञाविरोधः, ४ प्रतिज्ञासंन्यासः, ५ हेत्वन्तरम्, ६ अर्थन्तरम्, ७ निरर्थकम्, ८
अविज्ञातार्थम्, ९ अपार्थकम्, १० अप्राप्तकालम्, ११ न्यूनम्, १२ अधिकम्, १३
पुनरुक्तम्, १४ अननुभाषणम्, १५ अज्ञानम्, १६ अप्रतिभा, १७ विक्षेपः, १८ मता-
नुज्ञा, १९ पर्यनुयोज्योपेक्षणम्, २० निरनुयोज्यानुयोगः, २१ अपसिद्धान्तः, २२ हेत्वा-
भासाइचेति । अत्राननुभाषणमज्ञातमप्रतिभा विक्षेपः पर्यनुयोज्योपेक्षणमित्यप्रतिष्ठि-
प्रकाराः । शेषा विप्रतिष्ठभेदाः ।

८०-तत्र प्रतिज्ञाहानेलक्षणम्—"प्रतिष्ठान्तधर्मनुज्ञा स्वप्त्वान्ते प्रतिज्ञाहानिः" (न्यूनम् २, २) इति सूत्रम् । अस्य भास्यकरीयं ध्यस्यानम्—"साध्यधर्मप्रत्यनीकेन
धर्मोप प्रत्यबहिथतः प्रतिष्ठान्तधर्मं स्वप्त्वान्तेऽनुज्ञानन् प्रतिज्ञां जहातीति प्रतिज्ञा-
हानिः । यथाअनित्यः शब्दः ऐन्द्रियकर्त्त्वाद् घटवदित्युक्ते परः प्रत्यबहिथते—सामान्य-
करणा और दिये हुए दोष का उद्धार न करना अप्रतिष्ठित है । बादी का पराजय दो प्रकार से
होता है—अपने कर्तव्य को पूरा न करने से अथवा विपरीत रूप से पूरा करने से यह विप्रतिष्ठि
और अप्रतिष्ठि भाव पराजय का कारण नहीं है किन्तु अपने पक्ष की असिद्धि हो पराजय है ।
यहाँ विप्रतिष्ठि और अप्रतिष्ठि की निप्रहृस्थानता का निषेध करने से यह भी सिद्ध हो जाता
है कि इनके भेद भी निप्रहृस्थान नहीं हैं ।

७९-विप्रतिष्ठि और अप्रतिष्ठि के भेदरूप निप्रहृस्थान बाईस हैं । यथा—(१) प्रतिज्ञा-
हानि (२) प्रतिज्ञान्तर (३) प्रतिज्ञाविरोध (४) प्रतिज्ञासंन्यास (५) हेत्वन्तर (६) अर्थन्तर
(७) निरर्थक (८) अविज्ञातार्थ (९) अपार्थक (१०) अप्राप्तकाल (११) न्यून (१२) अधिक
(१३) पुनरुक्त (१४) अननुभाषण (१५) अज्ञान (१६) अप्रतिभा (१७) विक्षेप (१८) मता-
नुज्ञा (१९) पर्यनुयोज्योपेक्षण (२०) निरनुयोज्यानुयोग (२१) अपसिद्धान्त (२२) हेत्वाभासः ।

इन बाईस में से अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप और पर्यनुयोज्योपेक्षण अप्रसिद्धान्त
के भेद हैं ।

८०-प्रतिज्ञाहानिः—"प्रतिष्ठान्तधर्मनुज्ञा स्वप्त्वान्ते प्रतिज्ञाहानिः" अथात् प्रतिष्ठान्त के
धर्म को अपने हृष्टान्त में स्वीकार कर लेना प्रतिज्ञाहानि निप्रहृस्थान है । इस निप्रहृस्थान की
थार्या न्यायसूत्र के भाष्यकार ने इस प्रकार की है—जब प्रतिज्ञादो साध्यधर्म के विरोधी किसी
धर्म से बादी के (हेतु का निराकरण) करे तब बादी विरोधी हृष्टान्त के धर्म को अपने हृष्टान्त
में स्वीकार कर ले तो वह अपनी प्रतिज्ञा का परित्याग करता है, इस कारण प्रतिज्ञाहानि होती
है । यथा—बादी ने प्रयोग किया—शब्द अनित्य है, क्योंकि वह इन्द्रिय का विषय है, जो इन्द्रिय

मन्दिर्यकं नित्यं हृष्टं कस्मान् तथा शब्दोऽपीत्येवं स्वप्रयुक्तहेतोराभासतोमवस्थान्विकथाबसानमकृत्वा प्रतिज्ञात्यागं करोति-यद्यन्दिर्यकं सामान्यं नित्यम्, कामं घटोऽपि नित्योऽस्त्वति । स खल्वर्यं साधनं इयं दृष्टान्तस्य नित्यत्थं इसज्ञम् निगमनान्तर्भवं पक्षं जहाति । पक्षं च परित्यजन् प्रतिज्ञा जहातीत्युच्यते प्रतिज्ञाश्रयत्वात् पक्षस्येति” (थायधा० ५, २, ३) । तदेतदसङ्गतमेव, साक्षाद् हृष्टान्तहानिरूपत्वात् तस्याः तत्रैव धर्मपरित्यागात् । परम्परया तु हेतूप्रभायनिगमनानामयि त्यागः, हृष्टान्तासाधुत्वे तेषां मप्यसाधुत्वात् । लथां च प्रतिज्ञाहानिरेवेत्यसङ्गतमेव । वात्तिककारस्तु व्याचष्टे-“हृष्ट-इचासावस्ते स्थितत्वादन्तर्भवेति हृष्टान्तः पक्षः । स्वहृष्टान्तः स्वपक्षः । प्रतिहृष्टान्तः प्रतिपक्षः । प्रतिपक्षस्य धर्मं स्वपक्षोऽप्यनुज्ञत्वम् प्रतिज्ञा जहाति--यदि सामान्यमन्दिर्यकम् नित्यं शब्दोऽप्येव्यस्त्वति” (थायधा० ५, २, २) । तदेतदपि व्याख्यानमसङ्गतम्-इत्थमेव प्रतिज्ञाहानिरेवत्वारयितुमशान्तत्वात् । न खलु प्रतिपक्षस्य धर्मं स्वपक्षोऽप्यनुज्ञानत एव प्रतिज्ञात्यागो येनाध्येकं एव प्रकारः प्रतिज्ञाहानौ स्थात्, अधिकेपादिभिरु-

का विषय होता है वह अनिरुप होता है जैसे घट । वादी के इस प्रकार कहने पर प्रतिवादी वृषभ देता है—‘सामान्य इन्द्रिय का विषय होता हुआ भी जैसे नित्य है, उसी प्रकार शब्द भी नित्य क्षणों नहीं हो सकता ?’ इस प्रकार वादी घर वादी अपने पर प्रयुक्त हेतु की आभासता (अनेकान्तिकता) को लाभ लेता है, किंतु भी कथा का अन्त म करके अपनी प्रतिज्ञा का त्याग करता हुआ कहता है—‘यदि सामान्य इन्द्रिय का विषय होते हुए भी नित्य है तो भले घट भी नित्य हो । इस प्रकार वादी अपने पक्षसंबोधक हृष्टान्तमें (घट में) नित्यता का प्रसंग देता हुआ अपने निगमनमन्यन्त पक्ष का ही परित्याग करता है (शब्द की अनित्यतालूप पक्ष को त्याग देता है) और पक्ष का परित्याग करता हुआ प्रतिज्ञा को ही त्याग देता है, वयोंकि पक्ष का आधार प्रतिज्ञा है) सपक्षभूल घट की नित्यता की मर्यादी प्रतिज्ञा करता है । यह प्रतिज्ञाहानि नियहृष्टानि है । नेयायिकों का यह कथन असरेत है । उपर्युक्त प्रतिज्ञाहानि साक्षात् हृष्टान्तहानि रूप हैं वयोंकि यहाँ हृष्टान्तमें ही धर्म का परित्याग किया गया है । ही, परमारां से हेतु, उपर्युक्त और निगमन का भी त्याग किया है, वयोंकि हृष्टान्त असमीकृत होने पर हेतु आदि भी असमीकृत हो जाते हैं । ऐसी लिखति में इन प्रतिज्ञा की ही हाति छहता असंशय है । न्यायवात्तिककार ने ‘प्रतिहृष्टान्तप्रमिल्लिङ्गा स्वहृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानि’ इस सुन में आए हुए हृष्टान्त शब्द का अर्थ पक्ष किया है । ‘स्वहृष्टान्त अर्थात् स्वपक्ष और प्रतिहृष्टान्त अर्थात् प्रतिपक्ष । आशय यह हृष्टा कि प्रतिपक्ष के धर्म को स्वपक्ष में स्वीकार करता हुआ वादी अपनी प्रतिज्ञा का त्याग करता है, यथा—‘यदि सामान्य इन्द्रिय का विषय होता हुआ भी नित्य है तो शब्द भी नित्य हो जाय । किन्तु वात्तिककार का यह अपेक्षान भी संगत नहीं है । प्रतिज्ञा की हाति इसी एक प्रकार से होती है, ऐसा अवधारण करना शब्द नहीं है । प्रतिपक्ष के धर्म को अपने पक्ष में स्वीकार करने वाला ही प्रतिज्ञा का त्याग करता है, ऐसी वास तो है नहीं, जिससे कि प्रतिज्ञाहानि का यही एक प्रकार

राकुलीभावात् प्रकृत्या सभाभीहृत्वादन्यमनस्कत्वादेवा निमित्ता(त) किञ्चित्
साधवत्वेन प्रतिज्ञाय तद्विपरीतं प्रतिज्ञानानश्याप्युपलम्भात् पुरुषभान्तेरनेककारणक-
त्वोपपत्तेरिति १ ।

८१-प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे परेण कृते तत्रैव धर्मिणि धर्मन्तरं साधनीयमभिद-
धतः प्रतिज्ञान्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति अनित्यः शब्दः ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते तथैव
सामान्येन व्यभिचारे नोदिते यदि ब्रूयात्—युक्तं सामान्यमन्द्रियकं नित्यं तद्वि सर्वग-
तमसर्वगतस्तु शब्द इति । सोऽयम् ‘अनित्यः शब्दः’ इति पूर्वप्रतिज्ञातः प्रतिज्ञान्तरम्
‘असर्वगतः शब्दः’ इति कुर्वन् प्रतिज्ञान्तरेण निगृहीतो भवति । एतदपि प्रतिज्ञाहानि-
वास्य युक्तम्, सस्याप्यनेकनिमित्तत्वोपपत्तेः । प्रतिज्ञाहानित्यचास्य कर्थं भेदः, पक्षत्या-
गस्योभयत्राविशेषात् ? । यथैव हि प्रतिष्ठान्तरधर्मस्य स्वहृष्टान्तेऽभ्यनुज्ञानात् पक्ष-
त्यागस्तथा प्रतिज्ञान्तरादपि । यथा च स्वपक्षसिद्धृत्यर्थं प्रतिज्ञान्तरं विधीयते तथा
शब्दानित्यलवसिद्धृत्यर्थं आन्तिवशात् लद्विष्टदोऽपि नित्योऽलद्विष्ट इत्यगुजारम्, यदा
चाभान्तरस्येदं चिरद्वयते तथा प्रतिज्ञान्तरमपि । निमित्तभेदात्त्वं तद्वेदे अनिष्टनिष्ट-
हस्थानान्तराणामप्यनुषङ्गः स्थात् । तेषां च तत्रान्तरभवि प्रतिज्ञान्तरस्यापि प्रतिज्ञाहा-
नावन्तरभविः स्यादिति २ ।

संभव हो । वादी यदि आक्षेप आदि किसी कारण से व्याकुल हो जाय, प्रकृति से ही सभाभीक्ष हो
या अन्यमनस्क हो, इत्यादि किसी भी निमित्त से किसी धर्म को साध्य बना कर फिर उससे
विपरीत प्रतिज्ञा का प्रयोग करने लग सकता है । पुरुषों की आवित्का एक ही कारण नहीं होता
— अनेक कारणों से भावन्त होती देखी जाती है ।

८२-प्रतिज्ञान्तर-प्रतिज्ञा अर्थ का प्रतिवादी हारा निषेध करने पर यदि वादो उसी पक्ष
में दूसरे धर्म को तिढु करने लमे तो प्रतिज्ञान्तर नामक निग्रहस्थान होता है । यथा—‘शब्द
अनित्य है, क्योंकि वह इन्द्रिय का विषय है’ ऐसा कहने पर प्रतिवादी ने पूर्ववत् सामान्य से व्य-
भिचार का प्रसंग दिया । तब वादी यदि ऐसा कहने लगे—‘ठीक है, सामान्य इन्द्रिय का विषय
होता हुआ भी नित्य है, किन्तु सामान्य सर्वगत (यापक) है और शब्द असर्वगत है । इसप्रकार
कहने वाला वादी शब्द अनित्य है, अपनी इस दूसरी प्रतिज्ञा को अंगीकार करता है । वह प्रति-
ज्ञान्तर नामक निग्रह से निगृहीत होता है । यह प्रतिज्ञानियहस्थान भी प्रतिज्ञाहानि के समान
उचित नहीं है । प्रतिज्ञान्तर भी अनेक निमित्तों से हो सकता है । इसके अतिरिक्त जब पक्ष
का स्वरूप दोनों में समान है तो प्रतिज्ञाहानि से इसमें विशेषता क्या रही है ? जिसे प्रतिष्ठान्तर
के धर्म को स्वहृष्टान्त में स्वीकार करने से पक्ष का स्वरूप हो जाता है, उसी प्रकार प्रतिज्ञान्तर
से भी पक्ष का स्वरूप हो जाता है । कवाचित् कहा जाय कि पक्षत्याग दोनों जगह समान होने
पर भी उसके निमित्त में भेद है, इस कारण निग्रहस्थानों में भी भेद माना गया है तो फिर
दूसरे ऐसे निग्रहस्थान भी मानने पड़ेगे जिन्हें आपने माना नहीं है । अगर उनका इन्हीं में अन्त-
भीव होना कहते हो तो प्रतिज्ञान्तर का भी प्रतिज्ञाहानि में ही अन्तभाव हो जाना चाहिए ।

८२—“प्रतिज्ञाहेत्वोविरोधः प्रतिज्ञाविरोधः” (न्यायशू० ५. २. ४) नाम नियहस्थानं भवति । यथा गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धेऽरिति । सोऽयं प्रतिज्ञाहेत्वोविरोधः—यदि गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं कथं रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः? अथ रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः कथं गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यमिति? तद्यन्तं प्रतिज्ञाविरुद्धाभिधानात् पराजीयते । तदेतदसङ्गतम् । यतो हेतुना प्रतिज्ञायाः प्रतिज्ञात्वे निरस्ते प्रकारान्तरस्तः प्रतिज्ञाहानिरेवेयमुक्ता स्यात्, हेतुदोषो वा विरुद्धतालक्षणः, न प्रतिज्ञादोष इति ३ ।

८३—पक्षसाधने परेण दूषिते तदुद्धरणाशक्त्या प्रतिज्ञामेव नियन्त्वानस्य प्रतिज्ञासंन्यासो नाम नियहस्थानं भवति । यथा अनित्यः शब्दः ऐन्द्रियकत्वावित्युक्ते तपैव सामान्येनानेकान्तिकतायामुद्धावितायां यदि भूयात्-क एवमाह—अनित्यः शब्द इति—स प्रतिज्ञासंन्यासात् पराजितो भवतीति । एतदपि प्रतिज्ञाहानितो न भिद्यते, हेतोरनेकान्तिकत्वोपलभेनात्रापि प्रतिज्ञायाः परित्यागाविशेषात् ४ ।

८४—अविशेषाभिहिते हेतु विरोधे तद्विशेषणमभिवधतो हेत्वन्तरं नाम नियहस्थानं भवति । तस्मिन्नेव ग्रयामे तथैव धारात्पर्य चित्तिवारेण दूषिते—‘जातिमस्ये

८५—प्रतिज्ञाविरोध—प्रतिज्ञा और हेतु में विरोध होता । जैसे द्रव्य गुणों से भिन्न है, क्योंकि रूप आदि से भिन्न उपलब्ध नहीं होता । यहाँ प्रतिज्ञा और हेतु में विरोध है—यदि द्रव्य गुणों से भिन्न है तो रूपादि से भिन्न उपलब्ध होना चाहिए । यदि भिन्न नहीं उपलब्ध होता तो उसे भिन्न करके मात्रा जा सकता है? इस प्रकार प्रतिज्ञा से विरुद्ध हेतु का प्रयोग करने से बाबी पराजित हो जाता है । किन्तु यह नियहस्थान भी असंगत है । यदि हेतु के द्वारा प्रतिज्ञा का प्रतिज्ञात्व निरस्त कर दिया गया तो प्रकारान्तर से पह ‘प्रतिज्ञाहानि’ ही हो गई; अबका यह हेतु में विरुद्धता दोष हुआ—प्रतिज्ञादोष नहीं ।

८६—प्रतिज्ञासंन्यास—प्रतिबादी के द्वारा साधन में दोष की उद्भावना करते पर बाबी जब उस दोष का निवारण करने में समर्थ न हो तब अपनी प्रतिज्ञा से ही मुक्त जाय तो प्रतिज्ञासंन्यास नामक नियहस्थान होता है । यथा—शब्द अनित्य है, क्योंकि इन्द्रिय का विषय है, इस प्रकार कहने पर प्रतिबादी सामान्य से धर्मभिन्नार दोष का उद्भावन करे । ऐसी स्थिति में बाबी यदि कहने लगे—‘कौन कहता है कि शब्द अनित्य है?’ इस प्रकार अपनी प्रतिज्ञा का ही अपलाप कर देना प्रतिज्ञासंन्यास कहलाता है । इससे बाबी का पराजय होता है । किन्तु यह भी प्रतिज्ञाहानि से पृथक् नहीं है । अपने हेतु को अनेकान्तिक पाकर कहे प्रतिज्ञा तथा (अपलाप कर के) स्थाग करता है ।

८७ हेत्वन्तर-बाबी ने विना विशेषण के हेतु का प्रयोग किया । प्रतिबादी ने उसका प्रतिवेद किया । तब बाबी यदि हेतु के साथ कोई विशेषण जोड़ दे तो हेत्वन्तर नामक नियहस्थान होता है, यथा—शब्द अनित्य है, इत्यादि प्रयोग में पूर्ववत् सामान्य से अनेकान्तिकता दोष की उद्भावना

सति इत्यादिविशेषणमुपाददानो हेत्वन्तरेण निगृहीतो भवति । इदमप्यतिप्रसूतम्, यतोऽविशेषोबले हृष्टान्ते उपमये निगमने वा प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हृष्टान्तादान्त-रमणि निग्रहस्थानान्तरमनुषज्ज्येत्, तत्राप्याक्षेपसमाधानानां समानत्वादिति ५ ।

८५—प्रकृतादथन्तरं तदनौपगिकमभिदृश्यते अथन्तरं नाम निग्रहस्थानं भवति । पथा अनित्यः शब्दः, कृतकत्वादिति हेतुः । हेतुरिति हिनोत्तेधतिस्तुप्रत्यये कृदन्ते पदम् । परं च नामास्थाननियातोपसर्गः इति प्रस्तुत्य नामादीनि व्याचकाणोऽथन्तरेण निगृह्यते । एतदप्यथन्तरं निग्रहस्थानं समर्थं साधने दूषणे वा प्रोक्ते निग्रहाय कल्पेत्, असमर्थं वा? । न तावत्समर्थं; स्वसाध्यं प्रसाध्यं नृत्यतोऽपि दोषात्राकालोक्यत् । असमर्थोऽपि प्रतिबादिनः पक्षसिद्धौ तत् निग्रहाय स्यादसिद्धौ वा? । प्रथमपक्षे तत्प्रकारसिद्धेरेवास्य निग्रहो न त्वतो निग्रहस्थानात् । द्वितीयपक्षेऽप्यतो न निग्रहः, पक्षसिद्धेरभ्योरप्यभावादिति ६ ।

करने पर जातिमत्त्वे १८५ एसा विशेषण लगाने वाला वादो हेत्वन्तर निग्रहस्थान से पराजित होता है । किन्तु यह भी ठीक नहीं है । जिसे निविशेषण हेतु का प्रयोग करने पर वाद में विशेषण लगाना हेत्वन्तर है, उसीप्रकार निविशेषण हृष्टान्त, उपमय या निगमन का प्रयोग किया जाय और प्रतिबादी उसमें दोष प्रदर्शित करे तो हृष्टान्त आदि में विशेषण लगाना भी हृष्टान्तर, उपमयान्तर और निगमनान्तर नामक निग्रहस्थान सामना चाहिए । क्योंकि जो युक्ति हेत्वन्तर के लिए है वही हृष्टान्तर आदि के लिए भी होगी ।

८५—अथन्तर—शकृत अर्थ से अथन्तर का कथन करना जिसका ६५ प्रकृत अर्थ की सिद्धि से कोई सम्बन्ध न हो अथन्तर निग्रहस्थान कहलाता है । यथा—शब्द अनित्य है, क्योंकि वह कृतक है । यहाँ कृतकत्व हेतु है । ‘हिनोत्ति, धातु से तु, प्रत्यय लगाने पर हेतु’ ऐसा कृदन्त-पद निष्पत्त होता है । एव कई प्रकार के होते हैं—नामपद, आल्यात्पद, निपात्पद और उपसर्गपद इस प्रकार कह रख दिया जाए तो व्याल्या करने वाला अथन्तर निग्रहस्थान से निगृहीत होता है । किन्तु यह अथन्तरनामक निग्रहस्थान साध्य को सिद्ध करने में समर्थ साधन या समर्थ दूषण का प्रयोग करने पर निग्रह का चारण होता है या असमर्थ साधन या दूषण का प्रयोग करने पर? यदि समर्थ साधन या दूषण के पश्चात् वादो अथन्तर—कथन करता है तो वह निग्रह का कारण नहीं होना चाहिए, क्योंकि अपने साध्य को सिद्ध कर चुकने के पश्चात् अगर वह नाचने भी लगे तो भी कोई दोष की आत नहीं है । लोक में भी ऐसा देखा जाता है । अगर वादी ने असमर्थ साधन अथवा दूषण का प्रयोग किया है तो प्रतिब दी के वक्ष की सिद्धि होने पर वादी निगृहीत होगा अथवा सिद्धि न होने पर भी निगृहीत हो जाएगा? अगर प्रतिबादी के पक्ष की सिद्धि होने

१—इन्द्रिय का विषय होने से, इतना मात्र हेतु सामान्य में गता जाता है अतः अविचारी है किन्तु जातिमत्त्वे सति विशेषण लगाने से व्यभिचार नहीं होता, क्योंकि सामान्य जातिभान् नहीं अथवा सामान्य में सामान्य नहीं पाया जाता ।

८६—अभिधेयरहितवर्णनुपूर्वोप्रथोममात्रं निरर्थकं नाम निग्रहस्थानं भवति । यथा अनित्यः शब्दः कच्छटतपानां गजडदद्वत्वाद् घञ्डधभवदिति । एतदपि सर्वं वार्त्य-
शूल्यत्वान्निग्रहाय कल्पेत, साध्यानुपयोगाद्वा ? । तत्राद्यविकल्पोऽप्युक्तः, सर्वं वार्त्यशूल्य-
शब्दस्यैवासम्भवात्, वर्णक्रमनिर्वेशस्याप्यनुकार्येणार्थवत्वोपपत्तेः । द्वितीयविकल्पे
तु सर्वमेव निग्रहस्थानं निरर्थकं स्यात् साध्यसिद्धावनुपयोगित्वाविशेषात् । किञ्चित्त-
द्विशेषमात्रेण भवेद वा खाटकृत-हस्तास्फालन-कक्षापिद्वितादेवपि साध्यानुपयोगिनो
निग्रहस्थानान्तरत्वानुषङ्ग इति

८७—यत् साधनवाक्यं दूषणवाक्यं वा त्रिरभिहितमपि परिषत्प्रतिवादिभ्यां
बोद्धुं न शक्यते तत् अविज्ञातार्थं नाम निग्रहस्थानं भवति । अत्रेदमुच्यते—वादिता
त्रिरभिहितमपि वाक्यं परिषत्प्रतिवादिभ्यां मन्दमतित्वादविज्ञातम्, गूढाभिधानतो वा
इतोच्चाराद्वा ? । प्रथमपक्षे सत्साधनवादिनोऽप्येतन्निग्रहस्थानं स्यात्, तत्राप्यनयोर्म-
न्दमतित्वेनाविज्ञातत्वसम्भवात् । द्वितीयपक्षे तु पत्रवाक्यप्रयोगेऽपि तत्प्रसङ्गः, गूढा-
पर वादी निष्पृहीत होता है तो प्रतिवादी के पक्ष को सिद्धि होने से ही उसका निष्प्रह हो जाएगा इ-
ति ग्रन्थान्तराभिरुप्यन रो नहीं । दूसरे तरफ प्रयोगिकार किया जाय तो भी इस अर्थान्तर
निग्रहस्थान से ही उसका निष्प्रह नहीं हो सकता क्योंकि दोनों के ही पक्ष की सिद्धि नहीं हुई है ।

८६—अभिधेयरहित वर्णनुपूर्वो मात्र को निरर्थक निग्रहस्थान कहते हैं, अर्थात् अनुक्रम से
ऐसे वर्णों का उच्चारण करना कि जिनका कुछ भी अर्थ न हो, वह निरर्थक निग्रहस्थान है ।
यथा—शब्द अनित्य है, कच्छटतप का गजडदव द्वारा होने से, जैसे घञ्डधभ । इस निग्रहस्थान को सर्वं वार्त्य-
शूल्यशूल्य होने से निष्प्रह का कारण भानते हो अथवा साध्य में उपयोगी न होने से ? वहला यह
युक्त नहीं है, क्योंकि सर्वं वार्त्यशूल्य शब्द का होना ही असंभव है । वर्णक्रम का निर्वेश भी
अस्ति अनुक्रम से अर्थवान् होता ही है । अर्थात् उससे भी किसी न किसी का अनुक्रम
द्विनित होता है । दूसरा पक्ष अंगीकार करो तो सभी निग्रहस्थान निरर्थक कहलाएँगे, क्योंकि
साध्यसिद्धि में अनुपयोगी हैं । और से अन्तर के कारण यदि पृथक् निग्रहस्थान भानते हो तो
खटखट करना, हाथ फटकारना और कांस पीटना आदि भी जो साध्य में अनुपयोगी हैं, अलग
निग्रहस्थान मरने पड़ेंगे ।

* * * ८७—अविज्ञातार्थ— जो साधन वाक्य या दूषणवाक्य तीनवार बोलने पर परिषद् और
प्रतिवादी की समझ में न आये वह अविज्ञातार्थ नामक निग्रहस्थान कहलाता है । इसके विषय में
प्रश्नतथ्य यह है कि वादी के तीन बार बोलने पर भी परिषद् और प्रतिवादी मन्दसुंदित होने के
कारण न समझ पावें, गूढ़ शब्दों के प्रयोग के कारण न समझ सकें ? अथवा अल्वी-अल्वी उच्चार-
एण करने से न समझ सकें ? प्रथम पक्ष में सभीचौन साधन बोलने वाला भी निष्पृहीत हो
जाएगा, क्योंकि मन्द होने के कारण परिषद् और प्रतिवादी सत्साधन को न समझ सकें, यह
संभव है । दूसरा पक्ष स्वीकार करो तो “पञ्चवाक्य में भी अविज्ञातार्थ बोध सामना पड़ेगा” ।

भिधानतया परिषत्प्रतिवादिनोर्महाप्राक्षयोरप्यविज्ञातत्वोपलभात् । अथाभ्यामवि-
ज्ञातमप्येतत् वादी व्याचष्टे ; गृहोपन्थासमप्यात्मनः स एव व्याचष्टाभ्, अव्याख्याने सु-
जयाभाव एवास्य, न पुलनिग्रहः, परस्य पक्षसिद्धेरभावात् । द्वितोच्चारेप्यनयोः कथ-
-डिच्चत् ज्ञानं सम्भवत्येव, सिद्धान्तद्वयवेदित्वात् । साध्यानुपयोगिनि तु वादिनः प्रला-
-पमात्रे तयोरविज्ञानं नाविज्ञातार्थं वर्णकमनिवेशवत् । ततो नेदमविज्ञातार्थं निरर्थक-
-द्विद्यत इति ॥

८८-पूर्वाधिकारासङ्गतपदसमूहप्रयोगादप्रतिष्ठितवाक्यार्थमपार्थकं नाम नियमहस्थानं
भवति । यथा दश दाढिमानि षडपूषा इत्यादि । एतदपि निरर्थकान्न भिन्नते । यथैव
हि गजडदबादी वर्णानां नैरर्थकयं तथात्र पदानामिति । यदि पुनः पदनैरर्थकयं वर्ण-
-नैरर्थकयादन्यत्वान्विग्रहस्थानान्तरं तहि वाक्यनैरर्थकप्रस्थाप्याभ्यामन्यत्वान्विग्रहस्थाना-
-न्तरत्वं स्थात् पदवत्पौर्वापयेणाऽप्रयुक्त्यमानानां वाक्यानामप्यनेकधोपलभ्यात्-

“शङ्खः कदल्यो कदली च भेद्या तस्या च भेद्या सुमहद्विमानम् ।

तच्छङ्खः भेरीकदलीविमानमुन्मत्तगङ्गप्रतिमं बभूद ॥”

इत्यादिवत् ।

व्योक्ति पत्रवाक्य में गूढ़ शब्दों का प्रयोग होने से महाप्राज्ञ परिषद् और प्रतिवादी भी उसे
समझ नहीं पाते । कदाचित् कहा जाय कि परिषद् और प्रतिवादी वत्रवाक्य के जिस पद को नहीं
समझ पाते उसकी व्याख्या स्वयं वादी कर देता है तो गूढ़ साध्य साधन वाक्य की व्याख्या भी वादी
स्वयं कर देगा । अगर वह व्याख्या नहीं तो करेगा उसको विजय प्राप्त नहीं होगी, किन्तु वह निय-
-हीत नहीं होगा क्योंकि प्रतिवादी के पक्ष की सिद्धि नहीं हुई है । अल्लो अल्लो उच्चारण करने के
कारण अविज्ञातार्थ कहो सो ठीक नहीं क्योंकि जहाँ उच्चारण करने पर भी परिषद् और प्रतिवादी
को कथंचित् ज्ञान हो ही जाएगा । आखिर ऐ वादी और प्रतिवादी-दोनों के मिहान्त के जामकार
होते हैं । वादी यदि साध्य के लिए अनुपयोगी प्रलापमात्र करे और उसका परिषद् तथा प्रति-
-वादी को जान न हो तो वह वर्णनुपूर्वी के उच्चारण के समान अविज्ञातार्थक नहीं कहा जा
सकता । इस प्रकार यह अविज्ञातार्थ नियमहस्थान निरर्थक से भिन्न नहीं है ।

८९-अपार्थक-पूर्वाधिक-असंगत पदों के समूह का प्रयोग करने से वाक्य का अर्थ ही सिद्ध
न होना अपार्थक नियमहस्थान है । जैसे दस दाढिम, छह पूआ इत्यादि । यह नियमहस्थान भी
निरर्थक नियमहस्थान से भिन्न नहीं है । जैसे निरर्थक नियमहस्थान में गजडदब आदि में वर्ण निरर्थक
हैं उसी प्रकार यहाँ पद निरर्थक हैं । अगर कहा जाय कि वर्णों की निरर्थकता से पदों की निर-
र्थकता भिन्न है, अलएव यह नियमहस्थान पृथक् है तब तो वाक्यों की निरर्थकता वर्णों और पदों
की निरर्थकता से भिन्न होने के कारण एक अलग नियमहस्थान मानना चाहेगा । क्योंकि एक दूसरे के
आगे पीछे प्रथमत होने वाले निरर्थक वाक्य भी अनेक प्रकार के देखे जाते हैं । जैसे—‘कदली’ में
शांख है, भेरी में कदली है, उस भेरी में बहुत बड़ा विमान है, वहु शांख भेरी कदली और विमान
खन्मल गंगा के समान हो गए । इत्यादि

८९-यदि पुनः पदनैरर्थक्यमेव वाक्यनैरर्थक्यं पदसमुदायात्मकत्वात् तस्य; तर्हि वर्णनैरर्थक्यमेव पदनैरर्थक्यं स्यात् वर्णसमुदायात्मकत्वात् तस्य। वर्णना सर्वत्र निरर्थकत्वात् पदस्यापि तत्प्रसङ्गश्चेत्; तर्हि पदस्यापि निरर्थकत्वात् तत्समुदायात् तमनो वाक्यस्यापि नैरर्थक्यानुषङ्गः। पदस्यार्थवल्खेन (वर्त्ते च) पदार्थप्रेक्षया; (वर्णार्थप्रेक्षया) वर्णस्यापि तदस्तु प्रकृतिप्रत्ययादिवत्; न खलु प्रकृतिः केवला पदं प्रत्ययो वा। नाप्यनयोरनर्थकत्वम्। अभिव्यक्तार्थाभावादनर्थकत्वे; पदस्यापि तत् स्यात्। यथेव हि प्रकृत्यर्थः प्रत्ययेनाभिव्यज्यते प्रत्ययार्थइच्च प्रकृत्या तयोः केवलयोरप्रयोगात् तस्य देवदत्तस्तिष्ठतीत्यादिप्रयोगेस्याद्यन्तपदार्थस्य त्याद्यन्तपदार्थस्य च स्याद्यन्तपदेनाभिव्यक्तेः केवलस्याप्रयोगः। पदान्तराप्रेक्षस्य पदस्य सार्थकत्वं प्रकृत्यप्रेक्षस्य प्रत्ययस्य तदपेक्षस्य च प्रकृत्यादिवर्णस्य समानमिति ९।

९०-प्रतिज्ञाहेत्याहरणोपन्यनिगमनवचलकममुल्लहृदयावदविपर्यासेन प्रयुज्यमानम-

८९-यदि कहा जाय कि वाक्यों की निरर्थकता पदों को ही निरर्थकता है, वर्णोंकि पदों का समूह ही वाक्य कहलाता है तो वर्णों की निरर्थकता ही पदों की निरर्थकता होनी जाहिए वर्णोंकि वर्णों का समूह ही पद कहलाता है।

शका—वर्ण सर्वत्र निरर्थक होते हैं, अतएव वर्णों की निरर्थकता को ही पद की निरर्थकता मानने से पद भी सर्वत्र निरर्थक हो जाएंगे। समाधान—पद भी निरर्थक होते हैं अतएव पदों का समूह वाक्य भी निरर्थक हो जाएगा। शंका—वाक्यार्थ की अपेक्षा पद अले निरर्थक माना जाए किन्तु पदार्थ की अपेक्षा तो वह सार्थक ही होता है, अर्थात् वाक्य से प्रकट होने वाला अर्थ पद से नहीं प्रगट होता तथापि पद अपना अर्थ तो प्रगट करता ही है। अतः पद को विरर्थक नहीं कहा जा सकता। समाधान—तो यही बहुत वर्ण के विवर में भी मानना जाहिए। अर्थात् पद से व्यक्त होने वाला अर्थ वर्ण से व्यक्त न होने पर भी वर्ण अपना अर्थ तो प्रगट करता ही है, और प्रकृति (मूल शब्द) और प्रत्यय। न केवल प्रकृति को पद कह सकते हैं, न केवल प्रत्यय को। यह दोनों (पृथक्—पृथक् भी) निरर्थक नहीं हैं। यदि व्यक्त अर्थ को प्रकट न करने से इन्हें निरर्थक कहा जाय तो पद भी वाक्य के समान व्यक्त अर्थ को प्रकट नहीं करता है, अतः वह भी निरर्थक हो जाएगा। जैसे प्रकृति का अर्थ प्रत्यय के द्वारा व्यक्त होता है और प्रत्यय का अर्थ प्रकृति के द्वारा व्यक्त होता है, इस कारण उनका साथ-साथ प्रयोग होता है अकेली—प्रकृति या अकेले प्रत्यय का नहीं, उसी प्रकार 'देवदत्तः तिष्ठति, इत्यादि प्रयोगों में स्याद्यन्तपद' (देवदत्तः) का अर्थ त्याद्यन्तपद (तिष्ठति) अर्थ स्त्रयादि पद से प्रकट होता है, अतएव इनका अकेले का प्रयोग नहीं किया जाता। अगर कहो कि पदान्तरसापेक्ष पद सार्थक होता है तो प्रकृतिसापेक्ष प्रत्यय प्रत्ययसापेक्ष प्रकृति आदि वर्णों में भी यही बात है, अर्थात् परस्पर सापेक्ष वर्ण भी सार्थक होते हैं। (इस प्रकार अपार्थक नामक नियन्त्रक नियन्त्रक से पृथक् नहीं है।)

९०—अप्राप्तकाल—पहले प्रतिज्ञा, फिर हेतु, फिर उदाहरण, फिर उपनय और फिर निय-

नुभानवाक्यमप्राप्तकालं नाम निश्चहस्थानं भवति, स्वप्रतिपत्तिवत् परप्रतिपत्तेज्जनने परा-
भानुमाने क्रमस्थाप्य छूट्वात् । एतद्वयेशालम्, प्रेक्षावती प्रतिपरहस्थानव्यवधकक्रमनियमं क्रिताप्यर्थप्रतिपत्त्युपलम्भात् । ननु यथापशब्दात् श्रुताच्छब्दस्मरणं ततोऽर्थप्रत्यय इति शब्दादेवार्थप्रत्ययः परम्परया तथा प्रतिज्ञाद्यव्यवद्युत्क्रमात् तत्क्रमस्मरणं ततो वाक्यार्थ-
प्रत्ययो न पुनस्तद्वचुत्क्रमात्; इत्यप्यसारम्, एवंविधप्रतीत्यभावात् । यस्माद्विशब्दाद्वुच्चरितात् यत्रार्थं प्रतीतिः स एव तस्य वाक्यको नान्यः, अन्यथा शब्दात्तत्क्रमाच्चा-
पशब्दे तद्वयतिक्रमे च स्मरणं ततोऽर्थप्रतीतिरित्यपि वक्तुं शक्येत । एवं शब्दान्वय-
स्यानव्यव्यर्थमिति चेत्; नैवम्, वादिनोऽनिष्टमात्रापादनात् अपशब्देऽपि चान्वाल्या-
नस्योपलम्भात् । संस्कृताच्छब्दात्सत्यात् धर्मोऽन्यस्मादधर्मं इति नियमे चान्यधर्माधि-
भौपाद्यानुष्ठानव्यव्यर्थं धर्मधर्मयोद्याप्रतिनियमप्रसङ्गः, अधार्मिके च धार्मिके च तच्छु-
द्वोपलम्भात् । भवतु वा तत्क्रमादर्थप्रतीतिसत्याप्यर्थप्रत्ययः क्रमेण स्थितो येन वाक्येन
व्युत्क्रम्यते तद्विरर्थकं न तद्वप्राप्तकालमिति १० ।

मन का प्रयोग अनुमान में किया जाता है। इस क्रम का उल्लंघन करके अवयवों में उलटफेर करके यदि अनुमान का प्रयोग किया जाए तो अप्राप्तकाल निश्चहस्थान होता है। जैसे अपने को क्रम से प्रतिपत्ति होती है उसी प्रकार दूसरे को ज्ञान कराने—में परार्थानुमान में क्रम भी करण होता है। यह कहना भी सभीओन नहीं, क्योंकि जो प्रतिपत्ता बुद्धिशाली है वह अवयवों के क्रम के बिना भी अर्थ को समझलेता है। शंका-जैसे अशुद्ध शब्दको सुनने पर पहले शुद्ध शब्द का स्मरण होता है, तत्पश्चात् उससे अर्थका ज्ञानहोता है इस प्रकार शुद्ध से ही परम्परा से अर्थ का ज्ञान होता है, उसी प्रकार प्रतिज्ञा आदि अवयवों को व्युत्क्रम से सुनने पर पहले उनके क्रम का स्मरण होता है और फिर वाक्य के अर्थ का ज्ञान होता है—व्युत्क्रम से ज्ञान नहीं होता। समाधान—यह कहना निस्सार है, क्योंकि इस प्रकार का अनुभव नहीं होता है। जिस शब्द के उच्चारण से जिस पदार्थ की प्रतीति होती है वही शब्द उस पदार्थ का वाक्यक माना जाता है, अन्य नहीं। ऐसा न माना जाय तो इससे विपरीत कहा जा सकता है कि— शुद्ध शब्द को सुनने पर अशुद्ध शब्द का स्मरण होता है और अवयवों के अनुक्रम को सुनने पर उनके व्यतिक्रम का स्मरण होता है और तब अर्थ की प्रतीति होती है। शंका—यदि व्यतिक्रम से प्रयुक्त अवयवों से अर्थ की प्रतीति मान ली जाय तो उनका अनुक्रम से कहना बूथा हो जाएगा। समाधान—नहीं। यहाँ अनुक्रमवादी को अनिष्टापत्ति नाम का प्रसंग विखलाया है; अनुक्रम से अशुद्ध शब्दों में भी देखा जाता है। शंका—संस्कृत और सत्य शब्द का उच्चारण क्रीने से धर्म होता है और इससे विपरीत शब्द के उच्चारण से अधर्म होता है। समाधान—ऐसा नियम मान लिया जाय तो धर्म अधर्म के अन्य नियम व्यर्थ हो जाएगे। इसके अतिरिक्त धर्म और अधर्म वे कोई प्रतिनियतता नहीं रहेगी, क्योंकि धार्मिक और अधार्मिक दोनों प्रकार के पुरुषों में दोनों प्रकार के शब्दों का प्रयोग करता देखा जाता है। अथवा प्रतिज्ञा आदि अवयवों के क्रम के कारण ही अर्थ की प्रतीति होती है, ऐसा भी लिया जाय सो क्रम के कारण हीने वाला अर्थ का प्रत्यय जिस वाक्य से क्रमविहीन किया जाता है वह निरर्थक निश्चहस्थान हो जाएगा है, उसे अप्राप्तकाल नहीं कह सकते।

९१—पञ्चावयवे वावये प्रयोक्तव्ये तदन्यतमेनाप्यवयवेन हीनं न्यूनं नाम लिप्त-
हस्थानं भवति, साधनाभावे साध्यसिद्धेरभावात्, प्रतिज्ञादीना च पञ्चामामपि साध-
नत्वात्; इत्याप्यसमीचीनम्, पञ्चावयवप्रयोगमन्तरेणापि साध्यसिद्धेरभिधानात्, प्रति-
ज्ञाहेतुप्रयोगमन्तरेण त्रिसिद्धेरभावात्। अगाहत्तीत्तमेव चाहं निग्रहस्थानमिति १२।

९२—एकेनैव हेतुनोदाहरणेन वा प्रतिपादितेऽर्थे हेत्वन्तरमुदाहरणान्तरे वा
बदलोऽधिकं नाम निग्रहस्थानं भवति निग्रयोजनाभिधानात्। एतदप्ययुक्तम्, तथा-
भिधानाक्यात् पक्षसिद्धौ पराजयाप्योगात्। कथं चेवं प्रमाणसंप्लबोऽभ्युपगम्यते?।
अभ्युपगमे वाऽधिकनिग्रहाय जायते। प्रतिपत्तिदाढर्यसंवादसिद्धिप्रयोजनसद्भावान्न
निप्रहः; इत्यन्यत्रापि समानम्, हेतुनोदाहरणेन चै(वं)केन प्रसाधितेऽप्यर्थे हितीयस्य
हेतोदाहरणस्य वा नानर्थक्यम्, तत्प्रयोजनसद्भावात्। न चेवमनवस्था, कस्यवित्
क्षवचिन्निराकाङ्क्षतोपपत्तेः प्रमाणान्तरवत्। कथं चास्य कृतकत्वादौ स्वार्थिकप्रत्य-
यस्य बचनम्, यत्कृतकं तदनित्यमिति व्याप्तौ यत्तद्वचनम्, बृत्तिपदप्रयोगादेव चार्थ-

९३—न्यून—अनुमान में पाँच अवयवों का प्रयोग करना चाहिए। उनमें से किसी भी एक
अवयव का प्रयोग न करना न्यून नामक निग्रहस्थान है। साधन के अवाद में साध्य की सिद्धि नहीं
हो सकती और केवल हेतु ही नहीं वलकि प्रतिज्ञा आदि पाँचों अवयव साधन हैं, अतएव पाँचों का ही
प्रयोग होना चाहिए। यह कथन यी समीक्षा नहीं। पहले ही कहा जा चुका है कि पाँच अवयवों के
विना भी साध्य की सिद्धि होती है। केवल प्रतिज्ञा और हेतु का प्रयोग ही आवश्यक है, इनके
प्रयोग के विना साध्य मिछ नहीं होता। अतएव प्रतिज्ञा और हेतु में से किसी एक का प्रयोग न
करना ही न्यून निग्रहस्थान हो सकता है।

९४—अधिक—एक ही हेतु या एक ही उदाहरण के द्वारा अर्थ का प्रतिपादन हो जाने
पर भी दूसरे हेतु या उदाहरण का प्रयोग करना अधिक नामक निग्रहस्थान है, क्योंकि दूसरे का
कथननियम्योजन है, ऐसा कहना भी अयुक्त है। यदि वादी दूसरे हेतु अथवा उदाहरण का प्रयोग
करके भी अपने पक्ष को सिद्ध कर देता है तो वह पराजित नहीं कहला सकता। इसके अतिरिक्त
जब आप दूसरे हेतु के प्रयोग को नियह भानते हैं तो प्रमाणसंप्लब (२) के सान सकते हैं
प्रमाणसंप्लब मानने से अधिक नामक निग्रहस्थान हो जाएगा। शंका—प्रतिपत्ति की दृढता और
संवाद के लिए प्रमाणसंप्लब मानने में नियह नहीं होता। क्योंकि उससे विशेष प्रयोजन सिद्ध होता
है। समाधान—यह बात लो दूसरे हेतु और उदाहरण के प्रयोग के विषय में भी समान है एक
हेतु या उदाहरण के द्वारा किसी अर्थ को सिद्ध करने पर भी दूसरे हेतु या उदाहरण का प्रयोग
विवरणक नहीं है, क्योंकि उसका भी विशेष प्रयोजन होता है। शंका—यों मानने से लो अनवस्था—
वोष हो जाएगा—कहीं विश्वान्ति ही नहीं होगी। समाधान—कहीं न कहीं आकांक्षा की समाप्ति
हो ही जायगी जैसे प्रमाणान्तरोंकी प्रवृत्ति की समाप्ति हो जाती है। इसके अतिरिक्त ‘कृतकत्व,
आदि हेतुओं में स्वार्थ में लगाया हुआ ‘क, प्रत्यय, ‘जो कृतक होता है, सो अनित्य होता है, ऐसी
व्याप्ति में प्रयोग किया हुआ ‘जो’ और ‘सो’ एवं स्था समाप्ति एवं से ही अर्थ की सिद्धि

१—एक ही विषय में अनेक प्रमाणोंकी प्रवृत्ति होना प्रमाणसंप्लब कहलाता है।

प्रतिपत्ति वाक्यप्रयोगः अधिकात्वाभिप्रहस्थानं न स्थात् ? । तथा विधरुद्याप्यस्य प्रति-
पत्तिविशेषोपायत्वात्स्मेति चेत् ; कथमनेकस्य हेतोरुदाहरणस्य वा तदुपाधभूतस्य
वचनं निप्रहादिकरणम् ? । निरर्थकस्य तु वचनं निरर्थकत्वादेव निप्रहस्थानं नाधि-
कत्वादिति १२ ।

१३—शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुचतं नाम निप्रहस्थानं अवस्थन्यञ्चानुवादात् ।
शब्दपुनरुचतं नाम यत्र स एव शब्दः पुनरुचतार्थते । यथा अनित्यः शब्दः अनित्यः
शब्द इति । अर्थपुनरुचतं तु यत्र सोऽर्थः प्रथममन्येन शब्देनोचतः पुनः पर्यायान्तरेणो-
च्यते । यथा अनित्यः शब्दोऽविनाशी चनिरिति । अनुवादे तु पौनरुचत्यमदोषो यथा-
“हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्” (स्यायसू० १. १. ३९) इति । अवार्थपुन-
रुचतमेवानुपपन्नं न शब्दपुनरुक्तम्, अर्थभेदेन शब्दसाम्येऽप्यस्यासम्भवात् यथा—

“हसति हसति स्वामिन्युच्चेदुद्यतिरोदिति

कुतपरिकरं स्वेदोदगारि प्रधावति धावति ।

गुणसमुदितं दोषापेतं प्रणिन्दति निन्दति,

धनलब्धपरिकीतं यन्त्रे प्रनृत्यति नृत्यति ॥” (वादन्यापः प० १११)

संभव होने पर भी असमस्त वाक्य का प्रयोग भी अधिक होने से निप्रहस्थान क्यों नहीं होता ?
अगर कहो कि अधिक होने पर भी उनसे विशेष प्रतिपत्ति होती है, अतएव उन्हें निप्रहस्थान
नहीं कहते तो अनेक हेतुओं या उदाहरणों से भी विशेष प्रतिपत्ति होती है अतएव उनके प्रयोग
को निप्रहस्थान क्यों कहते हो ? हाँ, यदि निरर्थक हेतु या उदाहरण का प्रयोग किया जाय तो
वह निरर्थक होने से हो निप्रहस्थान होगा, अधिक होने से नहीं ।

१४—पुनरुक्त अनुवादकी छोड़कर शब्द और अर्थको पुनरुक्ति करना पुनरुक्ति निप्रहस्थान कहलाता
है । एक ही शब्द का एक बार से अधिक प्रयोग करना शब्द—पुनरुक्ति है, जैसे ‘शब्द अनित्य
है’ शब्द अनित्य है ।, किसी अर्थ को एक शब्द द्वारा कह कर अर्थ—पुनरुक्ति कहलाती है । यथा
‘शब्द अनित्य है, छ्वनि विनाशादान् है ।’ परन्तु अनुवाद करने में पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता,
जैसे प्रतिज्ञा की दोहराने रूप निगमन का प्रयोग पुनरुक्ति नहीं है । किन्तु यहाँ अर्थ की पुनरुक्ति
ही अनुचित है—वह नहीं होनी चाहिए । शब्द की समानता होने पर भी अर्थभेद होता है तो
पुनरुक्ति दोष नहीं होता । यथा—

हसति हसति स्वामिन्युच्चेदुद्यतिरोदिति,

कुतपरिकरं स्वेदोदगारि प्रधावति धावति ।

गुणसमुदितं दोषापेतं प्रणिन्दति निन्दति,

धनलब्धपरिकीतं यन्त्रे प्रनृत्यति नृत्यति ॥

(यहाँ क्रियापदों में शब्दसाम्य होने पर भी अर्थभेद (१) होने से पुनरुक्ति नहीं है ।)

हसति, रुदति, प्रनिन्दति और प्रनृत्यति ये चारों वर्तमान कृदन्त शब्द के (सति) संतानी एकवचन के
रूप हैं और ‘हसति’ आदि दूसरे रूप क्रियापद हैं, अतः यहाँ अर्थभेद है ।

इत्यादि । ततः स्पष्टार्थवाचकस्तेरेवान्विष्वा शब्दैः सम्भाः प्रतिपादनीयाः । तदप्रतिपादकशब्दानां तु लक्ष्यत् पुनः पुनर्वर्गभिधानं निर्थकं न तु पुनरुचतमिति । यद्यि अर्थापश्चस्य स्वशब्देन पुनर्वर्जनं पुनरुचतमुक्तं यथा असत्सु मेघेषु वृष्टिर्न भवतीत्युक्ते अर्थादापश्चते सत्सु भवतीति तत् कण्ठेन कथ्यमानं पुनरुचतम् भवति, अर्थात्यर्थे हि शब्दप्रयोगे प्रतीतेऽर्थे कि तेनेति? । एतदपि प्रतिपादार्थप्रतिपादकस्वेन वैयाक्यान्विग्रहस्थानं नाम्यथा । तथा चेदं निर्वकाश विजिष्येतेति १३ ।

१४—पर्वदा विदितस्य वादिना त्रिभिरुचितस्यापि यदप्रत्युच्चारणं तदननुभाषणं नाम निग्रहस्थानं भवति, अप्रत्युच्चारयत् (न) किमाश्रयं दूषणमशिदधतीति (०द्धीतेति) । अत्रापि कि सर्वस्य वादिनोक्तस्याननुभाषणम् उत यज्ञान्तरीयिका साक्षिद्विस्तस्येति? । तत्राद्याः पक्षोऽयुक्तः, परोक्तमशेषमप्रत्युच्चारयतोऽपि दूषणवचनाद्याद्यातात् । यथा सर्वमनित्यं सत्त्वादित्युच्चते-सत्त्वादित्ययं हेतुविरुद्ध इति हेतुमेवोच्चार्यविरुद्धतोऽद्वाव्यते क्षणक्षयाद्युक्तम् सर्ववार्याक्षयादिरोधात् सत्त्वाननुपयत्तेरिति च समस्पष्ट अर्थ के बाचक उम्हीं शब्दोद्वारा अथवा अन्य शब्दोंसे सम्बोधे को अपना अपीष्ट समझा देना उचित है । ही, जो अर्थ के बाचक न हों ऐसे शब्दों का न सो एक बार प्रयोग करना आहुए और न बार-बार प्रयोग करना चाहिए, परन्तु ऐसे शब्दों के प्रयोग से निरर्थक निग्रहस्थान होता है, पुनरुचित नहीं । जो बास अर्थ से जानी जाय उसे शब्दों द्वारा पुनः कहना पुनरुचित है, जैसे—‘मेघों के अभाव में वृष्टि नहीं होती, ऐसा कहने पर यह स्वयं विदित हो जाता है कि—‘मेघों के होने पर वृष्टि होती है । किन्तु इन शब्दों को कंठ से कहना पुनरुचित है, क्योंकि यह अर्थ समझ में आ जाय तो उसे शब्दों द्वारा कहने की क्या आवश्यकता है? यह भी प्रसीत अर्थ का प्रतिपादक होने के कारण निग्रहस्थान है, अन्यथा नहीं । इस प्रकार यह पुनरुचित निग्रहस्थान निरर्थक से भिन्न नहीं है ।

१४—अननुभाषण— समझ लें और बादी तीन बार जिसका उच्चारण कर दें प्रतिवादी उसका प्रत्युच्चारण न करे तो अननुभाषण नामक निग्रहस्थान होता है । बादीके कथन का प्रत्युच्चारण ही न करेगा तो उसमें दूषण कैसे दे सकता? इस संबंध में विचारणीय है कि—‘या बादी के समय कथन का उच्चारण न करना अननुभाषण निग्रहस्थान है या जिसका उच्चारण किये विना साध्य की सिद्धि न हो सकती हो, उसका उच्चारण न करना अननुभाषण है?’ इनमें से पहला पक्ष स्वीकार करना अद्युक्त है, क्योंकि बादी के समय कथन का प्रत्युच्चारण किये दिला भी दूषण का प्रयोग करने में कोई रुकावट नहीं हो सकती । यथा—बादी ने कहा ‘सर्व पदार्थ अनित्य हैं, क्योंकि सत् हैं, यहाँ प्रतिवादी बादी के पूरे कथन को न दोहरा कर सिर्फ यही कहता है—‘क्योंकि सत् है’ यह हेतु विवृद्ध है । इस प्रकार हेतु को ही दोहरा कर उसमें विवृद्ध दोष का उद्भावन करता है—सम्भाय आदि एकान्त में अर्थक्रिया का सर्वविरोध है, अतएव हस्त वृद्धि महीं हो सकता । ऐसा कह कर प्रतिवादी बादी के हेतु का निर-

र्यते । तावता च परोक्तहेतोदूषणात्कमन्योच्चारणेऽः । अतो यज्ञान्तरीयिका साध्यसिद्धिस्तस्यैवाप्रत्युच्चारणमनुभाषणं प्रतिपत्तिव्यम् । अथेवं दूषयितुमसमर्थः शास्त्रार्थपरिज्ञानविशेषविकल्पत्वात् । तदायमुत्तराप्रतिपत्तेरेव तिरस्कृयते न पुनरननुभाषणादिति १४ ।

९५—पर्यावर्त्तिस्यापि वादिवाक्यार्थस्य प्रतिवादिनो यदज्ञानं तदज्ञानं नाम-नियमहस्थानं भवति । अविदितोत्तरविषयो हि क्वोत्तरं दूष्यत् ? । न चाननुभाषणमेवेदम्, ज्ञातेऽपि वस्तुन्यनुभाषणासामर्थ्येदर्जानात् । एतदप्यसाम्प्रतम्, प्रतिज्ञाहान्याविनियमहस्थानानां भेदाभावानुषङ्गात् तत्राप्यज्ञानस्येव सम्भवात् । तेषां तत्प्रभेदत्वे वा नियमहस्थानप्रतिनियमाभावप्रसङ्गः, परोक्तस्याऽधर्यज्ञानादिभेदेन नियमहस्थानानेकत्वप्रसङ्गात् १५ ।

९६—परपश्चे गृहीतेऽप्यनुभाषितेऽपि तस्मन्नुत्तराप्रतिपत्तिरप्रतिभा नाम नियमहस्थानं भवति । एषाप्यज्ञानांश्च भिद्यते १६ ।

९७—“कार्यव्यासङ्गात् कथाविलेदो विक्षेपः” (न्यायद० ५. २. १९) नाम नियमहस्थानं भवति । सिद्धाध्ययिषितस्यार्थस्याशक्यसाधनतामवसाय कथां विच्छिन्नसि—‘इदं सन करता है । ऐसी स्थिति में वादी के कहे शेष शब्दों को दोहराने की क्या आवश्यकता है ? अतएव जिन शब्दों के दोहराए विना साध्य की सिद्धि न हो सकती हो, उन्हीं को दोहराना अननुभाषण नियमहस्थान समझना चाहिए । कथाविलेदो प्रतिवादी शास्त्र के अर्थ के विशिष्ट परिज्ञान से विकल होने के कारण इस प्रकार दूषण देने में समर्थ न हो तो उत्तर न सूझने के कारण ही उसका लिखकार (पराजय) हो जाएगा, अननुभाषण से नहीं ।

९५—अज्ञान-वादी के हारा प्रयुक्त वाक्य का अर्थ सभूत समझ लें किन्तु प्रतिवादी की समझ में न आना अज्ञान नामक नियमहस्थान है । प्रतिवादी उत्तर के विषय को ही नहीं समझेगा तो उत्तर किसका देगा ? इस नियमहस्थान को अननुभाषण में अन्तर्गत नहीं कर सकते, क्योंकि अनुभाषण का असामर्थ्य तो ज्ञान वस्तु में भी हो सकता है । नेपालियों की यह भाष्यता सभी—जीव नहीं है, क्योंकि अज्ञान नियमहस्थान पृथक् शब्देकार कर लेने पर प्रतिज्ञाहानि आदि नियमहस्थान अलग नहीं रह सकेंगे, क्योंकि उनमें भी अज्ञान ही होता है । यदि प्रतिज्ञाहानि आदि को अज्ञान नियमहस्थान का शब्देव भाव लिया जाय तो नियमहस्थानों की प्रतिनियत संख्या (वाईस) कायम नहीं रहेगी । फिर तो वादी के आधे कथन को न समझने से भी यक् नियमहस्थान ही जाएगा । इस प्रकार अनेक नियमहस्थान हो जाएंगे ।

९६—अप्रतिभा-वादी के पक्ष को नमझ लेने पर भी और अनुभाषण करने पर भी उसका उत्तर न सूझना अप्रतिभानामक नियमहस्थान है ।

९७—विक्षेप—किसी कार्य का व्यासंग बतलाकर क्या का विच्छेद करना—बीच में से ही उसे समाप्त करना, विक्षेप नियमहस्थान है । वादी जिस साध्य को सिद्ध करना चाहता है उसे सिद्ध करना आवश्यक सरलूम होने पर बीच में ही क्या (वाद) को समाप्त करता है—मेरा

मे करणीयं परिहीयते, पीनसेन कण्ठ उपरुद्धः, इत्याद्भिधाय कथां विलिङ्गन्-
विक्षेपेण पराजीयते । एतदप्यज्ञानतो नाथनितरमिति १७ ।

१८—स्वपक्षे परापादितदोषमनुदधृत्य तमेव परपक्षे प्रतीपमायादयतो भतानुज्ञा
नाम निग्रहस्थानं भवति । औरो भवान् पुरुषत्वात् प्रसिद्धोरबदित्युक्ते-भवानपि
चौरः पुरुषत्वादिति ब्रुवन्नात्मनः परापादितं चौरस्वदोषमभ्युपगतवान् भवतीति भता-
नुज्ञया निगृह्यते । इदमप्यज्ञानान्न भिद्यते । अनेकान्तिकता वात्र हेतोः; स ह्यात्मी-
यहेतोरात्मनेवानेकान्तिकतां हृष्टवा प्राह—भवतपक्षेऽप्यवं दोषः समानस्त्वभाविष्यते पुरु-
षोऽसीत्यनेकान्तिकत्वमेवोद्भावपतीति १८ ।

१९—निग्रहप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोजयोपेक्षणं नाम निग्रहस्थानं भवति । पर्य-
नुयोजयो नाम निग्रहोपपत्त्यावश्यं नोदनीयः ‘इदं ते निग्रहस्थानमुपनतमत्वो निगृहीतो-
इसि’ इत्येवं वचनीयस्तमुपेक्षयं न निगृह्यनाति यः स पर्यनुयोजयोपेक्षणेन निगृह्यते ।
एतच्च ‘कस्य निग्रहः’ इत्यनुयुक्तया परिषदोद्भावनीयं न त्वसावात्मनो दोषं विवृणु-
यात् ‘अहं निग्रहस्त्वयोपेक्षितः इति । एतदप्यज्ञानान्न भिद्यते १९ ।

अमृक काम बिगड़ रहा है, पीनस से मेरा गला कंठ—रुद्ध यथा है, इस्याकि कह कर अपना पिण्ड
छुआता है तो वह विक्षेप निग्रहस्थान से पराजित हो जाता है । किन्तु यह निग्रहस्थान भी अज्ञान
से पृथक् नहीं है ? ।

१८-भतानुज्ञा-वादी के स्वपक्ष में दिए गये दोष का निराकरण न करके, उलटे वही दोष पर-
पक्ष में बाहलाना भतानुज्ञा निग्रहस्थान है । यथा वादी ने कहा—आप चोर हैं, वर्णोंकि पुरुष हैं,
प्रसिद्ध चौर के समान । तब प्रतिवादी कहता है—‘पुरुष होने के कारण आप भी चौर हुए ।, इस
प्रकार कहने वाला प्रतिवादी अपने को चोर स्वीकार कर लेता है । किन्तु यह निग्रहस्थान भी
अज्ञान से भिन्न नहीं है अथवा यहाँ हेतु में अनेकान्तिकता दोष समझना चाहिए । वह अपने हेतु में
अपने से ही अनेकान्तिकता देख कर कहता है—आप के पक्ष में भी तो यही दोष समान है । तुम
भी तो पुरुष ही हो । ऐसा कह कर वह एक प्रकार से अनेकान्तिक का ही उद्भावन करता है ।

१९—पर्यनुयोजयोपेक्षण—निग्रहप्राप्त का निग्रह न करना पर्यनुयोजयोपेक्षण निग्रहस्थान कह
लाता है । अनियाय यह है कि जो निग्रहस्थान को प्राप्त हुआ हो उसे प्रतिवादी को यह अब-
श्य कहना चाहिए कि—‘तुम अमृक निग्रहस्थान को प्राप्त हुए हो । यदि कोई इसकी उपेक्षा कर
हे अर्थात् निग्रहप्राप्त को निगृहीत घोषित न करे तो वह उपेक्षा करने वाला स्वयं पर्यनुयोजयोपेक्षण
नामक निग्रहस्थान का भागी बन जाता है । निग्रह किसका हुआ है, यह बात सभ्यों को ग्रहण
करनी चाहिए । स्वयं वादी या प्रतिवादी तो अपने दोष को आहिर करेगा नहीं कि—ये निग्रह
प्राप्त था और तुमने उपेक्षा करके मूँझे निगृहीत नहीं किया । बस्तुतः यह निग्रहस्थान भी अज्ञान
से पृथक् नहीं है ।

१००—“अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानानुयोगो निरनुयोज्यानुयोगः” (शायदू०५.३.३२) नाम निग्रहस्थानं भवति । उपपञ्चवादिनमप्रभाविनमनिग्रहाहंमपि ‘निगृहीतोऽस्मि’ इति यो सूत्रात् एवाभूतदोषोऽद्वावनान्निगृह्यते । एतदपि नाज्ञानाद्वच्छतिरिच्यते २० ।

१०१—“सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात्कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः” (शायदू०५.३.३३.) नाम निग्रहस्थानं भवति । त प्रथमं कविष्ठल् सिद्धान्तमभ्युपगम्य क्यामुपकमते । तत्र च सिष्ठाधिष्ठितार्थसाधनाय परोपालमभाय वा सिद्धान्तविरुद्धमभिधत्ते सोऽपसिद्धान्तेन निगृह्यते । एतदपि प्रतिवादिनः प्रतिपक्षसाधने सत्येव निग्रहस्थानं नान्यथेति २१ ॥३४॥

१०२—“हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः” (शायदू०५.३.३४) असिद्धविरुद्धादयो निग्रहस्थानम् । अत्रापि विरुद्धहेतुऽद्वावने प्रतिपक्षसिद्धेनिग्रहाधिकरणत्वं युक्तम् असिद्धाध्युद्वावने तु प्रतिवादिना परिवर्णसाधने छुटे तद्युक्तं नान्यथेति २२ ॥३४॥

१०३—तदेवमक्षणादोपदिष्टं पराजयाधिकरणं परीक्ष्य सौगताभिमतं सत् परीक्ष्यते—

नाप्यसाधनाऽगवचनादोषोद्भावने ॥३५॥

१००—निरनुयोज्यानुयोग—निग्रहस्थान को प्राप्त न होने पर भी निग्रहस्थानप्राप्ति का आरोप लगाना निरनुयोज्यानुयोग निग्रहस्थान कहलाता है । जो युक्तिसंग्रह कथन कर रहा है अप्रमादी है अर्थात् वरावर स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषण कर रहा है और निग्रह के योग मही है, उसे जो ‘तुम निगृहीत हुए’ ऐसा कहता है, वह स्वयं इस निग्रहस्थान से निगृहीत हो जाता है ।

यह निग्रहस्थान भी अज्ञान में ही अन्तर्गत है, उससे भिन्न नहीं है ।

१०१—असिद्धान्त—किसी सिद्धान्त को स्वीकार करके नियमविरुद्ध कथा करना अपसिद्धान्त निग्रहस्थान है । तात्पर्य यह है कि कोई वाक्यी पहले किसी सिद्धान्त को स्वीकार कर लेता है किन्तु अपने इष्ट साध्य को सिद्ध करने के लिए या परपक्ष को दूषित करने के लिए अपने स्वीकृत सिद्धान्त से विरुद्ध भाषण करता है वह अपसिद्धान्तनिग्रहस्थान से निगृहीत होता है । किन्तु यह निग्रहस्थान तभी -निग्रहस्थान हो सकता है जब प्रतिवादी का पक्ष सिद्ध हो जाय, अन्यथा नहीं ।

१०२—हेत्वाभास—पूर्वोक्त असिद्ध विरुद्ध आदि हेत्वाभास भी निग्रहस्थान है । यही विरुद्ध हेतु का उद्भावन करने से स्वतः प्रतिपक्ष को सिद्ध हो जाने के कारण निग्रहस्थान मानवा उक्तिरूप है । यदि असिद्धता आदि का उद्भावन किया जाय तो प्रतिवादी जब प्रतिश्वेष की सिद्धि कर ले तब ही निग्रहस्थान होता है, अन्यथा नहीं ॥३४॥

१०३—अक्षणाद द्वारा उपदिष्ट निग्रहस्थानों की परीक्षा करके अब बोद्धसम्मत निग्रहस्थानों की परीक्षा करते हैं—

सूत्रार्थ—असाधनाऽगवचन और अदोषोदभावन भी पराजय नहीं हैं ॥३५॥

१०४—स्वपक्षस्यासिद्धिरेव पराजयो 'न' 'असाधनाङ्गवचनम्' अदोषोद्भाव-
नम्' च । यथाहु धर्मकीर्तिः—

असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं कुयोः ।

निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते ॥” —(वादन्यायः का० १)

२०५—अब हि स्वपक्षं साध्यम् असाध्यम् वा वादिग्रतिवादिनोरत्यतरोऽसाध-
नाङ्गवचनाददोषोद्भावनाद्वा परं निग्रहणात् । प्रथमपक्षे स्वपक्षसिद्ध्येवास्य परा-
जयादन्योद्भावनं व्यर्थम् । द्वितीयपक्षे असाधनाङ्गवचनाद्युद्भावनेषि न कस्यचिज्जयः
पक्षसिद्धेऽभयोरभावात् ।

१०६—यच्चास्य व्याख्यानम्—साधनं सिद्धिस्तदङ्गं त्रिरूपं लिङ्गं तस्यावचनम्-
त्रूपणीभावो यत्किञ्चिच्छाषणं वा, साधनस्य वा त्रिरूपलिङ्गस्याङ्गं समर्थम् विषये
बाधकप्रमाणोपदर्शनरूपं तस्यावचनं वादिनो निग्रहस्थानमिति—तत् पञ्चाववयवप्रयोग-
वादिनोऽपि समानम् । यत्यं हि तेजाप्येवं वश्तुं सिद्धुंगास्य पञ्चाववयवप्रयोगस्याव-
चनात् सौगतस्य वादिनो निग्रहः । ननु चास्य तदवचनेऽपि न निग्रहः, प्रतिज्ञानिग्रह-
नयोः पक्षधर्योपसंहारसामर्थ्येन गम्यमानयोद्द्वच वचने पुनरुक्तत्वानुच-

१०४—जैसा कि पूर्व में कह आए हैं, स्वपक्ष की असिद्धि ही पराजय है, असाधनांगवचनम्
और अदोषोद्भावन नहीं । धर्मकीर्तिने कहा है—‘असाधनांगवचन और अदोषोद्भावन, यह दो
ही निग्रहस्थान हैं । इनसे चिन्न कोई निग्रहस्थान नहीं है, अतएव उन्हें स्वीकार नहीं किया गया है ।’

१०५—बोधों की इस मान्यता के सम्बन्ध में विचारणीय है कि—वादो और प्रतिज्ञादी जै
से कोई भी असाधनांगवचन और अदोषोद्भावन के द्वारा दूसरे को निग्रहीत करता है सो अपने
पक्ष को सिद्ध करता हुआ निग्रहीत करता है अथवा सिद्ध न करता हुआ ? प्रथम पक्ष में स्वपक्ष
को सिद्ध से हो विशेषी पक्ष का पराजय हो जायगा, फिर दूसरे दोष को उद्भावना करना
चाहा है । दूसरे पक्ष में असाधनांगवचन आदि दोषों का उद्भावन करने पर भी किसी को ज्ञान
की प्राप्ति नहीं होगी, क्योंकि दोनों के पक्ष को सिद्ध नहीं हुई है ।

१०६—‘असाधनांगवचन’ को एक व्याख्या इस प्रकार की जाती है—साधन अर्थात् सिद्धि
का अंग है—त्रिरूप शिल्प, उसका अवचन अर्थात् प्रयोग न करना—बुप्ती साध लेना या यद्या
तदा ब्रोलना । अत्वा साधन-त्रिरूप लिंग के अंग (समर्थन) का प्रयोग न करना अर्थात् जो विषय
में बाधक प्रमाण न दिखलाना । तात्पर्य यह है कि तीन लक्षणों वाले हेतु का प्रयोग न करना
अथवा हेतु का समर्थन न करना असाधनांगवचननामक निग्रहस्थान कहलाता है । किन्तु यह
बात सो धंचावयव प्रयोगशासी (नेयाधिक) के लिए भी समान है । वह भी कह सकता है कि
सिद्धि के अंग—धंचावयवप्रयोग का कथन न करने से सौगत का निग्रह हो जाता है । शंका—याच
अवश्यकों का प्रयोग न करने पर भी सौगत का निग्रह नहीं माना जा सकता; क्योंकि प्रतिज्ञा
और निग्रह का पक्षधर्मोपसंहार (उपनय) से ही जान हो जाता है । स्वतः ज्ञान को खोन्हों

१—पक्षधर्मस्व, सप्तपक्षस्व और विषयव्याकृति लक्षणवाला हेतु ।

स्यात् तत्प्रयोगेऽपि हेतुप्रयोगमन्तरेण साध्याथप्रिसिद्धेः; इत्याप्यसत् पक्षधर्मोपसंहारस्याप्यदिग्म्यमानस्यापि यत् सत् तत् सर्वं क्षणिकं यथा घटः, संश्च शब्द इति पक्षधर्मोपसंहारस्य वचनं हेतोरपक्षधर्मत्वेनासिद्धत्वव्यवच्छेदार्थम्; तर्हि साध्याधारसन्देहाप्यनोदार्थं गम्यमानाया अपि प्रतिज्ञायाः, प्रतिज्ञाहेतुवाहरणोपनयनामेकार्थत्वप्रदर्शनार्थं निगमनस्य वचनं कि न स्यात् ?। नहि प्रतिज्ञादीनामेकार्थत्वोपदर्शनमन्तरेण सञ्ज्ञतत्वं घटते, भिन्नविषयप्रतिज्ञादिवत्। ननु प्रतिज्ञातः साध्यसिद्धौ हेत्वादिवचनममन्तर्कमेव स्यात्, अन्यथा नास्याः साधनाङ्गत्वेति चेत्; तर्हि भवतोऽपि हेतुतः साध्यसिद्धौ दृष्टान्तोऽनर्थकः स्यात्, अन्यथा नास्य साधनाङ्गत्वेति समानम्। ननु साध्यसाधनयोव्याप्तिप्रदर्शनार्थत्वात् नानर्थको दृष्टान्तः, तत्र तदप्रदर्शने हेतोरगमकत्वात्; इत्याप्ययुक्तम्, सर्वानिस्त्यत्वसाधने सत्त्वादेहृष्टान्तासम्भवतोऽगमकत्वानुषङ्गात्। विषयव्याख्यस्या सत्त्वादेगमकत्वे वा सर्वंत्रापि हेतौ गमना कहने से पुनरुक्ति दोष होता है। प्रतिज्ञा और निगमन का प्रयोग कर देने पर भी हेतु का प्रयोग किये बिना साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती। (अतएव प्रतिज्ञा और निगमन का प्रयोग निरर्थक है।) समाधान—यह कथन असत् है। इस युक्ति से तो पक्षधर्मोपसंहार का प्रयोग भी निरर्थक ठहरेगा। शंका—'जो सत् होता है वह सब क्षणिक होता है, जैसे—घट, शब्द भी सत् है' इस प्रकार के पक्षधर्मोपसंहार का प्रयोग निरर्थक नहीं है। इसके प्रयोग से हेतु में पक्षधर्मस्व के अमावस्या से आने वाली असिद्धता का व्यवच्छेद होता है। समाधान—तो साध्य कहाँ सिद्ध किया जा रहा है, इस प्रकार की शंका का निधारण करने के लिए गम्यमान प्रतिज्ञा का प्रयोग भी निरर्थक नहीं कहा जा सकता और प्रतिज्ञा हेतु तथा उदाहरण एकार्थक हैं—एक ही साध्य को सिद्ध करते हैं, यह प्रकट करने के लिए निगमन का प्रयोग करना भी सार्थक है। प्रतिज्ञा आदि अवयवों की एकार्थकता दिखलाना आवश्यक है। इसके बिना उनकी संगति नहीं हो सकती। प्रतिज्ञा का विषय कुछ और हो, हेतु का विषय अन्य हो और उदाहरण का विषय भिन्न हो तो वे कैसे संगत हो सकते हैं ?

शंका—यदि प्रतिज्ञा के प्रयोग से साध्य की सिद्धि मान लो जाए तो हेतु आदि का प्रयोग करना निरर्थक हो जाएगा। यदि प्रतिज्ञा से साध्य की सिद्धि नहीं होती तो उसे साधन का अंग नहीं कहा जा सकता। समाधान—यदि हेतु से साध्यसिद्धि होती है तो दृष्टान्त का प्रयोग निरर्थक हो जाना चाहिए। अन्यथा वह साधन का अंग नहीं कहा जा सकता। यह दोष आपके मत में की समान रूप से लागू होता है। शंका—दृष्टान्त का प्रयोग निरर्थक कैसे कहा जा सकता है ? यदि दृष्टान्त के प्रयोग हारा साध्य-साधन की व्याप्ति प्रदर्शित न की जाय तो हेतु गमक ही नहीं होगा। समाधान—यह कथन अवृक्ष है। अब आप 'सत्त्व' हेतु से समस्त पदार्थों की क्षणिकता सिद्ध करते हैं तो वही कोई दृष्टान्त संभव नहीं है (वयोंकि समस्त पदार्थ पक्ष के अन्तर्गत हो जाते हैं)। ऐसी सिद्धि में गमक हेतु गमक नहीं होगा। (किन्तु दृष्टान्त के अमावस्या में भी आपने सत्त्व हेतु को गमक

तथेव गमकत्वप्रसङ्गात् हृष्टान्तोऽनर्थक एव स्यात् । विषक्षब्याबृत्या च हेतु समर्थयन् कथं प्रतिज्ञां प्रतिक्षिपेत् ? । तस्याश्वानमिधाने क्व हेतुः साध्यं वा वर्तते ? । गम्यमाने प्रतिज्ञाविषय एवेति चेत् ; तस्मै गम्यमानस्येव हेतोरपि समर्थनं स्यत्तम त्वदत्तस्य । अथ गम्यमानस्याभि हेतोर्भवत्तमिप्रतिज्ञार्थं दद्वन्नात् ; तथा प्रतिज्ञावचने कोऽपरितोषः ? ।

१०७—यच्चेवमसाधनाङ्गमित्यस्य व्याख्यानान्तरम्—साधम्येण हेतोर्वचने वैष्ठम्यवचनम्, वैष्ठम्येण च प्रयोगे साधम्यवचनं गम्यमानत्वात् पुनरुक्तस्मतो न साधनाङ्गम्; इत्यप्यसाम्प्रतम्, यतः सम्यक्साधनसामर्थ्येन स्वपक्षं साध्यतो वाविनो निग्रहः स्यात्, असाध्यतो वा ? । प्रथमपक्षे न साध्यसिद्ध्यप्रतिबन्धिवचनाधिकयोपालभमाश्रेणास्य निग्रहः, अविरोधात् । नन्वेवं नाटकादिघोषणतोऽप्यस्य निग्रहो न स्यात्; स्वीकार किया है ।) शंका-सत्त्व आदि हेतु हृष्टान्त-सप्तक के बिना भी केवल विषक्षब्याबृत्ति से ही गमक हो जाते हैं, समाधान-तो सभी जगह विषक्षब्याबृत्ति से ही हेतु गमक हो जाएगा, फिर हृष्टान्त की क्या आवश्यकता है ? विषक्षब्याबृत्ति के द्वारा हेतु का समर्थन करने वाला प्रतिज्ञा का निवेद कैसे कर सकता है ? यदि प्रतिज्ञा का प्रयोग नहीं किया जाएगा तो कैसे विदित होगा कि हेतु या साध्य कहाँ रहता है ?

शंका-प्रसंग आवि से गम्यमान प्रतिज्ञा (पक्ष) में हेतु और साध्य का रहना समझा जा सकता है । समाधान-तो इसी प्रकार गम्यमान हेतु का समर्थन किया जा सकता है । फिर हेतु का प्रयोग करके समर्थन करने की क्या आवश्यकता ? शंका-भवदबुद्धियों को समझाने के लिए गम्यमान हेतु का प्रयोग करना आवश्यक है । समाधान-तो इसीलिए प्रतिज्ञाआवि का प्रयोग करने में आपको क्यों असन्तोष होता है ? (मन्दगतियों को समझाने के लिए प्रतिज्ञा और निगमन का प्रयोग भी स्वीकार करो ।)

१०८—असाधनांगवचन की एक दूसरी व्याख्या भी है, जो इस प्रकार है—साधम्य (विधिरूप) से हेतु का प्रयोग कर देने पर भी वैष्ठम्य से प्रयोग करना, अथवा वैष्ठम्य से प्रयोग करने के पश्चात् भी साधम्य से प्रयोग करना पुनरुक्त है, अतएव वह साधन का अंग भही है । अधित् एक ही स्थल पर दोनों प्रकार का प्रयोग करना असाधनांग निग्रहस्यात् है । यह व्याख्या भी सभीज्ञोन महीं है । इस व्याख्या के अनुसार यह निग्रहस्यान किसको प्राप्त होगा—मिर्दोन हेतु के बल से अपने पक्ष को लिह करने वाला वादी इससे निग्रहीत होगा अथवा अपने पक्ष को सिद्ध न कर सकने वाला ही मिग्रहीत होगा ? साध्य की सिद्धि में वादा म डालने वाले वज्ञनों की अधिकता के उपालंभ मात्र से स्वपक्ष को सिद्ध करने वाला वादी निग्रहीत नहीं हो सकता । क्योंकि वज्ञनों की अधिकता का पक्ष-सिद्धि से कोई विरोध नहीं है । शंका—यों तो नाटक आवि की घोषणा करने से भी वादी का निग्रह नहीं भासा जाएगा । समाधान—ठीक है । अपने सम्बन्ध

सत्यमेतत्, स्वसाध्यं प्रसाध्य नुत्यतोऽपि दोषाभावाललोकवस्, अन्यथा ताम्बूलभक्षण-भूक्षेप-खाट्कृत-हुस्तासफालनादिभ्योऽपि सत्यसाधनवादिनोऽपि निश्रहः स्यात् । अथ स्वपक्षमप्रसाधयतोऽस्य ततो निश्रहः, न त्वब्रावि कि प्रतिवादिना स्वपक्षे साधिते वादिनो वचनाधिक्योपालभ्यो निश्रहो लक्ष्येत, असाधिते वा? । प्रथमपक्षे स्वपक्षसिद्ध्येवास्य निश्रहाद्वचनाधिक्योद्ग्रावनमनर्थकम्, तस्मिन् सत्यपि पक्षसिद्धिमन्तरेण जययोगात् । द्वितीयपक्षे तु युद्धपद्मादिप्रतिवादिनोः पराजयप्रसङ्गो जयप्रसङ्गो वा स्यात्, स्वपक्षसिद्धेरभावादिशेषात् ।

१०८—ननु न स्वपक्षसिद्ध्यसिद्धिनिश्रहनी जयपराजयी, तयोजनाज्ञाननिवन्धनत्वात् । साधनवादिना हि साधुसाधनं ज्ञात्वा वक्तव्यम्, दूषणवादिना च दूषणम् । तत्र साधम्यवचनाद्वैधम्यवचनाद्वाऽर्थस्य प्रतिपत्तौ तदुभयवचने वादिनः प्रतिवादिनः सभायामसाधनाङ्गवचनस्योद्ग्रावनात् साधुसाधनाज्ञानसिद्धेः पराजयः । प्रतिवादि-नस्तु तदूषणज्ञाननिर्णयजज्यः स्यात् इत्यप्यविचारितरमणीयम्, यतः स प्रतिवादी सत्साधगतादिनः उद्देश्याभ्यन्तरादिनी एव वक्तव्याधिक्यदोषमुद्ग्रावयेत्? । तत्राद्यपक्षे को सिद्ध कर लेने के पक्षात् कोई मात्रने लगे तो भी कोई बुराई नहीं । लोक में ऐसा देखा जाता है । साध्य की सिद्धि हो जाने पर भी यदि वचनाधिक्यमात्र से निश्रह माना जाय तो साम्बूलभक्षण, भूक्षेप, खाट्कृत और हुस्तासफालन आदि से भी निश्रह मान लेना चाहिए । यदि यह माना जाय कि अपने पक्ष को सिद्ध न करने वाले को ही वचनाधिक्य निश्रहस्थान होता है तो यहाँ भी यह प्रट्टब्य है कि—प्रतिवादी द्वारा अपने पक्ष की सिद्धि कर लेने पर वादी का वचनाधिक्य से निश्रह होता है अथवा प्रतिवादी के पक्ष की सिद्धि न होने पर भी वादी निश्रहीत हो जाता है? प्रथम पक्ष स्वीकार किया जाए तो प्रतिवादी के पक्ष की सिद्धि हो जाने से ही वादी निश्रहीत हो जाएगा, फिर वचनाधिक्य का उद्गमावन करना दर्शन है । क्योंकि वचनाधिक्य का उद्गमावन करने पर भी प्रतिवादी जब तक अपने पक्ष को सिद्ध न कर ले तब तक वह विजया नहीं हो सकता । यदि दूसरा पक्ष स्वीकार किया जाय तो एक साथ ही वादी और प्रतिवादी के पराजय या विजय का प्रसंग होगा, क्योंकि दोनों में से किसी के भी पक्ष की सिद्धि नहीं हुई है ।

१०८-शंका-जय और पराजय का कारण स्वपक्ष की सिद्धि होना या न होना नहीं है । जय और पराजय का कारण तो ज्ञान और अज्ञान है । साधनवादी को समीक्षीन साधन ज्ञान कर अयोग में लाना चाहिए और दूषणवादी को सच्चा दूषण ज्ञान कर प्रयोग करना चाहिए । साधम्यप्रयोग या वैधम्यप्रयोग से अर्थ की प्रतिपत्ति हो चुकने पर दूसरे का प्रयोग करने के कारण प्रतिवादी ने सत्तुरंगसभा में वादी को असाधनामवचन दोष का उद्गमावन किया । इससे वादी के समीक्षीन साधनसंबंधी अज्ञान की सिद्धि हुई । अतएव उसका पराजय हो गया और प्रतिवादी के दूषणज्ञान का निश्चय हो जाने से उसकी विजय हुई । समाधान-यह कथन अविचारितरमणीय है । प्रतिवादी समीक्षीन साधन का प्रयोग करने वाले वादी को वचनाधिक्य दोष का उद्गमावन करता है अथवा असमीक्षीन साधन का प्रयोग करने वाले को? यदि समीक्षीन

वादिनः कथं साधुसाधनाज्ञानम्, तदुच्चनेयसाज्ञानस्येवाभावात्? । द्वितीयपक्षे तु न प्रतिवादिनो दूषणज्ञानभवतिष्ठते साधनाभासस्यानुद्गावनात् । तदुच्चनाधिक्यदोषस्य ज्ञानात् दूषणज्ञोऽसाविति चेत्; साधनाभासाज्ञानावद्दूषणज्ञोऽपीति नैकान्ततो वादिनं जयेत्, लददोषोद्गावनलक्षणस्य पराजयस्यापि निवारयितुमशक्तेः । अथ वचनाधिक्यदोषोद्गावनादेव प्रतिवादिनो जयसिद्धौ साधनाभासोद्गावनभन्तर्यकम्; नन्देव साधनाभासानुद्गावनात्स्य पराजयसिद्धौ वचनाधिक्योद्गावनं कथं जयाद्य प्रकल्पेत्? । अथ वचनाधिक्यं साधनाभासं वोद्गावयतः प्रतिवादिनो जयः; कथमेवं साधम्यवचने वैधम्यवचनं वैधम्यवचने वा साधम्यवचनं पराजयाय प्रभवेत्? । कथं चेवं वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहव्यवह्यं न स्यात्, कथचिदेकत्रापि पक्षे साधनसामर्थ्यज्ञानाज्ञानयोः सम्भवात्? न खलु शब्दादौ नित्यत्वस्यानित्यत्वस्य वा परीक्षाद्यामेकस्य साधनसामर्थ्ये ज्ञानमन्यस्य ज्ञानं जयस्य पराजयस्य वा निवन्धनं न भवति । युग-

साधन का प्रयोग करने वाले को करता है तो कंसे कहा जा सकता है कि उसे सत्साधन का ज्ञान नहीं है ? उसे समीक्षीय साधन का ज्ञान तो है, केवल वचनों की इयत्ता (परिणाम) का ही ज्ञान नहीं है । अगर दूसरा यक्ष स्वीकार किया आए तो प्रतिवादी के दूषणज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि वादी ने साधनाभास का प्रयोग किया था, किन्तु प्रतिवादी ने साधनाभास दोष का उद्भावन नहीं किया (सिर्फ वचनाधिक्य का ही उद्भावन किया ।) शंका-वादी के वचनाधिक्य दोष को समझ लेने से वह सिद्ध होता है कि प्रतिवादी को दोष का ज्ञान है । समाधान-किन्तु वादी द्वारा प्रयुक्त साधनाभास का ज्ञान न होने से वह अदोषज्ञ भी तो है । ऐसी स्थिति में वह वादी को एकान्ततः पराजित नहीं कर सकता । क्योंकि साधनाभास रूप दोष का उद्भावन न करने के कारण वह अपनी पराजय को रोक नहीं सकता । शंका-वचनाधिक्य दोष का उद्भावन करने से ही प्रतिवादी को विजय प्राप्त हो जाती है, अतएव साधनाभास का उद्भावन करना चूया है । समाधान-सो साधनाभास का उद्भावन न करने के कारण प्रतिवादी का पराजय सिद्ध हो जाने पर वचनाधिक्य का उद्भावन करने से भी उसकी विजय कैसे हो सकती है ?

शंका-वचनाधिक्य अथवा साधनाभास, इन दोनों में से किसी भी एक दोष का उद्भावन करने से ही प्रतिवादी को विजय प्राप्त हो जाती है । समाधान-तो साधम्यवचन और वैधम्य-वचन में से किसी एक का प्रयोग कर देने पर दूसरे के प्रयोग से वादी प्राहाजित कैसे हो सकता है ? इसके अतिरिक्त, जय और पराजय का आधार यदि ज्ञान और अज्ञान ही भाना जाए तो वादी और प्रतिवादी का यक्ष और प्रतिपक्ष का ग्रहण करना व्यर्थ हो जाएगा । साधन के सामर्थ्य का ज्ञान और अज्ञान सो किसी एक यक्ष में भी हो सकता है । शब्द आवि किसी एक यक्षार्थ की नित्यता-अनित्यता की परीक्षा में एक का साधन के सामर्थ्य का ज्ञान और दूसरे का एक द्विषयक अज्ञान जय-पराजय का कारण न होता हो, ऐसा तो है नहीं । यदि एक ही साथ

पत्ताधनासामर्थ्यज्ञाने च वादिप्रतिवादिनोः कस्य जयः पराजयो वा स्यादविशेषात्?।
न कस्यचिदिति चेत्; तर्हि साधनवादिनो वचनाधिक्यकारिणः साधनसामर्थ्यज्ञानं—
सिद्धेः प्रतिवादित्वं वचनाधिक्यद्वेषोद्भावनावृत्त्यादशानसिद्धेन्मं कस्यचिज्जयः
पराजयो वा स्यात्। नहि यो यद्योषं वेत्ति स तद्गुणमपि, कुतश्चिच्चन्मारणशक्तौ वेदने-
इपि विषद्रव्यस्य कुण्ठापनयनशक्तौ सवेदनानुदयात्। तत्र तत्त्वामर्थ्यज्ञानाननिव-
न्धनौ जयपराजयौ व्यवस्थापयितुं शक्यौ, यथोवतद्वेषानुवङ्गात् स्वपक्षसिद्धिच्छसिद्धि-
निवन्धनौ तु तौ निरवद्यौ पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवैयक्याभावात्। कस्यचित् कुतश्चित्
स्वपक्षसिद्धौ सुनिश्चितायां परस्य तत्सद्व्यभावतः सकृज्जयपराजयप्रसङ्गात्।

१०९—यच्चेदमदोषोद्भावनमित्यस्य व्याख्यानम्—प्रसङ्गप्रतिषेधे दोषोद्भावना-
भावमात्रम्—अदोषोद्भावनम्, पर्युदासे तु दोषाभासानामन्यदोषाणां ओद्भावनं प्रतिवा-
दिनो निग्रहस्थानमिति—तत् वादिनाऽदोषवति साधने प्रयुक्ते सत्यनुभावमेव यदि वादी

वादी और प्रतिवादी को साधन के सामर्थ्य का ज्ञान हो जाय तो किसी की जय और पराजय होगी ? यदि किसी की भी जय—पराजय न मानो तो सभी बीन साधन का प्रयोग करने वाले किसी वचनाधिक्य करने वाले वादी के साधनसामर्थ्य का ज्ञान सिद्ध होने से तथा वचनाधिक्य दोषमात्र का ही उद्भावन करने वाले प्रतिवादी के सिर्फ वचनाधिक्य का ही ज्ञान सिद्ध होने से (साधनाभास का ज्ञान न होने से) किसी की भी जय या पराजय नहीं होनी चाहिए। यह आवश्यक नहीं कि जो जिसके दोष को जानता है वह उसके गुण को भी अवश्य जाने। चिल में प्राणधात की शक्ति होती है और कुण्ठ रोग का निवारण करने की भी। किन्तु संभव है कोई उसकी प्राणधातक शक्ति को तो जाने किन्तु कुण्ठनिवारण शक्ति से अज्ञान रहे। अतएव पूर्वोक्त दोषों के कारण साधन के सामर्थ्य के ज्ञान और अज्ञान के आगार पर जय और पराजय की व्यवस्था नहीं मानी जा सकती। स्वपक्ष की सिद्धि और असिद्धि के कारण ही जय—पराजय की व्यवस्था मानना निर्दोष है। ऐसा मानने से पक्ष—प्रतिपक्ष को ग्रहण करना अवश्य नहीं होता। किसी हेतु से किसी के पक्ष की सिद्धि सुनिश्चित हो जाने और दूसरे के पक्ष की सिद्धि का अभाव होने पर जय—पराजय हो सकती है।

१०९—बीदूसम्मत दूसरे निग्रहस्थान ‘अदोषोद्भावन’ की व्याख्या प्रसङ्ग और पर्युदास पक्ष में दो प्रकार से होती है। प्रसङ्ग पक्ष में ‘अदोषोद्भावन’ का अर्थ है—दोष का उद्भावने भी ही करना और पर्युदास पक्ष में अर्थ है—दोषाभासों या अथवा दोषों का उद्भावन करना। यह प्रतिवादी के लिए निग्रहस्थान है। अगर वादी में निर्दोष साधन का प्रयोग किया हो और वह अपने पक्ष की सिद्धि कर से तो यह निग्रहस्थान हमें भी स्वीकार ही है (क्योंकि वादी जब निर्दोष साधन का प्रयोग कर रहा है और प्रतिवादी उसमें दोष का उद्भावन नहीं करता या दोषाभास का उद्भावन करता है तो प्रतिवादी से पराजित होगा ही।) हाँ, यदि वादी भी

स्वपक्षं साधयेत्सान्यथा । वचनादिक्यं तु दोषः प्रागेव प्रतिविद्वितः । यथैव हि पञ्चाव-
यवं प्रयोगे वचनादिक्यं निप्रहस्थानं तथा अव्यवद्यप्रयोगे न्यूनतापि स्याद्विशेषाभावात् ।
प्रतिज्ञादीनि हि पञ्चाव्यवनुमानाङ्गम्—“प्रतिज्ञाहेतुदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः”
(न्यायसू०१, १, ३२) इत्यभिधानात् । तेषां मध्येऽन्यतमस्याप्यनभिधाने न्यूनतालयो
दोषोऽनुषज्यत एव “हीनमन्यतमेनापि न्यूनम्” (न्यायसू०५, २, १३) इति वचनात् ।
ततो जयेतरव्यवस्थायां नान्यश्चिभित्तमुक्ताश्रिभिसादित्यलं प्रसङ्गेन ॥३५॥

११०—अयं च प्रागुक्तश्चतुरङ्गे वादः कदाचित्प्रालम्बनमप्यपेक्षतेऽतस्तत्त्वल-
क्षणमत्रावश्याभिधातव्यं यतो नाविज्ञातस्वरूपस्यास्यावलम्बनं जयाय प्रभवति न
नाविज्ञातस्वरूपं परपत्रं भेतुं शक्यमित्याह—

अपने पत्र को सिद्ध न कर सके तो उसे विजय प्राप्त महीं हो सकती । वचनादिक्य दोष का
उत्तर पहले दिया जा चुका है । पौर्व अवयवों का प्रयोग करना यदि बोल्ड की हृष्टि में अधिक
नामक निप्रहस्थान है तो तीन अवयवों का प्रयोग करना नेत्रायिक की हृष्टि से न्यून नामक
निप्रहस्थान है । इन दोनों पक्षों में युक्ति समान है ।

प्रतिज्ञा आदि पांचों अनुमान के अंग हैं । न्यायसूत्रमें कहा है—“प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण,
उपनय, और निगमन, यह अनुमान के अवयव हैं । इनमें से किसी भी एक अवयव का क्षयन न
करने से न्यूनता दोष का प्रसंग होता है । कहा भी है—किसी भी एक अवयव से हीन प्रयोग
न्यून दोष है ।

इस प्रकार जय और पराजय की घटकस्था का पूर्वोक्त नियम—स्वपक्ष की सिद्धि और
असिद्धि-के सिवाय अन्य कोई नियम नहीं हो सकता । अब यह चर्चा समाप्त की जाती है ॥३५॥

११०—पूर्वोक्त चतुरंग वाद कभी—कभी पत्र के आधार पर भी होता है । अतएव यहीं
पत्र का लक्षण बतलाना भी अवश्यक है । क्योंकि जब तक पत्र का स्वरूप न जान लिया जाय
तब तक उसका अवलम्बन विजय प्रदान नहीं करा सकता । इसके अतिरिक्त पत्र का स्वरूप
जाने किनारे प्रतिपक्षों के पत्र का भेदभ भी नहीं किया जा सकता । इस कारण पत्र का स्वरूप
कहते हैं -१

३८-अपूर्ण समाप्त-

१—खब है कि इसके आगे का रान्थ उपलब्ध नहीं है । जहाँ तक शात है, यह भी नहीं भालूम हो सका
कि यह रचना ही अपूर्ण रह गई या पूर्ण उपलब्ध नहीं हो रही है । इसी ग्रंथ की पुस्ति की ओर आचार्य ने
लिखा है—‘पञ्चभिरध्यायैः शास्त्रमेतदरचयदाचार्यः’ अर्थात् आचार्य ने पौर्व अध्यायों में इस शास्त्र को रचना
की । उस पर से ऐसा आभास होता है कि संभवतः इसके मूलसूत्र तो पुरे पौर्व अध्यायों में रखे गये हीं ।
टीका के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता ।

४ प्रमाणभीमांसायाः सूत्रपाठः ।

अथ प्रमाणभीमांसा ॥१॥
 सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम् ॥२॥
 स्वनिर्णयः सञ्चयलक्षणम्, अप्रमाणेऽपि
 भावात् ॥३॥
 ग्रहोद्यमाणप्राहिण इवं गृहीतप्राहिणेऽपि
 नाप्राभाष्यम् ॥४॥
 अनुभयत्रोभयकोटिस्पर्शी प्रत्ययः संशयः ॥५॥
 विशेषानुस्लेष्यनृथ्यवसायः ॥६॥
 अतर्स्मस्तदेवेति विपर्ययः ॥७॥
 प्रामाण्यनिश्चयः स्वतः परतो वा ॥८॥
 प्रमाण द्विधा ॥९॥
 प्रत्यक्षं परोक्षं च ॥१०॥
 द्युषस्थान्यधीनिषेधानां सिद्धेः प्रत्यक्षेतर-
 प्रमाणसिद्धिः ॥११॥
 भावाभावात्मकत्वाद्वस्तुनो निषिष्योऽभावः
 ॥१२॥
 विज्ञादः प्रत्यक्षम् ॥१३॥
 प्रमाणान्तरानपेक्षेदन्त्याप्ता, प्रतिभासो वा
 वैश्यम् ॥१४॥
 तत् सर्वथावरणचिलये चेतनस्य स्वरूपा-
 विभावो मुख्यं केवलम् ॥१५॥
 प्रज्ञातिशयविश्रान्त्यादिसिद्धेऽस्तत्सिद्धिः ॥१६॥
 बाधकाभावाद्वच ॥१७॥
 तत्तारतम्येऽवधिमनःपर्यायौ च ॥१८॥
 विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयभेदात् तद्देवः ॥१९॥
 इद्रियमनोनिमित्तेऽवग्रहेहावायद्वारणात्मा
 सांख्यवहारिकम् ॥२०॥

* इत्याचार्यभीहेमचन्द्रविरचितार्था प्रमाणभीमांसायाः प्रथमस्याचार्यस्य प्रथममाट्टिनकम्
 अविज्ञादः परोक्षम् ॥१॥
 स्मृतिप्रत्यभिज्ञानोहानमानामास्तद्विधयः ॥२॥
 बासनोद्बोधहेतुका तत्त्वित्याकारा स्मृतिः ॥३॥
 दर्शनस्मरणमस्मभवं तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतिषेवीत्यादिसङ्कुलनं प्रत्यभिज्ञानम् ॥४॥
 उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं अयाप्तिज्ञानम्

स्पर्शारसगन्धरूपशब्दग्रहणलक्षणानि स्पर्श-
 नरसनग्राणचक्षुःश्रोत्राणींद्रियाणि इत्य-
 भावभेदानि ॥२१॥
 द्रव्येऽद्रियं नियताकाराः पुद्यलाः ॥२२॥
 भावेऽद्रियं लड्ड्युपयोगी ॥२३॥
 सर्वर्थग्रहणं भवः ॥२४॥
 नाथालोकौ ज्ञानस्य निमित्तमव्यतिरेकात्
 ॥२५॥
 अकार्ययोगे दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमेवप्यहः ॥२६॥
 अवगृहीतविशेषाकाङ्क्षणमीहा ॥२७॥
 इहितविशेषनिर्णयोऽवायः ॥२८॥
 स्मृतिहेतुधरणा ॥२९॥
 प्रमाणस्य दिष्ययो द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु ३०
 अर्यक्रियासामश्चात् ॥३१॥
 तत्त्वात्मकत्वाद्वस्तुनः ॥३२॥
 पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्त्वित्तिलक्षण-
 परिणामेनास्यार्थक्रियोपपत्तिः ॥३३॥
 फलमर्थप्रकाशः ॥३४॥
 कर्मस्था क्रिया ॥३५॥
 कर्तृस्था प्रमाणम् ॥३६॥
 तस्यां सत्यामर्थप्रकाशसिद्धेः ॥३७॥
 अज्ञाननिवृत्तिर्वा ॥३८॥
 अवग्रहादीनां वा ऋगोपजनधमणीं पूर्व
 पूर्वं प्रमाणमुत्तरमत्तरं फलम् ॥३९॥
 हानादिबुद्धयो वा ॥३०॥
 प्रमाणाद्विनाभिलम् ॥४१॥
 स्वपराभासी परिणाम्यात्मा प्रमाता ॥४२॥
 उहः ॥४॥
 व्याप्तिवर्यपकस्य व्याप्ये सति भाव एव
 व्याप्यस्य वा तत्रैव भावः ॥५॥
 साधनात्साध्यविज्ञानम् अनुमानम् ॥६॥
 तत् द्विधा स्वार्थं परार्थं च ॥७॥
 स्वार्थं स्वनिविच्छत्साध्यादिनाभावेकल-
 क्षणात् साधनात् साध्यज्ञानम् ॥८॥

१७२ प्रमाणमीमांसायाः सूत्रपाठः ।
 सहकर्मभाविनोः सहकर्मभावनियमोऽविना- धर्मी प्रमाणसिद्धः ॥१६॥
 भावः ॥१०॥ बुद्धिसिद्धोऽपि ॥१७॥
 ऊहात् तस्मिश्चयः ॥११॥ न हृष्टान्तोऽनुभानाङ्गम् ॥१८॥
 स्वभावः कारणं कार्यमेकार्थसमवायि दि- साधनमात्रात् तस्मिद्देः ॥१९॥
 रोधि चेति एडच्छापा साधनम् ॥१२॥ स व्याप्तिदर्शनभूमिः ॥२०॥
 सिष्ठाध्यविष्टमसिद्धमवाध्यं साध्यं पक्षः १३ स साधस्यवैधस्यभ्यां द्वेष्ठा ॥२१॥
 प्रत्यक्षानुभानागमलोकस्ववचनप्रतीतयो साधनस्यवैधस्यभ्योगी साधस्य-
 बाधाः ॥१४॥ हृष्टान्तः ॥२२॥
 साध्यं साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी, वैधस्य
 धर्मः ॥१५॥ योगी वैधस्यहृष्टान्तः ॥२३॥
 इत्याचार्यभीहेमचन्द्रविरचितायाः प्रमाणमीमांसायाः प्रयमस्याद्यायस्य हितीष्माहितकम् ।
 यथोक्तसाधनाभिधानजः परायम् ॥१॥ विषरीतनियमोऽन्यथैवपयद्यमानो विरुद्धः
 बचनमुपचारात् ॥२॥ ॥२०॥
 तद् द्वेष्ठा ॥३॥ नियमस्यासिद्धी सन्देहे वाऽत्यथाद्युपच्छ-
 लथोपपत्यन्यथानुपपत्तिभेदात् ॥४॥ मानोऽनेकान्तिकः ॥२१॥
 मानयोस्तात्पर्यं भैदः ॥५॥ साधस्यवैधस्यभ्यामष्टावष्टौ हृष्टान्ता-
 अत एव नोभयोः प्रयोगः ॥६॥ भासाः ॥२२॥
 विषयोपदर्शनार्थं तु प्रतिज्ञा ॥७॥ अमूर्तत्वेन नित्ये शब्दे साध्ये कर्मपरमाण-
 यम्यमानत्वेऽपि साध्यधर्माधारसन्देहा- घटाः साध्यसाधनोभयविकलाः ॥२३॥
 एवोदाय धर्मिणि पक्षधर्मोपसंहारवत् वैधस्येन परमाणुकमकाशाः साध्याद्य-
 तवुपपत्तिः ॥८॥ व्यतिरेकिणः ॥२४॥
 एतावान् प्रेक्षप्रयोगः ॥९॥ बचनाद्वागे रागान्मरणधर्मकिञ्चिज्ज्ञा-
 बोद्यानुरोद्यात् प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपन- त्वयोः सन्दिव्यसाध्याद्यान्वयव्यतिरेका-
 यनिगमनानि पञ्चापि ॥१०॥ रथ्यापुरुषादयः ॥२५॥
 साध्यानिवेशः प्रतिज्ञा ॥११॥ विषरीतन्वयव्यतिरेकी ॥२६॥
 साधनत्वाभिव्यञ्जकविभवत्यन्ते साधन- अप्रदर्शितान्वयव्यतिरेकी ॥२७॥
 बचने हेतुः ॥१२॥ साधनवौषोद्धावनं दूषणम् ॥२८॥
 हृष्टान्तवचनमुदाहरणम् ॥१३॥ अभूतदोषोद्धावनाति दूषणाभासा जात्य-
 धर्मिणि साधनस्योपसंहार उपनयः ॥१४॥ तराणि ॥२९॥
 साध्यस्य निगमनम् ॥१५॥ तत्त्वसंरक्षणार्थं प्राविनकाविसम्भवं साधन-
 असिद्धिविरुद्धानेकान्तिकास्त्रयो हेत्वा- दूषणवदनं वादः ॥३०॥
 भासाः ॥१६॥ स्वपक्षस्य सिद्धिर्जयः ॥३१॥
 नासन्ननिश्चितस्त्वो वाऽत्यथानुपपत्ति असिद्धिः पराजयः ॥३२॥
 सत्त्वस्यासिद्धी सन्देहे वाऽसिद्धः ॥१७॥ स निष्ठो वादिप्रतिवादिनोः ॥३३॥
 वादिप्रतिवाद्युभयभेदाच्चेतद्द्वेदः ॥१८॥ न विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्सिमान्तम् ॥३४॥
 विषेष्यासिद्धादीनामेत्येवान्तभूमिः ॥१९॥ नाऽत्यसाधनाङ्गवचनमदोषोद्धावने ॥३५॥
 इत्याचार्यभीहेमचन्द्रविरचितायाः प्रमाणमीमांसायाः हितीष्माद्यायस्य किञ्चित् सूक्ताणि ।

सूत्रपाठः ।
 धर्मी प्रमाणसिद्धः ॥१६॥
 बुद्धिसिद्धोऽपि ॥१७॥
 न हृष्टान्तोऽनुभानाङ्गम् ॥१८॥
 साधनमात्रात् तस्मिद्देः ॥१९॥
 स व्याप्तिदर्शनभूमिः ॥२०॥
 स साधस्यवैधस्यभ्यां द्वेष्ठा ॥२१॥
 साधनस्यवैधस्यभ्योगी साधस्य-
 हृष्टान्तः ॥२२॥
 साधस्यधर्मनिवृत्तिप्रयुक्तसाधनधर्मनिवृत्ति-
 योगी वैधस्यहृष्टान्तः ॥२३॥
 विषरीतनियमोऽन्यथैवपयद्यमानो विरुद्धः
 ॥२०॥
 नियमस्यासिद्धी सन्देहे वाऽत्यथाद्युपच्छ-
 मानोऽनेकान्तिकः ॥२१॥
 साधस्यवैधस्यभ्यामष्टावष्टौ हृष्टान्ता-
 भासाः ॥२२॥
 अमूर्तत्वेन नित्ये शब्दे साध्ये कर्मपरमाण-
 घटाः साध्यसाधनोभयविकलाः ॥२३॥
 वैधस्येन परमाणुकमकाशाः साध्याद्य-
 व्यतिरेकिणः ॥२४॥
 बचनाद्वागे रागान्मरणधर्मकिञ्चिज्ज्ञा-
 त्वयोः सन्दिव्यसाध्याद्यान्वयव्यतिरेका-
 रथ्यापुरुषादयः ॥२५॥
 विषरीतन्वयव्यतिरेकी ॥२६॥
 अप्रदर्शितान्वयव्यतिरेकी ॥२७॥
 साधनवौषोद्धावनं दूषणम् ॥२८॥
 अभूतदोषोद्धावनाति दूषणाभासा जात्य-
 तराणि ॥२९॥
 तत्त्वसंरक्षणार्थं प्राविनकाविसम्भवं साधन-
 दूषणवदनं वादः ॥३०॥
 स्वपक्षस्य सिद्धिर्जयः ॥३१॥
 असिद्धिः पराजयः ॥३२॥
 स निष्ठो वादिप्रतिवादिनोः ॥३३॥
 न विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्सिमान्तम् ॥३४॥
 नाऽत्यसाधनाङ्गवचनमदोषोद्धावने ॥३५॥
 नासन्ननिश्चितस्त्वो वाऽत्यथानुपपत्ति इति
 सत्त्वस्यासिद्धी सन्देहे वाऽसिद्धः ॥१७॥
 वादिप्रतिवाद्युभयभेदाच्चेतद्द्वेदः ॥१८॥
 विषेष्यासिद्धादीनामेत्येवान्तभूमिः ॥१९॥
 इत्याचार्यभीहेमचन्द्रविरचितायाः प्रमाणमीमांसायाः हितीष्माद्यायस्य किञ्चित् सूक्ताणि ।